हृदय मंथन

(भाग दो)

शिवोम् तीर्थ

हृदय मंथन

भाग - २

हृदय मंथन

भाग - २

स्वामी शिवोम् तीर्थ

देवात्म शक्ति सोसायटी (आश्रम)
१२-१६, नवाली गाँव, पोस्ट दहिसर (व्हाया मुम्ब्रा)
जिला ठाणे - ४०० ६१२ (महाराष्ट्र)

♦ हृदय मंथन भाग - २
स्वामी शिवोम् तीर्थ

♦ प्रथम संस्करण
अक्षय तृतीया, सन् २०००

♦ द्वितीय संस्करण
महाशिवरात्री, सन २००७

♦ तृतीय संस्करण, २००० प्रतियां, अक्टूबर २०२०

मूल्य : १५० रु. मात्र

♦ टाइप सेटिंग
स्टार कम्प्यूटर एण्ड ग्राफिक्स
३०, खजूरी बाजार, इन्दौर

♦ कव्हर पेज फोटो : श्री हेमशंकर पाठक

♦ प्रकाशक
देवात्म शक्ति सोसायटी (आश्रम)
९२-९६, नवाली गाँव, पोस्ट दहिसर (व्हाया मुम्ब्रा)
जिला ठाणे (महाराष्ट्र)

♦ मुद्रक
सन्मान अँण्ड कंपनी,
११३, शिवशक्ति इंडस्ट्रियल इस्टेट,
अंधेरी-कुर्ला रोड, मरोळ नाका,
अंधेरी - ४०० ०५९.
फोन : २८५०११३७

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

हृदय मंथन भाग-२ का द्वितीय संस्करण आज १६ फरवरी, २००७ को महाशिवरात्रि के पर्व पर आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यंत प्रसन्नता हो रही है। परम पूज्य स्वामी शिवोम तीर्थ जी महाराज द्वारा लिखी गई इस पुस्तक का प्रथम संस्करण सन २००० में देवात्म शक्ति सोसायटी, मुंबई द्वारा अक्षय तृतीया के पावन अवसर पर प्रकाशित किया गया था।

परम पूज्य स्वामी शिवोम तीर्थ जी महाराज की हृदय मंथन भाग १, भाग २ तथा भाग ३ की श्रृंखला, पाठक एवं साधक वर्ग के लिए प्रकाश पुंज साबित हुई है। जैसा कि लेखक ने स्वयं इस पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि-इस श्रृंखला को उनकी आत्मकथा के रूप में ग्रहण नहीं किया जाए अपितु इसे स्वामी विष्णु तीर्थ जी महाराज के उपदेशों को साधकों तक पहुँचाने के विन्रम प्रयास के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। यह ज्ञान का ऐसा अमृत सागर है, जिसमें पाठक जितनी भी डुबकी लगाएँगे उतना ही उनके अज्ञान का आवरण हटता चला जाएगा। यहाँ हम लेखक का यह उद्धरण देने के लोभ से स्वयं को रोक नहीं पा रहे हैं कि 'हृदय मंथन एक ऐसा विषय है जिससे लोग प्रायः बचना चाहते हैं। मनुष्य यदि सब से अधिक किसी से भयभीत होता है तो अपने दोषों से' वस्तुतः व्यक्ति का मिथ्या अभिमान ही उसे अयथार्थ सम्मोह की अवस्था में आरोपित कर देता है जिसके तंतु-विन्यास से वह स्वयं को मुक्त कराने में कष्ट का अनुभव करता है और इसलिए उसी में उलझे रहने को अपना सुख समझता है। इसी सम्मोहावस्था से मुक्त कराने में साधकों के लिए यह पुस्तक अत्यंत सहायक सिद्ध हुई है।

आशा है कि सभी अध्यात्म-प्रेमी साधक व सुधी पाठक, परम पूज्य स्वामी शिवोम तीर्थ जी महाराज के अनुभवों तथा उनके सद्‌गुरू स्वामी विष्णु तीर्थ महाराज द्वारा उन्हें दिये गए उपदेशों से अनुग्रहीत होंगे। इसी में इस ग्रंथ की प्रस्तुति की सफलता निहित है।

१६.२.२००७

(टी. कालीदास)

अध्यक्ष

भूमिका

महाराजश्री का स्मरण एक महकती फुलवाड़ी के समान है, जिसमें सुगंध है, आनन्द है तथा शीतलता है । इसमें पड़े हर ओस कण पर प्रकाश की चमक है । इसका हर फूल, डाली तथा पत्ता, चेतना की क्रियाशीलता का प्रमाण है । इसमें साधन की मस्ती, हृदय की कोमलता, भावों की तरंगें तथा अन्तर्गगन में ज्ञानानुभव की उड़ानें हैं । आपकी वर्णन शैली में एक अलौकिक विलक्षणता थी, जिसमें भाषा का सौंदर्य, अनुभव का आधार, पूर्वापर की संगति, शास्त्रीय उद्धरणों से अनुमोदित तथा सुनने में सरल-सरस थी । आपका एक-एक शब्द हृदय में सीधी मार करता था । आपकी युक्तियाँ साधक के स्तर के अनुकूल होती थीं । केवल पाण्डित्य प्रदर्शन ही आप की वाणी का लक्ष्य नहीं था ।

आपका हृदय इतना उदार था कि सभी जातियों, सम्प्रदायों तथा साधनाओं के अनुयायी उसमें समा जाते थे । आपको कोई भी मार्ग, सिद्धान्त या उपासना-पद्धति, ईश्वर के विपरीत दिशा में जाती दिखाई नहीं देती थी । सारा जगत ईश्वर की संतान है । अपने परमपिता को प्राप्त करने के लिए साधक कोई भी मार्ग अपना सकता है । सभी में उसी की तड़प है, वही एक ही, सब का लक्ष्य है । साधक की भावना, श्रद्धा तथा मान्यता भिन्न-भिन्न हो सकती हैं । भिन्नता ही तो जगत है । जिस दिन सब एक मत हो जाएँगे, जगत भी नहीं रहेगा ।

आपके मतानुसार, शक्ति की जागृति एक ऐसी नदी के समान है, जिसको पार किए बिना, अध्यात्म-पथ में आगे बढ़ पाना संभव नहीं । नाम-भेद हो सकता है, पर किसी न किसी रूप में सभी ने इसको स्वीकार किया है । इसमें सम्प्रदाय, देश, मार्ग या सिद्धान्त आड़े नहीं आता । अध्यात्म, सम्प्रदायों से बहुत ऊँचा है । कोई सम्प्रदायवादी ईश्वर के इतना समीप नहीं, जितना कि अध्यात्मवादी । अध्यात्म में सभी सम्प्रदायों का विलीनीकरण हो जाता है ।

हृदय मंथन भाग एक का पाठकों-साधकों ने सोत्साह तथा भावपूर्ण स्वागत किया कि चार-पाँच महीने के पश्चात् ही दूसरा संस्करण छपवाना पड़ा । बीच-बीच में कुछ ऐसे स्वर भी उभरे कि लेखक को अपने बारे में कुछ अधिक जानकारी देना चाहिए थी । किसी ने यह भी कहा कि अन्य साधकों की मानसिक दशा का भी कुछ वर्णन करना चाहिए था । इस बारे में मुझे यही कहना है कि पुस्तक कोई मेरी आत्मकथा नहीं थी । महाराजश्री के व्यक्तित्व तथा उनके द्वारा दिये गये उपदेशों को उजागर करने का प्रयास तथा उन्हें संकलित-प्रकाशित करना ही उद्देश्य था । न ही अन्य साधकों की मनःस्थिति ही व्यक्तिगत रूप में देखना मेरा

काम था । हाँ ! साधक-समाज की सामूहिक मनोदशा पर अवश्य यत्र-तत्र विचार व्यक्त किए गए हैं । यदि किसी व्यक्ति का उल्लेख आ भी गया है, तो उसका नाम नहीं दिया गया । महाराजश्री के उपदेशों का साधकों के मन पर क्या प्रभाव पड़ता था, उसके लिए, सभी साधकों के प्रतिनिधि के रूप में मैंने अपने आपको प्रस्तुत किया है । एक तो किसी दूसरे साधक की आन्तरिक अवस्था तथा अन्तर्द्वन्द्व को समझ पाना वैसे भी कठिन है, फिर यदि कभी अन्य साधकों को भी इस रूप में लिया जाता तो संभव है कि कोई बात किसी को बुरी लग जाती । ऐसी अवस्था में अनावश्यक समस्याएँ खड़ी हो सकती थीं । महापुरुषों की वाणियों की गहराई में उतर पाना सामान्य मनुष्य के बस की बात नहीं । यद्यपि अभिमानवश प्रत्येक व्यक्ति यही समझता है कि उसने सब समझ लिया है ।

पुस्तक में वर्णित विचार तथा भाव पूर्णतया महाराजश्री के ही हैं । मैं तो केवल एक सन्देश-वाहक की ही भाँति हूँ । मैंने प्रयत्न किया है कि मैं संदेश-वाहक ही बना रहूँ तथा उपदेशों में अपनी ओर से कुछ भी न जोड़ूँ, सिवाय उन स्थलों के जहाँ थोड़ा प्रकृति-वर्णन किया है या मेरा हृदय मंथन है । मेरे साथ मेरी लेखन-शैली ने भी सन्देश-वाहक का उत्तरदायित्व ही निभाया है । केवल महाराजश्री के भावों, विचारों को पाठकों तक पहुँचाने का ही कार्य किया है ।

भाग एक की ही भाँति, भाग दो में भी केवल दो ही पात्र हैं । महाराजश्री तथा मैं । अन्य यदि किसी का नाम आया भी है, तो केवल उसी का जो वर्तमान में, हमारे बीच विद्यमान नहीं है । इसमें स्वामी नारायण तीर्थजी महाराज ही एक अपवाद हैं, जिनका उल्लेख न करना उचित नहीं था । मैं समझता हूँ कि पाठकगण मेरे भाव को भली-भाँति समझकर उसका आदर करेंगे ।

महाराजश्री का अदृश्य महापुरुषों से कितना संपर्क था, इसको बहुत कम लोग जानते हैं, क्योंकि आप इस विषय में किसी से बात ही नहीं करते थे । केवल आगाशा के बारे में कुछ लोगों को कुछ जानकारी थी । यदि महाराजश्री मेरे से भी इस विषय में बात नहीं करते, तो मुझे भी कुछ पता नहीं लग पाता । महाराजश्री ने मुझे कहा था, "मेरे जीवनकाल में इस संबंध में किसी से कोई चर्चा मत करना ।" मैंने महाराजश्री के आदेश का पूरा पालन किया, यहाँ तक कि महाराजश्री के जीवनकाल में ही नहीं, अपितु अपने जीवनकाल में भी इस बारे में किसी से कोई बात नहीं की । अब जबकि मेरे जीवन का संध्याकाल सामने दिखाई दे रहा है, तो महाराजश्री के सदुपदेशों का संकलन करने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है । महाराजश्री के जीवन पर से यह आवरण उतार देने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सका ।

महाराजश्री ने अपने श्रीमुख से कभी भी अपनी सिद्धियों का बखान नहीं किया । यद्यपि किसी आध्यात्मिक महापुरुष की ऊँचाई का माप सिद्धियाँ हैं भी नहीं, तथापि कई

लोग उनके बारे में, कई प्रकार के चमत्कारों की बात करते हैं, जैसे कि जब वह ऋषिकेश में रहा करते थे तथा उस समय श्री योगानन्द विज्ञानी जी महाराज स्वर्गाश्रम में रहते थे, उस समय शक्ति के आवेश में आपने जल पर चलते हुए गंगाजी को पार किया था । जब मैंने महाराजश्री से इस विषय में चर्चा करना चाही, तो वे केवल मुस्करा कर ही रह गए । इसलिए इस बात की सत्यता-असत्यता के बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता । यदि गुरु महाराज के पास सिद्धियाँ थीं भी, तो आपने उनको कभी प्रकट नहीं किया ।

न ही महाराजश्री ने, अपने साधन में होने वाले अनुभवों का कभी प्रचार किया । जब आपको किसी को साधन के बारे में कोई बात समझाना होती थी, तो आप सदैव शास्त्र का आधार लेकर ही ऐसा करते थे । उनकी पुस्तकों में भी निज के साधन के विषय में कहीं कोई उल्लेख नहीं । आपका कहना था कि साधन के अनुभव प्रचार का विषय है ही नहीं । ऐसा करने से मन में अभिमान पैदा हो सकता है, जो कि साधन में उन्नति के लिए बाधक है । मैंने महाराजश्री पर साधना डायरी नामक पुस्तक लिखी है, उसका आधार आपके द्वारा लिखित डायरी है, जो किसी प्रकार सुरक्षित रह गई । यह डायरी, वैसे तो कई वर्षों से मेरी जानकारी में थी, किन्तु पुस्तक उनके ब्रह्मलीन हो जाने के पश्चात् ही लिखी ।

अन्तर में ज्ञान तथा अनुभव का इतना विशाल भण्डार समेटे हुए भी, ऐसा गंभीर व्यक्तित्व मेरे देखने में नहीं आया । बच्चों की तरह सरल, भक्तों की तरह भावुक, योगियों की तरह संयमी, ज्ञानियों की तरह समदृष्टि । हर समय सरलता अपनाए हुए, हर समय भाव में डूबे हुए, हर समय संयमरूपी लगाम कसे हुए तथा हर समय समदृष्टि धारण किए हुए । किसी ने महाराजश्री के बारे में विचार व्यक्त किया था कि उन्हें इस बात का कोई अभिमान ही नहीं है कि वह इतने बड़े महात्मा हैं । सच ही है, वह महापुरुष ही क्या हुआ जिसको अभिमान हो ।

प्रातः भ्रमण महाराजश्री का नित्य का नियम था । कैसा भी मौसम हो, कैसी भी व्यस्तता हो, देवास में हों या अन्य किसी नगर में, पाँच बजे प्रातः घूमते हुए मिलते थे । प्रातःकाल उठने पर तथा दोपहर में थोड़ा आराम करने के पश्चात्, जल ग्रहण करना, उनके नियम में सम्मिलित था । खाते समय यदि कोई दूसरा बैठा हो, तो उसे भी खाने के लिए देना कभी नहीं भूलते थे । आपका कहना था कि भोजन कितना भी सत्त्वगुणी क्यों न हो, यदि जनसमूह में अकेले खाया जाये तो तमोगुणी हो जाता है ।

वैसे तो महाराजश्री का प्रेम का भाव हो, या समझाने का भाव, सब में एक विचित्र प्रकार की आनन्दानुभूति होती थी, किन्तु मुझे सबसे अच्छा तब लगता था, जब वह डाँटते थे, क्योंकि उस समय अपनत्व, स्नेह तथा कल्याण की भावना, सबसे अधिक निखार पर होती थी । उनका क्रोध शिष्यों के लिए प्रसाद-स्वरूप होता था । किन्तु कठिनाई यह थी कि आप

डाँटते ही बहुत कम थे। वह कहा करते थे कि मैं क्रोधित होकर कभी किसी को नहीं, डाटता। जब अन्तर में प्रेम अत्यधिक होता है, तभी किसी को मेरी डाँट सुनने को मिलती है।

एक दिन पुस्तकालय में, पुस्तकें उलटे-पलटते मेरे हाथ में प्रत्यभिज्ञाहृदयम् नाम की एक पुस्तक आ गई जिसके लेखक प्रसिद्ध तंत्राचार्य अभिनव गुप्त थे, पढ़ा तो कुछ भी पल्ले न पड़ा। मैंने पूछा कि यह प्रत्यभिज्ञाहृदयम् क्या है ?

महाराजश्री का समझाने का अपना अनूठा ढंग था। वह संक्षेप में ही ऐसी पते की बात कह जाते थे कि श्रोता के हृदय में उतर जाती थी। बोले, "देखो, आप किसी को मिले, किन्तु भूल गए, यह अज्ञान। दीर्घकाल के पश्चात् वही व्यक्ति कहीं आपको दिखाई दे गया। आपने उसे पहचाना तो नहीं, किन्तु इतना आपने अवश्य समझ लिया कि इसको कहीं देखा है पर याद नहीं आ रहा कि कौन है, यह हुआ ज्ञान। फिर आपने याद करने का प्रयत्न किया, लोगों से उसके बारे में पूछताछ करने लगे, यह हुआ, अभिज्ञान। फिर आपको याद आ गया या किसी ने याद करवा दिया तथा आप उसे पहचान गए, यह हुआ प्रत्यभिज्ञान।

"आध्यात्मिक स्तर पर इसे इस तरह लागू किया जाएगा। कोई समय था जब जीव को आत्मा प्रत्यक्ष था, किन्तु अब वह उसे भूल चुका है, यह उसका अज्ञान है। जब वह शास्त्र पढ़ता है या सत्संग सुनता है तो उसे परमात्मा की कुछ कल्पना तो हो जाती है पर वह उसे प्रत्यक्ष जान नहीं पाता, यही ज्ञान है। फिर वह इसको अनुभव में उतारने के लिए साधनाएँ करता है, गुरुओं की खोज करता है, यही अभिज्ञान है। जब परमात्मा या आत्मा का प्रत्यक्षीकरण कर लेता है, उसे पहचान जाता है, यही प्रत्यभिज्ञान है। जिस शास्त्र में इस विषय पर प्रकाश डाला गया है वही प्रत्यभिज्ञाहृदयम् है।"

इस प्रकार महाराजश्री की समझाने की शैली बड़ी सरल तथा हृदयग्राही थी। बात एकदम अन्दर उतर जाती थी। महाराजश्री का कहना था कि समझाने वाले को, पहले अपने आपको समझने वाले के स्तर पर उतार लेना चाहिए तथा तब समझाना चाहिए। यदि पुस्तक पढ़कर ही सब समझ जाते तो इतने स्कूल-कॉलेजों तथा गुरुओं की क्या आवश्यकता थी। यदि व्याख्याकार, अपना पाण्डित्य ही बघारता रहे तथा श्रोता की समझ में कुछ भी न पड़े, तो ऐसा पाण्डित्य भी किस काम का ?

फिर महाराजश्री ने पुस्तक पर एक संक्षिप्त व्याख्या लिख दी।

दूसरों के बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता कि किसने, कैसा प्रभाव ग्रहण किया, किन्तु महाराजश्री का प्रत्येक शब्द तथा किया गया प्रत्येक व्यवहार, मुझे अपने अन्तर में झाँकने पर विवश कर देता था। ऐसे अनेक दोष तथा अवगुण, जो मेरे अन्दर भरपूर थे तथा जिनकी ओर से मैं अब तक उदासीन बना रहा था, अब मेरी दृष्टि में आने लगे थे। अपना सही-सही व्यक्तित्व समक्ष प्रकट होता जा रहा था. उन दोषों को देखकर प्रायः मेरी आत्मा काँप उठती

थी । मैं मायाकूप में इतने गहरे उतर गया था, किन्तु मुझे उसका कुछ होश ही नहीं था । महाराजश्री ने मेरा मुँह अन्दर की ओर घुमा दिया था ।

सारा जगत ही पाप युक्त कुत्सित विचारों तथा भावों से ग्रस्त है किन्तु जीव का अभिमान, चित्त की यथार्थ स्थिति की ओर देखने नहीं देता, फिर उन्हें मानने तथा जन-समाज में व्यक्त करने के साहस का प्रश्न कहाँ उठता है ? यदि कोई ऐसा साहस दिखाता भी है तो जगत उसे भी अभिमान के तराजू में ही तौलता है । किन्तु जिसका लक्ष्य अन्दर की ओर मुड़ जाता है उसे फिर जगत की परवाह भी कहाँ होती है ? कुछ भी करो या न करो तथा कैसे भी करो, दुनिया हर स्थिति में उँगली उठाएगी ही, क्योंकि उँगली उठाना ही उसका काम है । दुनिया का यह ढंग देखकर साधक अपना मार्ग नहीं छोड़ देते । अच्छा या बुरा, दिखाई देने का प्रयत्न, मिथ्या अभिमान है । इसी से महाराजश्री, साधकों को सावधान करते थे । वह कहते थे कि जगत में हर कोई अच्छा दिखना चाहता है, अच्छा बनना नहीं चाहता । मनुष्य की कठिनाई यह है कि उसे अन्तर में सब अंधकार ही अंधकार दिखते हुए भी उससे बाहर नहीं निकला जा रहा । एक अंधकार, दूसरे आँखों पर पट्टी बँधी हुई, न रास्ता टटोलने के लिए हाथ में कोई लाठी, फिर माया का नशा भी चढ़ा हुआ, जिससे लड़खड़ाता चलता है, गिरता-पड़ता । गुरु महाराज ही एक सहारा हैं । वही अंधकार को हटा रहे हैं, आँखों से पट्टी खोल रहे हैं तथा हाथ में लाठी थमा रहे हैं । वही माया से सचेत भी कर रहे हैं ।

किसको मन ने परेशान नहीं किया ? तुलसी, सूर, तुका सभी ने मन को कसकर कोसा है, भगवान के सामने मन का रोना रोया है तथा भक्तों-साधकों को मन की मक्कारियों से सावधान किया है । नानक ने जब कहा कि 'मैं नीचन का नीच' तो उनमें कोई बड़ा लेखक, वक्ता, समाज-सुधारक या भक्त के रूप में स्थान बनाने की जिज्ञासा नहीं थी । न ही यह चिन्ता थी कि जगत उसे किस रूप में देखेगा । जगत को आकर्षित करने का प्रयत्न कोई व्यावसायिक ही कर सकता है, न कि कोई भक्त या साधक ।

लेखन जिसकी साधना नहीं, केवल साधना का सहायक अंग है, वह लेखक के रूप में जगत के पीछे पहचान बनाने के लिए नहीं भागता । उसका लेखन, जगत के मनोरंजन के लिए नहीं अपना मन समझाने के लिए होता है । उसके लेखन में हृदय की चीत्कार होती है, प्रभु का विरह तथा जगत की असारता का भान होता है । हमारे प्राचीन ऋषिगण, पहले आध्यात्मिक महापुरुष थे तत्पश्चात लेखक थे । वह आन्तरिक सुख के लिए लिखते थे । इसी दृष्टिकोण से कुछ संगीत का सहारा लेते थे, किन्तु उनकी पहचान गायक के रूप में नहीं, भक्त अथवा योगी के रूप में होती थी । यही हाल अन्य सभी ललित कलाओं का था । इसीलिए उन कलाओं में भी निखार आ जाता था, क्योंकि वह हृदय से प्रस्फुटित होती थीं । कवित्व हो अथवा गद्य लेखन, जब तक इनमें साधन तथा अध्यात्म की बहुलता बनी रहती

है, तभी तक लेखक के श्रेय का कारण बनती है तथा पाठक अथवा श्रोता के हृदय को भी छू पाती है ।

मैंने कहा कि प्राणी मात्र ही माया के आकर्षणों में लिप्त है । अभिमान ही जीव को अन्तर में झाँक कर देखने से रोकता है, अन्यथा वस्त्रों के अन्दर सभी निर्वस्त्र हैं । कोई किसी को कुछ कहने की स्थिति में ही नहीं है । यदि कोई कुछ कहता है तो यह उसका अभिमान ही है ।

महाराजश्री के उपदेशों का सार इसी मर्म को समझ लेने में है । इसी समझ के न होने से मनुष्य अध्यात्म-पथ पर आरूढ़ होने के पश्चात् भी भटकता रहता है तथा सूर्य के प्रकाशित होने के उपरान्त भी, आँखों पर बँधी पट्टी नहीं खोल पाता । यदि किसी कला-विशेष में उसकी रुचि होती है, तो उसके कला-पक्ष में ही खोकर रह जाता है । हृदय-ग्रन्थि खोलने का कला माध्यम है । हृदय की खिड़की खुल जाने पर अन्दर से कला प्रकट होने लगती है । भाषा-ज्ञान प्रथमतः बुद्धि से ही होता है । पठन-पाठन के साथ-साथ हृदय पर भी चोटें पड़ती रहना चाहिए । जब हृदय के भाव, स्वभावतः प्रकट होने लग जाएँ तो समझो कि हृदय ग्रन्थि खुलना आरंभ हो गई है । तब लेखक यह विचार नहीं करता कि जगत उससे क्या अपेक्षा करता है । वह वही लिखता है जो वह जगत को देना चाहता है । जिसे पसन्द आए वह अपना ले, जिसे पसन्द नहीं आए, छोड़दे ।

जैसा कि मैंने हृदय मंथन भाग एक की भूमिका में लिखा था कि यह पुस्तक दूसरों के लिए कम तथा अपने लिए अधिक लिखी है । वैसे तो महाराजश्री के उपदेश सभी साधकों के लिए, एक समान उपयोगी हैं, पर यह इस बात पर आधारित है कि कौन कहाँ तक इन उपदेशों के प्रकाश में अपना हृदय मंथन करता है, किन्तु मुझे तो अपने मन का पता है । जैसे-जैसे यह उपदेश अन्तर में उतरते गए, मन अंधकार में से निकलने तथा प्रकाश में प्रवेश के लिए छटपटाने लगा । अपने चित्त की वास्तविक अवस्था प्रकट होती गई ।

इस समय मेरी आँखों की समस्या अधिक विकट है । पता नहीं तीसरा भाग लिख भी पाऊँगा कि नहीं । इसलिए मैंने दूसरा भाग लिखने में शीघ्रता की है, ताकि आँखें अधिक खराब होने से पहले कम से कम दूसरा भाग तो पूरा हो जाए । वैसे भी शरीर का क्या भरोसा ? कब तक साथ दे ? इस बात का पछतावा अवश्य रहेगा कि मनुष्य जन्म पाकर भी तथा महाराजश्री जैसे गुरु प्राप्त करके भी, जितना लाभ कमा सकता था, कमाना चाहिए था, नहीं कमा पाया । सुनते हैं कि गुरु पारस के समान होते हैं, जिनके स्पर्श मात्र से लोहा भी सोना हो जाता है, किन्तु मैं तो लोहा का लोहा ही रह गया ।

किसी ने पूछा कि आप महाराजश्री की प्रशंसा तथा गुणगान तो बहुत करते हैं, किन्तु क्या कभी महाराजश्री में कोई अवगुण देखने का प्रयत्न भी किया है ? तो ऐसा नहीं है कि

कभी अवगुण देखने का प्रयत्न किया ही न हो, परन्तु जब भी ऐसा प्रयत्न किया, तो महाराजश्री के सद्‌गुण ही मेरे समक्ष आकर खड़े हो गए तथा मैं उनमें ही खोकर रह गया। इसलिए मैं यह कभी जान ही नहीं पाया कि महाराजश्री में कोई अवगुण है कि नहीं ?

महाराजश्री का स्मरण तो आता ही रहता है, किन्तु पुस्तक लिखते समय तो उनकी उपस्थिति की सतत् अनुभूति बनी रही। वही मुद्रा, वही मुस्कान, वही प्रेम-भाव। अब वह शरीर की सीमाओं से मुक्त होकर, समष्टि-चैतन्य का अंग बन चुके हैं। कम से कम हमारी तो ऐसी ही मान्यता है। अतः पहले से भी कहीं अधिक शक्तिशाली तथा प्रभावी हो गए हैं, जिससे पूर्व की अपेक्षा कहीं अधिक सामर्थ्यवान हैं। उनकी कृपा से कभी न कभी कष्टों का निवारण होगा ही ऐसा मन में विश्वास है।

इस पुस्तक की सहायता से यदि एक भी साधक ने सही मार्ग अपना लिया तो मैं अपना परिश्रम सार्थक समझूँगा। पाठकों की शुभकामनाओं से मेरी नैया भी, कभी न कभी पार हो ही जाएगी।

श्री गुरुशक्ति आप सब पर प्रसन्न हो, इस प्रार्थना के साथ–

इन्दौर (म.प्र.)
दि. १.१.२००० —स्वामी शिवोम् तीर्थ

हृदय-मंथन

उन्नीस जनवरी १९६१, प्रातःकाल लगभग आठ बजे का समय । अहमदाबाद में सायटिका की व्याधि से पीछा छुड़ा कर, मैं देवास रेलवे स्टेशन पर गाड़ी से उतरा । सामने निरावरण आकाश में सिर उठाये खड़ी, टेकड़ी दिखाई दी । प्रातःकाल की शीतकालीन ठण्डी धूप में, नारायण कुटी दूर से चमकती दिखाई दे रही थी । आश्रम पहुँचने पर, उसी दिन महाराजश्री ने मुझे ब्रह्मचर्य की दीक्षा प्रदान की । उस समय तक मैं केवल श्वेत वस्त्र ही धारण करता था किन्तु अब मैंने भगवा पहन लिया था, केवल कौपीन ही श्वेत रह गई थी, क्योंकि भगवा कौपीन का अधिकार केवल संन्यास के पश्चात् ही प्राप्त होता है । भगवा पहन तो लिया किन्तु अभी उसका अभ्यास नहीं था । खरीददारी करने बाजार जाता था तो कुछ शर्म सी अनुभव होती थी । जब लोग मुझे दृष्टि गड़ाकर देखते थे, तो या तो मैं आँखें नीची कर लेता था या मुँह घुमाकर दूसरी ओर देखने लगता था । आश्रम पर आने वालों में भी कभी-कभी कोई पूछ लेता कि तुमने भगवा कब से पहन लिया, तो मैं हँस कर रह जाता ।

एक ओर मन में शर्म का एहसास था तो दूसरी ओर अभिमान का अंकुर भी फूट निकला था । अब सामान्य लोगों से अपने-आपको कुछ अलग समझने लगा था । यह भिन्नता किस बात की है ? यह मुझे अभी समझ नहीं थी । इस भिन्नत्व का आधार अभी तक वस्त्रों के रंग तक ही सीमित था । कभी-कभी जब मैं बाजार जाता था तथा कोई व्यक्ति भगवा रंग देखकर मुझे प्रणाम करता था, तो मुझे सुखद अनुभूति होती थी । उस व्यक्ति को मैं बहुत अच्छा समझता था । तब मेरा अभिमान और भी बढ़ जाता था । धीरे-धीरे मेरे मन की ऐसी स्थिति हो गई कि सामने से किसी को आते देखकर यह आशा करने लगा कि संभव है कि वह मुझे प्रणाम करे । जब वह प्रणाम किए बिना ही निकल जाता तो मुझे बड़ी निराशा होती ।

आश्रम में भी अन्य लोगों की अपेक्षा, अपने में विशेषत्व की कुछ वृत्ति जाग्रत होने लगी थी । सेवक-भाव के स्थान पर, अधिकार-वृत्ति पनपने लगी थी । काम में तो कोई अन्तर नहीं आया था, किन्तु व्यवहार का ढंग थोड़ा बदलने लगा था । इस प्रकार ब्रह्मचर्य दीक्षा का, मुझ पर प्रथम प्रभाव विपरीत ही पड़ा था । वैसे इसका कारण ब्रह्मचर्य-दीक्षा नहीं, वरन् भगवा वस्त्र धारण करना था । एक दिन जब मैंने, आत्म-निरीक्षण किया तो अपने मन को गिरावट की ओर बढ़ते पाया । मुझमें अभिमान तथा दिखावा बढ़ रहा था । अन्यों से कुछ विशेषत्व की भावना आ रही थी । सम्मान की भी थोड़ी आशा करने लगा था । कभी कुछ बात हो जाती, तो पहले की अपेक्षा कुछ अधिक बुरा लगता था । मन की यह दशा देखकर, मैं घबरा गया । इससे तो ब्रह्मचर्य की दीक्षा के बिना ही अच्छा था । मन तो पहले ही

काफी दूषित है, ऊपर से अभिमान में यह वृद्धि, न जाने मुझे कहाँ ले जा पटकेगी । मैं विचलित हो उठा तथा महाराजश्री के समक्ष ही सारी स्थिति प्रस्तुत करने का निश्चय किया ।

प्रातः भ्रमण के समय, मैंने सारी स्थिति महाराजश्री के समक्ष रखी । अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन किया तथा अवनति का रोना रोया । महाराजश्री थोड़े गंभीर हुए, फिर कहने लगे, "ब्रह्मचर्य दीक्षा का भाव यह है कि अब तुम तपस्वी जीवन में प्रवेश कर रहे हो । तप का अर्थ तुम समझते ही हो— अपने आप को तपाना, वासनाओं-संस्कारों को जलाना, मन तथा अभिमान को मारना, शान्त-चित्त तथा सहनशीलतापूर्वक प्रारब्ध को भोग कर समाप्त करना, इंद्रियों को संयत करना तथा अपने जीव भाव को जला कर राख कर देना । प्रायः तपियों में तप का अभिमान आ जाता है जबकि तप, अभिमान को विलीन करने के लिए होता है, किन्तु तुमने तो अभी तप आरंभ भी नहीं किया, केवल तप करने की दीक्षा ही ली है । इतने से ही तुम में अभिमान बढ़ना शुरू हो गया है । इसका अर्थ यह है कि तुम में अभी विवेक की कमी है । विषय को अच्छी तरह समझने तथा पकड़ पाने के लिए, तुम्हें अभी परिश्रम करना पड़ेगा । विषय को समझ लेने के पश्चात् ही, उसके क्रियान्वयन का प्रश्न उपस्थित होता है ।

"तुम्हारी समस्या अविवेक के कारण तो है ही, किन्तु उसके साथ एक बात और भी है, तुम्हारे अभिमान का कारण भगवा वस्त्र भी है । जिसके महत्त्व तथा अर्थ को तुम समझ नहीं पाए । भगवा रंग अग्नि का प्रतीक है तथा अग्नि तप की पर्याय है । जिस प्रकार अग्नि में कुछ डालो, भस्म हो जाता है, उसी प्रकार तप रूपी अग्नि में वासनाएँ, स्मृतियाँ, विकार, संस्कार, प्रारब्ध सब कुछ स्वाहा हो जाता है । जिस साधक का तप करने से अभिमान बढ़ता है या क्रोध में वृद्धि होती है, उसके तप करने में कोई त्रुटि है । जो व्यक्ति भगवा पहनकर तपस्वी जीवन व्यतीत नहीं करता, वह तपस्वी का वेष बनाकर लोगों को ठगता फिरता है । उसके मन के विकार कभी भस्म नहीं होते, उसके चित्त रूपी हवन-कुण्ड में तप रूपी अग्नि प्रज्ज्वलित ही नहीं हुई, ऐसा समझना चाहिए ।

"भगवा रंग के संबंध में एक और बात समझने की है । गेरू एक विशेष रंग की मिट्टी होती है, जो अग्नि रूपी तप की ओर संकेत करने के अतिरिक्त इस बात का भी आभास देती है कि अन्ततः सब मिट्टी ही हो जाने वाला है । अतः ब्रह्मचारी तथा संन्यासी वस्त्रों के माध्यम से उसे जीवित ही धारण कर लेते हैं । यह इस बात की याद दिलाने के लिए है कि यदि अन्ततः मिट्टी में ही मिल जाना है तो फिर अभिमान किस बात का ? इस सारे विश्लेषण के पश्चात् अब तुम अपनी ओर ध्यान देकर देखो । जो गेरू तुम्हें तपस्या तथा मिट्टी में मिल जाने का संदेश देता है, उसे धारण करके तुमने अभिमान को उदय कर लिया है । इससे न केवल तुमने गेरू का अपमान किया है, वरन् अपनी अज्ञानता का भी परिचय दिया है ।"

यह सब सदुपदेश, एक बाण की भाँति मेरे हृदय का भेदन करता जा रहा था । मैं मन ही मन, जहाँ एक ओर लज्जित हो रहा था तथा अपने आपको धिक्कार रहा था, वहीं दूसरी ओर उचित मार्गदर्शन मिलने से उत्साहित भी था । ऐसे में अपने मन में उपजे अभिमान से युद्ध करने का निश्चय स्वाभाविक ही था । मैंने सड़क पर चलते हुए ही महाराजश्री का चरण-स्पर्श किया तथा निवेदन किया, "यह सचमुच ही मेरी भूल थी । ब्रह्मचर्य दीक्षा के संस्कार के पश्चात् मुझे तपस्या के मार्ग पर आगे बढ़ना चाहिए था, किन्तु मैं अज्ञानवश अभिमान की ओर मुड़ गया था । अब कृपया यह बताइए कि क्या ब्रह्मचर्य की दीक्षा के संस्कार हुए बिना, तपस्या के मार्ग पर चलने का अधिकार प्राप्त नहीं होता है ?"

महाराजश्री ने कहा, "संस्कार केवल बाह्य विधि-विधान सम्पन्न कर देने का ही नाम नहीं है । संस्कार का प्रभाव मन पर पड़ना चाहिए । यदि बाह्य ब्रह्मचर्य संस्कार अनिवार्य होता तो गृहस्थ तो तपस्या करने के अनधिकारी ही रह जाते । उन गृहस्थों का मानसिक संस्कार अवश्य होता है, जिससे वह शास्त्रानुकूल दाम्पत्य जीवन का निर्वाह करते हुए तपस्वी जीवन व्यतीत करते हैं । प्राचीन ऋषि प्रायः सभी गृहस्थ थे । सभी आश्रमों के अपने-अपने नियम तथा विधान हैं । यदि कोई उन पर चले तो तपस्वी जीवन व्यतीत कर सकता है" ।

इतने में हम आश्रम लौट आए थे, किन्तु मेरे अन्दर विचारों का प्रवाह निरन्तर चल रहा था । मैं आश्रम में एक सेवक की भाँति रह रहा था, मुझे सेवक ही बने रहना चाहिए था । सेवक में क्रोध, अभिमान या बड़प्पन की भावना नहीं होती । सेवक की कोई माँग नहीं होती । वह कोई अधिकार नहीं चाहता । उसका अधिकार केवल सेवा करना ही होता है, फिर मेरे अन्तरमें विशेषत्व का भाव क्यों उदय हो गया ? मैंने एक वर्ष पूर्व सेवा-धर्म के संबंध में जो निर्णय लिए थे, उनके विपरीत भाव मन में कैसे आ गया ? मेरा मन ग्लानि से भर गया । बार-बार यही विचार आता कि मैं सेवक धर्म निभा पाने में असमर्थ हूँ । अभिमान-क्रोध तथा सेवा-भाव एक साथ नहीं रह सकते । मेरा मन बार-बार गिर जाता तथा बार-बार मैं उसे संभालता था । अन्ततः मैंने यही निश्चय किया कि जब तक आश्रम में रहूँगा, मैं सेवक ही बना रहूँगा । न किसी विशेष अधिकार की आशा करुँगा तथा न ही किसी आदर की कामना करूँगा ।

(२) दोष-मुक्ति-उपाय

हृदय-मंथन एक ऐसा विषय है जिससे प्रायः लोग बचना चाहते हैं । मनुष्य यदि सब से अधिक किसी से भयभीत होता है तो अपने दोषों से । यदि कोई मन में झाँक कर देखता है, तो विकारों का विशाल जँगल देख कर काँप उठता है । इसीलिए लोग आत्म-निरीक्षण की ओर से उदासीन ही बने रहते हैं । मन में झाँकते समय अभिमान सामने खड़ा हो जाता है,

तथा साधक की वृंत्ति तत्काल बाहर लौट आती है, विकार वैसे ही बने रहते हैं, अपितु और भी अधिक बल पा जाते हैं । जगत में जीवत्व के बने रहने का मुख्य कारण आत्म-निरीक्षण न कर पाना ही है ।

मेरे अन्दर अनेक विकार थे, किन्तु गुरु-कृपा से आत्म-निरीक्षण करते रहने का स्वभाव भी बना था । जब मैं अपने मन को टटोलता, तो दोषों तथा अवगुणों की विशाल सेना को अन्तर में युद्ध के लिये तैयार पाता था । मैं पिछले कई वर्षों से, जैसे भी बन पड़ता था, इन दोषों को मन से निकालने का प्रयत्न भी करता था, किन्तु खेद है कि अभी तक विरोधी सेना के एक भी योद्धा को परास्त नहीं कर पाया था । रावण मरने का नाम ही नहीं ले रहा था । राम यदि उसका एक सिर काटते थे, तो दूसरा नया निकल आता था । यही हाल मेरे अन्तर में बैठे, विकारों-विषयों का रूप धरे रावण का था । कई बार ऐसा प्रतीत होता था कि अमुक विकार समाप्त हो गया है, किन्तु कुछ ही देर में वह फिर प्रकट हो जाता था । इसीलिए निराश होकर, अन्ततः श्री गुरुचरणों में उपस्थित हुआ था । श्री गुरु महिमा का बखान कई दिनों से ग्रन्थों में पढ़ता आ रहा था, पर कभी उसे गंभीरता से नहीं लिया था । अपने पुरुषार्थ पर ही अधिक भरोसा था । पुरुषार्थ करते-करते थक गया । अब निराश-- उदास हो चला था, तो गुरु कृपा की अनिवार्यता का एहसास हुआ ।

महाराजश्री जब न्नांगल पधारे थे, तो वहाँ सत्संग में एक दिन आपने कहा था कि शास्त्र का अध्ययन तो बहुत लोग करते हैं किन्तु शास्त्र की कृपा प्राप्त नहीं कर पाते । शास्त्र-कृपा तभी समझी जानी चाहिए जब गुरु प्राप्ति की जिज्ञासा अन्तर में जाग्रत हो जाये । शास्त्र-कृपा का कार्य गुरुकृपा की ओर उन्मुख कर देना है । यही हालत मेरी थी । शास्त्रों का अध्ययन काफी करता था किन्तु शास्त्र-कृपा प्राप्त न कर सका था । जब पुरुषार्थ से निराश हो गया, तो शास्त्र-कृपा प्रकट हो गई । मैं देवास पहुँच गया ।

मैंने महाराजश्री से अपनी व्यथा कह सुनाई, "मुझे पता है कि मुझ में कई दोष हैं । कई ऐसे भी होंगे जिनका मुझे पता नहीं । इन दोषों से लड़ने का भरसक प्रयत्न भी करता आ रहा हूँ, पर ऐसा लगता है कि अभी तक एक भी दोष को मन से निकाल नहीं पाया । क्या करूँ ?"

महाराजश्री ने उत्तर दिया, "दोष ऐसे निकलेंगे भी नहीं । दोषों, विकारों, अवगुणों तथा वासनाओं का मूल कारण संस्कार हैं । जब तक संस्कारों पर आघात नहीं होगा, दोषादि कभी भी पीछा नहीं छोड़ेंगे । एक दोष को मन से हटाओगे, तो संस्कार उसे पुनर्जीवित कर आपके मन में उपस्थित कर देंगे । प्रायः साधक विकारों से ही लड़ते रहते हैं तथा संस्कारों को अछूता छोड़ देते हैं । संभवतया यही भूल तुम भी करते रहे हो, इसीलिए अभी तक सफल नहीं हो पाए हो ।

"यह बात भी है कि अपना प्रयत्न अभिमान युक्त होने से, साधक स्वयं के पुरुषार्थ से, दोष-मुक्त हो भी नहीं सकता । अभिमान युक्त होने से, मन को दोषयुक्त तो कर सकता है, किन्तु मुक्त नहीं कर सकता । इसके लिए ईश्वर की कृपा शक्ति की ही आवश्यकता है । दोष-मुक्ति कृपा के आश्रित है । ईश्वरीय कृपा से ही अन्तर में ज्ञानाग्नि, योगाग्नि जाग्रत होती है । इसी को कुण्डलिनी, आह्लादिनी या प्रत्यक् चेतना की जागृति कहा जाता है । यही वेदान्त के प्रज्ञान की अनुभूति है । यही अग्नि विकारों-वासनाओं के साथ-साथ, इनके मूल कारण, संस्कारों को भी भस्म कर देती है । जीव का अपना पुरुषार्थ किसी काम नहीं आता । वह जितना अधिक पुरुषार्थ करता है उतना अभिमान ही बढ़ाता है ।

"इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि पुरुषार्थ करना ही नहीं चाहिए । करना चाहिए और अवश्य करना चाहिए । पुरुषार्थ करते-करते जब साधक हार मान जाएगा तभी उसका अनुभवयुक्त निश्चय होगा कि स्वयं के पुरुषार्थ से कुछ होने वाला नहीं । तभी वह प्रभु-कृपा के आश्रित होकर, भगवान से प्रार्थना करेगा, गुरु-चरणों की प्राप्ति की जिज्ञासा करेगा । उसमें समर्पण-भाव का स्वाभाविक विकास होगा । ईश्वर तथा गुरु-कृपा से, कृपा-शक्ति की प्राप्ति का अनुभव उपलब्ध होगा । इसका यह अर्थ भी नहीं कि कृपा प्राप्ति के उपरान्त, साधक का उत्तरदायित्व समाप्त हो जाता है । जब तक तनिक भी अभिमान शेष है, तब तक उत्तरदायित्व समाप्त भी कैसे हो सकता है ? उसका उत्तरदायित्व होता है अपने अभिमान को जाग्रत शक्ति में विलीन करने का प्रयत्न करते रहना, समर्पण-भाव को धारण करना तथा गुरु-शक्ति के ही आश्रय में रहना ।"

इस पर मैंने प्रश्न किया, "महाराजजी, जगत के लोग प्राय: तो अपने अन्तर में किसी दोष के होने की कल्पना भी नहीं करना चाहते । वे अपने आपको गुणवान्, बुद्धिमान, ज्ञानवान तथा सर्वकुशल समझते हैं । उनके मतानुसार, दोष दूसरों के ही भाग में आए हैं । उनका क्या होगा ?"

उत्तर– यह सब उनका अभिमान ही है । ऐसा कोई जीव नहीं, जिसमें गुण तथा दोष न हों । अधिकतर तो दोष ही होते हैं । दूसरों के दोष देखना क्या दोष नहीं है ? अपने दोषों के प्रति उदासीनता, क्या दोष नहीं है ? अपने गुणों का अभिमान क्या दोष नहीं है ? राग-द्वेष, ईर्ष्या, प्रतिशोध की भावना क्या दोष नहीं है ? तुमने पूछा कि उनका क्या होगा ? जब तक होश नहीं आएगा, तब तक ऐसे ही माया की चक्की में पिसते रहेंगे । जब तक अन्दर देखने के स्वभाव का विकास नहीं होता, तब तक दोष दिखाई नहीं देते ।

प्रश्न– क्या दोषों को देखने से ही, दोष समाप्त हो जाते हैं ?

उत्तर– नहीं । दोषों को देखना, उनका पता लगाना, तो दोष-क्षय का आरंभ मात्र है । उसके पश्चात् दोषों से घृणा होना तथा उनसे छूटने के प्रयत्न का स्थान है किन्तु इतने से भी

दोषों से छुटकारा संभव नहीं है, क्योंकि यह प्रयत्न के अधीन नहीं, शक्ति की क्रियाओं के अधीन है । जो दोष संचित संस्कारों से संबंधित हैं, वह क्रियाओं के अधीन हैं । साधक का कर्त्तव्य है कि ऐसी क्रियाएँ होने पर, अत्यन्त सावधान रहे । क्रिया के आवेश में कहीं वही भूल दोबारा करके पुनः संस्कार संचय न कर ले । दोषों के प्रति घृणा-भाव से व्यवहार शुद्धि में काफ़ी सहायता मिलती है, जिसका संबंध प्रारब्ध से है ।

प्रश्न– आज का जगत-व्यवहार दोषों पर ही आधारित है । यदि सभी मनुष्य दोष-मुक्त हो जाएँ तो जगत-व्यवहार कैसे चलेगा ?

इस पर महाराजश्री जोर से हँसे । बोले, "तुम जगत-व्यवहार की चिन्ता क्यों करते हो ? सर्वप्रथम तो सबका चित्त शुद्ध होने वाला नहीं है । कुछ ही लोगों का भी हो जाए तो बहुत है । राम राज्य में क्या सभी लोगों के मन निर्मल थे ? यदि ऐसा होता तो सीताजी को वनवास क्यों भोगना पड़ता ? यदि मान लिया जाए कि वह दिन भी आ सकता है जब संसार के सभी लोग दोष मुक्त हो जाएँगे, तो भी जगत व्यवहार तो चलता ही रहेगा । हाँ, उसमें छल-कपट, स्वार्थ तथा असत्य का समावेश नहीं होगा ।"

प्रश्न– अच्छा महाराजजी ! जिनको हम गुण कहते हैं, अध्यात्म की दृष्टि से वह भी दोष ही है, किन्तु आप दोष निवृत्ति की बात कर रहे हैं, गुण-निवृत्ति की नहीं ।

उत्तर– दोष का अर्थ है तमो गुण, रजो गुण । गुण का अर्थ है सत्व-गुण । यह सभी माया के ही अन्तर्गत हैं तथा सभी त्याज्य हैं । किन्तु दोष अशुभ-वासना है तथा गुण शुभ-वासना है । अशुभ वासना कभी शान्त नहीं होती । शान्त होकर फिर उदय हो उठती है किन्तु शुभ वासना आत्म-स्थिति होने पर स्वयं ही शान्त हो जाती है । इसीलिए हमने बार-बार दोष-निवृत्ति की ही बात की है । दोष केवल जगदाभिमुखी होते हैं । गुण यदि अभिमानयुक्त होते हैं, तो सत्वगुणी होने पर भी, दोष हो जाते हैं । अभिमान रहित, सत्वगुणी गुण ही गुण कहे जाते हैं । यह आत्माभिमुखी होते हैं । यही शुभ वासना है जो आत्मस्थिति होने पर, विलीन हो जाती है ।

(३) निवृत्ति-प्राप्ति-उपाय

आश्रम में आए हुए मुझे डेढ़ वर्ष हो गया था जबकि मैंने यहाँ एक वर्ष रहकर सेवा कार्य करने का विचार किया था । वह समय अब पूरा हो चुका था । मन में यही भाव उठता था कि लोग क्या सोचते होंगे । संभव है कुछ बातें भी करते हों । यह ठीक है कि मैंने अपने आपको परिस्थितियों के अनुसार काफी कुछ ढाल लिया था । हो सकता है कि इस संकोच में, एकान्तवास की मेरी लालसा का भी कुछ हाथ हो । जो भी हो, मैं फिर से एकान्तवास के लिए छटपटाने लग गया था । पर इस विषय में महाराजश्री से बात करने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहा था । आश्रम का काफी काम मेरे कंधों पर आ चुका था । इसे मैं महाराजश्री का

अनुग्रह ही मानता हूँ कि उन्होंने मुझे इस योग्य समझा तथा मुझ से सेवा कराई । अब तक मैं अपने अभिमान को भी दबाने में बहुत कुछ सफल हो चुका था । बीच-बीच में समस्याएँ भी उभरती थीं तथा गुरु-कृपा से उनका समाधान भी होता रहता था । आश्रम की ओर से कोई बात नहीं थी, केवल मेरी मनःस्थिति की बात थी । आश्रम- सेवा करते हुए भी, मेरी मानसिक संरचना आश्रम के अनुकूल नहीं थी । मन में, एकदम त्यागी एवं एकान्तवासी की कल्पना लेकर साधु जीवन में आया था तथा यह भाव मेरे अन्तर्मन से विलुप्त नहीं हो पा रहा था । बार-बार सतलज का किनारा तथा हिमाचल प्रदेश की मनोहारी हरियाली से ढँकी पर्वत मालाएँ, आँखों के सामने तैरने लगती थीं । वहाँ व्यतीत किया हुआ समय हृदय-पटल पर उभर आता था, पर गुरु महाराज से बात कैसे की जाए ?

एक दिन दोपहर का समय था । महाराजश्री अपने कमरे में अकेले बैठे थे । उपयुक्त समय देखकर मैंने बात छेड़ दी-- "महाराज जी ! पिछली बार जब मैंने कहीं जाने की बात कही थी, तो आपने कुछ दिन यहाँ और ठहरने के लिए कहा था । तब मैंने मन में संकल्प किया था कि एक वर्ष आपके चरणों के सानिध्य का लाभ लूँगा । अब वह एक वर्ष भी पूरा हो गया है । इसलिए निवेदन है कि मुझे जाने की अनुमति प्रदान करें । जब भी कभी मेरी आवश्यकता होगी, मैं आ जाया करूँगा ।"

महाराजश्री कुछ देर मौन बैठे रहे, फिर बोले, "देखो ! गुरु को स्वार्थी नहीं होना चाहिए। चूँकि तुम सेवा करते हो, इसलिए तुम्हें रोकना स्वार्थ है। यदि तुम अपने आध्यात्मिक लाभ के लिए कहीं जाना चाहते हो, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं । किन्तु मेरे विचार में तुम्हारा हित अभी यहीं रहने में है । तुम यहाँ से जाकर सतलज के किनारे कुटिया बनाकर एकान्तवास करोगे। तुम्हारा वैराग्य अभी अपरिपक्व है। न ही पूरी तरह विवेकयुक्त है तथा न ही अभी जीवन का कुछ अनुभव है। अपरिपक्व वैराग्य से एकान्तवास करोगे, तो तुम वहाँ अधिक समय तक टिक नहीं पाओगे । अतः तुम्हारे लिए उत्तम यही है कि कुछ समय तक जगत के वास्तविक, स्वार्थमय तथा मायामय स्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव ले लो । जगत ऊपर से मीठा तथा अन्दर से अत्यन्त कड़वा है । मन में कुछ होता है, कहता कुछ है । जब तुम्हें इसकी असारता का अनुभव हो जायेगा तो तुम्हारा वैराग्य दृढ़भूमि हो जाएगा । तब तक युक्ति से भी इसकी असारता को समझ जाओगे । केवल बौद्धिक वैराग्य ही काफी नहीं है । उसके साथ अनुभव की नितान्त आवश्यकता है । जबकि हिमाचल प्रदेश में एकान्त में तुम्हें यह अनुभव प्राप्त नहीं होगा । उपयुक्त वैराग्य के अभाव में अध्यात्म लाभ की जिज्ञासा दिवा स्वप्न मात्र है । अतः उत्तम यही है कि अभी यहीं रहो । समय सीमा मत बाँधो, साधन के साथ-साथ, माया तथा जगत की असारता का अनुभव प्राप्त करो । फिर भी मैं तुम्हें किसी बात के लिए विवश नहीं करूँगा ।"

महाराजश्री की बात सुनकर मैं सोच में पड़ गया । एक तो बात युक्तिपूर्ण थी, दूसरे शुद्ध-हृदय से मेरे हित को ध्यान में रखकर कही गई थी । वैसे भी महाराजश्री की इच्छा को, मैं महाराजश्री का आदेश मानता रहा था । इन सारी बातों ने मुझे सोचने पर विवश कर दिया । महाराजश्री से सोचने का समय माँगना भी उचित प्रतीत नहीं हुआ, क्योंकि इसका अर्थ यह होता कि निर्णय लेने का अधिकार मेरे पास है । यह बात शिष्य धर्म तथा सेवक-धर्म दोनों के विपरीत थी । चाहिए तो यह था कि मैं एकदम कह देता कि बहुत अच्छा महाराज जी, जैसा आपने कहा, वैसा ही करूँगा, किन्तु अभिमानवश मेरा मुँह बँद ही रह गया तथा मैं विचारमग्न हो गया । महाराजश्री भी अपनी बात कहकर मौन हो गए । मैं बिना कुछ कहे बाहर वराण्डे में आ बैठा ।

वराण्डे में बैठते ही जैसे मुझे बिजली का जोर का झटका लगा । जिससे मैं एकँदम सचेत हो गया, जैसे कोई गहरी नींद से जाग जाय । 'यह मैंने क्या किया ? महाराजश्री के स्पष्ट मंतव्य प्रकट कर देने पर, कुछ सोचने का तेरे पास अधिकार ही कहाँ है । बिना कोई उत्तर दिए चले आने से तू गुरु महाराज के अनादर करने का अपराधी हो गया है । धिक्कार है तुझ पर तथा धिक्कार है तेरी सेवा-भावना पर ।'

मैं एक झटके में उठकर सीधा अन्दर गया । जाते ही महाराजश्री के चरण पकड़ लिए तथा माथा रखकर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा । महाराजश्री ने कहा, "अरे भई ! क्या बात हुई ? मैंने तो ऐसी कोई बात कही नहीं । यदि जाना चाहते हो, तो सहर्ष जाओ । तुम्हारी खुशी में ही मेरी खुशी है ।" यह सुनकर मैं और भी ज़ोर से रोने लगा । कहा, "मैं कहीं नहीं जाऊँगा । मुझसे भूल हुई जो आपका स्पष्ट मंतव्य जान लेने के पश्चात् भी, 'बहुत अच्छा' कहने में इतनी देर लगा दी । आपकी बात के सामने हमारे विचार का मूल्य ही क्या है ?"

वैसे तो महाराजश्री का मन ऐसी बातों से प्रभावित नहीं होता था । ब्रह्मचारी आते-जाते रहते थे । आपने न कभी किसी को आने के लिए कहा, न जाने के लिए तथा न ही किसी को जाने से रोका । मैं भी यदि चला जाता तो उनके मन पर कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं था । जिसमें मेरा हित समझा, कह दिया । मेरी बात सुनकर महाराजश्री का विनोदी स्वभाव जाग उठा, बोले, "अच्छा काफी बनाओ, हम भी आज इस समय एक कप लेंगे ।" ध्यान रहे कि आप प्रातः तीन बजे के करीब दिन में केवल एक ही बार काफी का एक कप लेते थे ।

(४) गीता प्रवचन– अध्याय बारह

अब महाराजश्री अपने साथ मुझे भी कभी-कभी बाहर ले जाने लगे थे । वैसे तो कुछ ब्रह्मचारी जी जो मेरे से बड़े थे तथा प्रायः महाराजश्री की सेवा में जाया करते थे, किन्तु उनके उपलब्ध नहीं होने पर कई बार मुझे भी अवसर मिलने लगा था । उज्जैन में प्रतिवर्ष एक

साधन-समारंभ आयोजित होता था, जिसमें महाराजश्री का पधारना भी होता था । अब की बार महाराजश्री की सेवा में मैं था । तीन दिन के आयोजन में महाराजश्री का प्रवचन प्रातःकाल पाँच बजे होता था । सायंकालीन सत्र में महाराजश्री कभी-कभार ही बोलते थे । आपका प्रतिपाद्य विषय गीता का बारहवाँ अध्याय था । सारांश इस प्रकार है–

(१) वैसे तो सभी भजन करने वाले, अपने आपको भक्त मानते-समझते हैं किन्तु भक्त में तथा भगवान के प्रिय भक्त में बड़ा अन्तर है । भक्त भगवान का हाथ पकड़कर चलता है, कभी हाथ छूट भी सकता है । प्रिय भक्त का हाथ प्रभु थामे होते हैं । भक्त अपने पुरुषार्थ से भक्ति रूपी दीवार पर चढ़ने का प्रयत्न करता है, प्रिय भक्त को भगवान ऊपर से हाथ लम्बे करके खेंच लेते हैं । भक्त में भक्ति का अभिमान होता है, प्रिय भक्त में समर्पण-भाव । भक्त अपनी सावधानी से चलता है, प्रिय-भक्त को भगवान स्वयं गोद में उठाकर चलते हैं ।

(२) प्रिय भक्त को भगवान का कृपा-प्रसाद, अन्तर में अनुभव होता है जिसे भक्ति मार्ग में आहलादिनी की क्रियाशीलता कहा जाता है । इसके उपरान्त ही प्रत्यक्ष सहारा, भक्त को प्राप्त होता है । इससे पूर्व वह किसी न किसी प्रतीक का सहारा लेकर, भावनात्मक कल्पनाएँ करता रहता है । आह्लादिनी की क्रियाशीलता अनुभव होने के पश्चात् ही भक्त के प्रिय-भक्त बनने की संभावना होती है । आह्लादिनी की क्रियाशीलता ही सगुण भक्ति है । सामान्यतः जिसे सगुण भक्ति कहकर प्रचारित किया जाता है वह प्रतीक भक्ति है ।

(३) भगवान जगत में सर्वव्यापक हैं । कहीं निर्गुण हैं तो कहीं सगुण । भक्तों के चित्त में, उनके संस्कारों के आधार पर क्रियाशील होने से, उनका स्वरूप सगुण होता है, क्योंकि उनकी शक्ति का यह प्राकट्य गुणों के अन्तर्गत होता है । इसलिए आह्लादिनी शक्ति की जागृति एवं क्रियाशीलता के पश्चात् ही सगुण भक्ति होती है ।

(४) अभ्यास को समझे बिना जो साधक इसमें प्रवृत्त होते हैं वह समय को व्यर्थ खोते हैं । कर्म-फल के त्याग सहित ध्यान होता है, ध्यान सहित ज्ञान तथा ज्ञान सहित अभ्यास होता है, अर्थात् अभ्यास में कर्मफल का त्याग, ध्यान तथा ज्ञान, सभी का समावेश है । जो कर्म-फल का त्याग नहीं करता, किन्तु अभ्यास करता है, उसका अभ्यास कैसे फलीभूत हो सकता है । अथवा ध्यान या ज्ञान के बिना अभ्यास करे, तो भी वृथा श्रम ही है ।

(५) भगवान कृष्ण कथित भक्ति, मन बुद्धि तथा हृदय सभी का विकास करती है तथा जगत के कुप्रभावों से अछूता रखती है । इन्द्रियों तथा मन को संयत करती है । इसमें कर्मयोग तथा ज्ञान का समावेश है । यह जगत में प्रसन्न रहना सिखाती है । यह भक्ति कर्म से आरंभ होकर, कर्म के प्रभाव को समाप्त करती है । चित्त की सम-स्थिति उदय करती है ।

(६) मनुष्य को यदि कोई अधिकार, सम्पत्ति अथवा यश प्राप्त हो जाय तो उसे अभिमान हो जाता है । अभिमान सभी विकारों की जड़ है । जहाँ अभिमान होता है वहाँ

काम, क्रोध, लोभ, द्वेष, ईर्ष्या एवं प्रतिशोध भाव, सभी एक-एक कर चले आते हैं । जीव इस बात को समझ नहीं पाता तथा चित्त में विकारयुक्त संस्कार संचित किए जाता है, किन्तु भक्त इस बात से अवगत होता है । इसलिए यदि उसे कुछ अधिकारादि प्राप्त हो भी जाएँ, तो वह अभिमान नहीं करता । यह उसके मन की स्वाभाविक अवस्था होती है । अतः वह मान-अपमान, हानि-लाभ, यश-अपयश आदि में सदैव संतुलित रहता है ।

(७) यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि साधक या भक्त का चित्त ऐसा हो कि जगत के उचित-अनुचित व्यवहार से कभी उद्वेलित न हो । अनुकूलता में भी भक्त की परीक्षा होती है तथा प्रतिकूलता में भी । न उसमें अभिमान ही उदय हो, न उसका मन कभी विचलित हो । इसके साथ-साथ उसका अपना व्यवहार इतना सौहार्दपूर्ण, सौम्य तथा मधुर हो कि किसी को उद्विग्न होने का अवसर ही प्राप्त न हो । यह साधन का आवश्यक अंग है किन्तु खेद इस बात का है कि प्रायः साधक-भक्त इधर से लापरवाह बने रहते हैं । परिणामतः उनका अपना मन भी चंचल रहता है, दूसरों को भी दुःखी करते हैं ।

(८) गीता के भक्तियोग नामक बारहवें अध्याय में भक्त की चित्त स्थिति का वर्णन है जो जगत में उदित होने वाली घटनाओं तथा उसके निज के प्रति किए गए व्यवहार से अप्रभावित बना रहता है । इस बात को भक्त के लक्षण कहकर विस्तार से समझाया गया है अर्थात् यह भक्त के मन की अवस्था विशेष है । उसी को भक्ति कहा गया है । यदि कोई पूजा-पाठ तो खूब करे, किन्तु चित्त-अवस्था ऐसी न हो, तो उसे भक्त नहीं कहा जा सकता ।

(९) भक्त की मनःस्थिति प्राप्त करने के लिए, भगवान कृष्ण ने जिस भक्तियोग का वर्णन किया है उसमें पूजा-पाठ या साधन-भजन का कहीं उल्लेख नहीं, किन्तु अनासक्त कर्म को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है । भगवान के कथनानुसार कर्म में उन्नति का क्रम इस प्रकार है—

(क) सबसे उच्च अवस्था केवल भक्ति-योग है जिसमें स्थिर चित्त भक्त सदा ईश्वर-ध्यान तथा भक्ति भाव में ही लीन रहता है । परिणामस्वरूप उसे प्रभु के धाम में निवास प्राप्त होता है । इस अवस्था में ही उसे कर्म करने की आवश्यकता नहीं होती । उससे निम्न अवस्थाओं में न्यूनाधिक कर्म आवश्यक हैं । ध्यान रहे कि जब भगवान कर्म कहते हैं, तो उनका आशय निष्काम-कर्म अथवा सेवा-भाव या कर्त्तव्य-भाव-युक्त कर्म होता है ।

(ख) उपरोक्त अवस्था में चित्त स्थिर रख पाना किसी विरले भाग्यशाली के लिए ही संभव होता है; अन्यथा मन तो अस्थिर है ही । जो इस प्रकार रह पाने में असमर्थ हो उसे कर्मयोग अर्थात् कर्मफल त्याग, विचार-चिन्तन, अध्ययन द्वारा सम्पादित ज्ञान, जिसमें ध्यान का आधार भी आवश्यक है तथा जिसे अभ्यास कहा गया है, करना कर्तव्य है । योग-दर्शन के मतानुसार चित्त को स्थिरता की अवस्था में स्थिर रखने का प्रयत्न अभ्यास कहलाता है ।

स्थिरता का यह प्रयत्न साधन-समय तथा व्यवहार-समय, दोनों में बना रहना चाहिए, तभी वासना तथा संस्कार क्षीण हो पाते हैं तथा चित्त स्थिरता की अवस्था प्राप्त करता है ।

(ग) देखने में तो यह उपाय सरल दिखाई देता है किन्तु करने में यह भी अत्यन्त कठिन है, इसलिए भगवान एक स्तर और नीचे उतर कर, एक अन्य भाव का दिग्दर्शन करते हैं । यदि कोई व्यक्ति अभ्यास-योग में चल पाने में भी, अपने आपको असमर्थ पाता है तो उसे सभी कर्म भगवान के लिए भगवान की प्रसन्नता के लिए करते हुए उनका फल भगवान के अर्पण करते चले जाना चाहिए । कर्म करते समय, भगवान की कृपा तथा प्रेम प्राप्त करना ही लक्ष्य होना चाहिए । इस प्रकार मनुष्य, कर्म करते हुए भी कर्म-बंधन से मुक्त रहेगा तथा प्रभु-प्रेम का लक्ष्य अभिमुख रहने से कालान्तर में भक्तियोग भी प्राप्त कर लेगा ।

(घ) सामान्य व्यक्ति के लिए यह कर पाना भी कठिन होता है । उसके अन्दर का अभिमान कर्म में आसक्त कर देता है । भगवान को कर्म-फल अर्पण करने के स्थान पर, फल से स्वयं सुखी-दुःखी होता है । इसलिए भगवान, साधक को सुझाव देते हैं कि अपना मन तो वश में रखने का प्रयत्न कर तथा कर्म-फल से अप्रभावित रहने का प्रयास कर । इससे धीरे-धीरे तेरा मन अध्यात्मुखी हो जाएगा ।

इस विषय को सरलतापूर्वक एक दूसरे ढंग से भी समझा जा सकता है । गीता में वर्णित कर्म के स्वरूप का क्रम ऊपर से नीचे की ओर है, सबसे प्रथम ऊपर की स्थिति कही गई है, फिर एक-एक कर नीचे उतरते आए हैं । अब उलट क्रम अर्थात् नीचे से ऊपर की ओर जाएँगे, अर्थात् सबसे नीचे की स्थिति का वर्णन सबसे पहले करेंगे ।

सामान्य जीव में आसक्ति बहुत है । शरीर के प्रति तो वह आसक्त होता ही है, शरीर के द्वारा किए जाने वाले कर्मों तथा कर्मों के फल में भी उसकी आसक्ति होती है । अपने अन्दर कार्यशील शक्ति में भी अपनत्व की भावना रखकर, कर्तापन का मिथ्या अभिमान भी उदय कर लेता है, जीव के अन्दर का अहम्, अभिमान का रूप धारण कर जगत में फैल जाता है तथा आसक्ति का उदय करता जाता है । जीव को साधन का प्रारंभ इसी अवस्था से करना होता है । उसके उत्तरोत्तर स्तर इस प्रकार हैं--

(i) जीव की शक्ति, कर्म, कर्मों के फल सब उसके हैं । कर्ता भी वह स्वयं है, किन्तु कर्म-फल प्राप्त होने पर, उसे भगवान के अर्पण कर देता है । भगवान को शुभ-कर्म ही समर्पित करने चाहिए, ऐसी बुद्धि उदय हो जाने पर अशुभ कर्म फल-भोग के लिए उसी के पास रह जाते हैं । अतः धीरे-धीरे उसके अशुभ कर्म होना बंद होता जाता है ।

(ii) कर्म जीव के हैं, करने वाला भी जीव है, फल भी उसका ही है, किन्तु फल का देने वाला ईश्वर है, इसीलिए जैसा ईश्वर उचित समझता है, उसे ईश्वर का कृपा-प्रसाद समझकर शान्तिपूर्वक भोग लेना ही उसका कर्त्तव्य है ।

(iii) जीव शक्ति को अपनी मानता है पर कर्त्तव्य सभी ईश्वर के हैं । उन्हें पूरा करना, जीव का कर्त्तव्य है । कर्म का फल जीव के हाथ में नहीं, ईश्वर के पास है पर जीव को इससे क्या ? जैसा भी फल होगा, ईश्वर का ही होगा । वह तो केवल कर्त्तव्य का पालन करने वाला है ।

(iv) अब तक साधक भावनात्मक स्तर पर ही चल रहा होता है, किन्तु शक्ति जाग्रत होकर उसे, अपने से उसका भिन्नत्व अनुभव करवा देती है । साधक को जब पता लग जाता हैं कि यह उसका मिथ्या भ्रम ही था जो कि अब तक वह शक्ति को अपना मानता रहा था, तब उसका भाव परिवर्तन होने लगता है । शक्ति भी ईश्वरीय है, कर्त्तव्य भी सभी ईश्वर के हैं । उसका कर्त्तव्य है कि ईश्वरीय शक्ति का सदुपयोग ईश्वर के कर्त्तव्यों के प्रति करें ।

इस प्रकार साधक क्रम-क्रम से निष्काम-कर्म की ओर बढ़ता है । जगत में घटित होने वाली सभी घटनाएँ तथा जीव द्वारा की जाने वाली सभी चेष्टाएँ, वास्तव में ईश्वरी शक्ति ही की क्रियाएँ हैं, किन्तु जीव अभिमानवश उन्हें कर्म का रूप प्रदान कर देता है तथा इस प्रकार अपने ही बनाए हुए मिथ्या जाल में उलझ जाता है । उपरोक्त कर्ताभाव का तब तक निराकरण होना आरंभ नहीं होता जब तक उसे चैतन्य अथवा प्रज्ञान की अनुभूति नहीं हो जाती । इस अनुभूति के पश्चात् ही उसके संस्कार तथा प्रारब्ध का क्षय आरंभ होता है । उससे पूर्व तो जीव अभिमान में ही डूबा रहता है ।

(५) मेरा प्रथम भाषण

आज साधन-समारंभ का अन्तिम दिवस था । आज सायंकाल को भी महाराजश्री का प्रवचन होने वाला था । दिन के समय, महाराजश्री ने समारंभ के प्रायोजक से कहा, "डॉक्टर साहिब, हमारे ब्रह्मचारीजी को भी बोलने का अवसर दें ।" उन्होंने भी "बहुत अच्छा महाराज" कह दिया । मैं अलग से डॉक्टर साहिब से मिला तथा कहा कि "मुझे बोलने का अभ्यास एकदम नहीं है । आप महाराजश्री की बात गम्भीरता से नहीं लें । पता नहीं किस भाव में आकर वह कह गए हैं ।" डॉक्टर साहिब ने कहा कि आप चिन्ता न करें । मैं निश्चिन्त हो गया ।

अपने सायंकालीन प्रवचन में महाराजश्री ने कहा— "साधना तथा भक्ति के क्षेत्र में पाँव रखने से पूर्व एक हजार बार सोच लो । यह मार्ग काँटों, कठिन-चढ़ाइयों तथा फिसलन भरा है । जो प्रचारक भक्ति मार्ग को सरल कहते हैं, वह आपकी श्रद्धा स्थापित करने के लिए ही ऐसा कहते हैं, अन्यथा इसमें पग-पग पर संकट है । इसमें अहम् छोड़ना पड़ता है, जिसके लिए मन तैयार नहीं होता । इसमें वैराग्य अनिवार्य है जबकि जीव आसक्ति का त्याग करना ही नहीं चाहता । क्षमाशील होना आवश्यक है जबकि सामान्य मनुष्य प्रतिशोध की ज्वाला में ही जलता रहता है । इसमें शत्रुओं तथा विरोधियों से भी प्रेम करना होता है तथा उनकी भी

मंगल-कामना करना पड़ती है, जबकि जगत भक्त की इस भावना को समझ पाने में असमर्थ होता है तथा विरोध करता रहता है । प्रेम-भाव को वह कमजोरी समझता है, या कोई चाल या दिखावा । भक्त को बार-बार अपमान के घूँट पीना पड़ते हैं । मन बाहर की ओर उछलता है, जिसे दबाना पड़ता है । यह सब कोई सरल कार्य नहीं । इसीलिए मैंने कहा कि इस पथ का पथिक बनने से पूर्व अपने मन के भाव को अच्छी तरह तौल लो ।

"कहते हैं कि शक्तिपात् के पश्चात् साधन बहुत आसान हो जाता है क्योंकि तब साधक को अपनी ओर से कुछ भी नहीं करना होता है । मैं ऐसा नहीं मानता । शक्तिपात् के पश्चात् जिस समर्पण की आवश्यकता होती है, वह किसी साधक में दिखाई नहीं देता । व्यावहारिक कठिनाइयाँ इस साधन में भी वैसी ही बनी रहती हैं, अपितु संस्कार क्षय की तीव्रता के कारण कठिनाइयां अधिक आती हैं । शक्तिपात् के पश्चात् सहनशीलता, उदारता तथा क्षमाशीलता की अधिक आवश्यकता है । इसको क्या आप सरल कह सकते हैं ?

"साधन रूपी चढ़ाई आरंभ करने से पहले यह समझ लो कि प्रारब्ध भोग कर ही आप का छुटकारा होगा । प्रारब्ध भोगना तो दूर, अभी तो हम प्रारब्ध निर्माण में ही लगे हैं । प्रारब्ध को भोगकर समाप्त करने के लिए, विशेष प्रकार की चित्त स्थिति की आवश्यकता होती है । सबसे पहले तो यह समझ स्पष्ट होना चाहिए कि सुख-दुःख का कारण जगत नहीं, प्रारब्ध है । यह समझ नहीं होने से ही अपमान, हानि या दुःख का कारण किसी व्यक्ति अथवा परिस्थिति विशेष को मान लिया जाता है तथा मनुष्य प्रतिशोध के लिए उद्यत हो जाता है । अन्दर ही अन्दर क्रोध की ज्वाला में जलता रहता है तथा संस्कारों को अधिक पुष्ट करता रहता है । जिसमें प्रतिशोध की भावना है, उसका प्रारब्ध कभी क्षीण नहीं हो सकता । अध्यात्म अथवा भक्ति-मार्ग का यात्री जगत को केवल माध्यम देखता है, कारण नहीं । जगत साधक के समक्ष दुःख तथा कठिनाइयाँ उपस्थित करके, उस पर बड़ा भारी उपकार करता है, उसके प्रारब्ध क्षय का मार्ग प्रशस्त करता है । भक्त या साधक न कभी दुःखों से घबराता है, न विचलित होता है । यदि आप यह कर सकते हो, तो भक्ति की ओर कदम बढ़ाओ, अन्यथा युग-प्रवाह के साथ ही बहते रहो ।

"आज का युग बुद्धि-प्रधान युग है । विज्ञान के विकास के साथ-साथ, मनुष्य की विचार-शक्ति भी विकसित हो गई है, किन्तु यह विकास उलटी दिशा में प्रवाहित हो रहा है । छल, कपट, दिखावा, मन की बात छुपा लेना, धोके से काम निकालना आदि । युक्ति का उपयोग अध्यात्म में नहीं, काम निकालने में किया जाता है । बुद्धि की इस प्रधानता ने हृदय को गौण बना दिया है । आज किसी के हृदय के भाव को भी तर्क से समझने का प्रयत्न किया जाता है जबकि भक्ति—मार्ग मुख्यतः हृदय से संबंधित विषय है । मैं बुद्धि के विकास के विरुद्ध नहीं बोल रहा हूँ, किन्तु अध्यात्म के लिए विवेक तथा भाव, दोनों की आवश्यकता

है । विवेकहीन भाव तथा भावहीन विवेक, दोनों ही काम के नहीं । साधक–भक्त को बुद्धि के विवेक को सही दिशा प्रदान करते हुए हृदय में प्रभु-प्रेम को भी जगाना है । यह कार्य भी सरल नहीं है ।

"आज के युग में साधना करने के विपरीत परिस्थितियाँ हैं, किन्तु विपरीत परिस्थितियों में ही साधना में निखार आता है । जब खाने को एक दाना न हो तभी वास्तविक साधन हो पाता है । सब प्रकार की सुविधाओं से संपन्न जीवन में, दिखावा अधिक होता है तथा अभिमान बढ़ता जाता है । क्या कबीर के पास गरीबी की कमी थी ? या तुकाराम तथा ज्ञानेश्वर के पास अभाव का अभाव था ? नानक के पल्ले कौनसी धन सुविधाएँ थीं ? क्या मीरा ने सब प्रकार की राजसी सुविधाओं का त्याग नहीं कर दिया था ? बैंक-बैलेंस रखकर उसके ब्याज पर आश्रित रहने से, साधन नहीं हो सकता । किसी बैंक-बैलेंस, व्यक्ति या परिस्थिति का आश्रय, भगवान पर आश्रित नहीं होने देता । भगवान् पर आश्रित हुए बिना समर्पण का विकास नहीं होता तथा समर्पण के बिना साधन नहीं । अनुकूल परिस्थितियों की प्रतीक्षा में मत बैठे रहो । जैसी भी परिस्थितियाँ प्रभु ने दी हैं, वह साधन के अनुकूल ही हैं । अनुकूलता-प्रतिकूलता का भाव जगत की दृष्टि से है, साधन की दृष्टि से नहीं ।

साधन करना, तलवार पर नंगे पाँव चलने के समान है । भगवान की ओर जाने वाला मार्ग अत्यन्त संकीर्ण है । जगत की कोई भी वस्तु अथवा व्यक्ति साथ ले जाना संभव नहीं, यहाँ तक कि मन, बुद्धि, वासना, संस्कार आदि जैसे सूक्ष्म पदार्थ भी साथ नहीं जा पाते । यह मार्ग संचय का नहीं, त्याग का है । जितना अधिक त्याग होगा, उतना ही इस मार्ग पर आगे बढ़ पाओगे । त्याग मन का विषय है । आसक्ति रहित जीवन ही त्याग है ।"

महाराजश्री ने अपने एक घण्टे के प्रवचन में और क्या-क्या कहा अब मुझे याद नहीं । परन्तु प्रवचन अत्यन्त युक्ति संगत, अनुभव-युक्त, भावपूर्ण था । किसने क्या प्रभाव ग्रहण किया, यह तो मुझे पता नहीं, किन्तु मैं प्रतिमा की तरह स्थिर बना, प्रवचन सुन रहा था । जगत के सभी विचार न जाने कहाँ विलीन हो गए थे । महाराजश्री धारा प्रवाह बोलते जा रहे थे, ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे शब्द तथा भाव, उनकी वाणी के माध्यम से, स्वयमेव प्रवाहित हो रहे हैं । उस समय उनके मुख-मण्डल पर अजीब सी दिव्यता झलक रही थी ।

महाराजश्री अपना प्रवचन समाप्त कर, स्टेज से नीचे उतर कर बैठ गए थे । वातावरण में गाम्भीर्य युक्त स्तब्धता थी । इतने में माइक पर डॉक्टर साहिब की आवाज गूँज उठी, उन्होंने मेरा नाम ले दिया था । एक तो उस समय मैं महाराजश्री के प्रवचन से प्रभावित अनमना सा था, दूसरे मैंने कभी बोला भी नहीं था, ऐसे में भला क्या बोल सकता था ? बोलने का कोई विषय भी अभिमुख नहीं था । मेरी स्थिति उस समय ऐसी थी जैसे किसी को तैरना नहीं आता हो, किन्तु उसे उठाकर पानी में फेंक दिया गया हो । विवशता यह थी कि लोगों के

सामने हाँ-ना करना भी अच्छा नहीं लगता था। मैं स्टेज पर आसीन हो गया। स्टेज बहुत छोटी थी, केवल वक्ता के बैठने योग्य ही। महाराजश्री मेरे सामने नीचे श्रोताओं में बैठे थे तथा मैं स्टेज पर जमा था, बड़ी ही शर्म महसूस हो रही थी। गुरु महाराज के चरणों में ही बैठने का सदा से अभ्यास रहा था, आज ठीक उसके विपरीत था। जिन श्रीचरणों की छत्र-छाया में ही रहता आ रहा था, जिनके आगे सदा ही नतमस्तक रहा था, उसी श्री गुरु-मूर्ति के सिर से भी ऊपर मैं बैठा था। दो-चार मिनट मेरे मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। मन स्तब्ध हो गया था। मन ने चाहा कि एकदम स्टेज से उतर कर कहीं भाग कर मुँह छुपा लूँ, किन्तु यह भी एक तमाशा हो जाता। फिर किसी तरह अपने आप को संभाला। यह तो अच्छा हुआ कि मेरे सामने एक चौकी रखी थी, इसलिए लोग देख नहीं पाए। अन्यथा मेरे पाँव काँप रहे थे।

कल्पना करो— अभ्यास नहीं हो, विषय कोई सामने नहीं हो, पर बोलना पड़े। वह भी गुरु महाराज की उपस्थिति में। मैंने बोलना आरंभ किया। क्या बोला, कैसा बोला ? कुछ पता नहीं। मैं तो घबराहट में बोल रहा था। महाराजश्री को सामने नीचे देखकर शर्म भी आ रही थी तथा उनसे प्रेरणा भी प्राप्त हो रही थी। स्टेज से उतरा तो मैं पसीने में भीग रहा था। यह मेरे जीवन का प्रथम प्रवचन था। पता नहीं महाराजश्री के मन में क्या भाव आया जो मुझे इधर लगा दिया। इसी प्रकार कुछ दिन पहले उन्होंने मेरे लिए लेखन का द्वार खोल दिया था। कमरे में वापिस आया तो महाराजश्री से कुछ कहने का प्रयत्न किया तो बोले, "अरे भई ! इसी प्रकार सीखा जाता है। जन्म से सीख कर कौन आता है ? साधु जीवन में आए हो तो लोग कुछ सुनने की अपेक्षा तो करेंगे ही। क्या मुँह बनाकर बैठ जाओगे ?"

(६) ब्रह्मचारी विश्वनाथ प्रकाश

स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थजी महाराज (सिद्धयोगाश्रम वाराणसी) के शिष्य ब्रह्मचारी विश्वनाथ प्रकाश महाराज, नर्मदा तट पर नेमावर में निवास करते थे, महाराजश्री पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। कई बार नारायण कुटी पर पधारकर कुछ दिन निवास किया करते थे। एक बार वह पधारे तो मुझे भी उनके दर्शनों का लाभ प्राप्त हुआ। बातचीत में उन्होंने महाराजश्री के जो संस्मरण सुनाए वह इस प्रकार हैं—

(१) सर्वप्रथम मुझे स्वामीजी महाराज के दर्शन विज्ञान भवन, ऋषिकेश में सन् १९४४ में हुए। उस समय वे ब्रह्मचारी प्रभाकर प्रकाश (संन्यास के पश्चात् स्वामी प्रणवानन्द अरण्य) के साथ, ब्रह्मचारी योगानन्दजी महाराज के सानिध्य में रहते थे तथा मैं दण्डीवाड़े में ठहरा था। मैं ब्रह्मचारी प्रभाकर प्रकाश को पहले से ही जानता था। दण्डीवाड़े में मुझे चर्चा में ज्ञात हुआ कि प्रभाकर प्रकाश तो यहीं विज्ञान भवन में ठहरे हुए हैं। मैं उन्हें

वहाँ मिलने गया तो स्वामी विष्णु तीर्थ जी महाराज तथा ब्रह्मचारी योगानन्दजी से भी परिचय हो गया । मैं वहाँ नित्य जाने लगा, प्रेम-सद्भाव मिला, घनिष्ठता बढ़ती गई ।

संयोग ऐसा बना कि स्वामीजी महाराज त्रिवेणी घाट पर एक भक्त के खाली पड़े मकान में रहने के लिए आ गए । प्रभाकर प्रकाश भी उनके साथ थे । मुझे भी उन्होंने अपने साथ रहने के लिए बुला लिया । तब मैंने लगभग तीन महीने तक स्वामजी को बहुत समीप से देखा । वह प्रायः साधनावस्था में ही रहते थे, बोलते बहुत कम थे ।

श्री स्वामीजी महाराज बहुत सरल प्रकृति के, मिलनसार, मितभाषी थे। साधन-भजन् में उन्हें विशेष रुचि थी । स्वामीजी महाराज ने स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थजी महाराज की बंगला पुस्तक शतोपदेश का हिन्दी अनुवाद यहीं पर किया था । वह या तो किसी काम को हाथ में लेते नहीं थे, यदि एक बार ले लेते तो उसे पूरा करके छोड़ते थे। आपकी मातृभाषा हिन्दी थी । बंगला से हिन्दी में अनुवाद करने में कठिनाई होती थी, तो प्रभाकर प्रकाशजी से सहायता ले ली जाती थी ।

एक बार हम स्वाजी महाराज के साथ गरुड़ चट्टी गए । हमारे साथ चार-छह अन्य लोग भी थे । वहाँ हमने शिलोदक फाल (जलप्रपात्) देखा । स्वामीजी ने बताया इस प्रपात् के जल की यह विशेषता है कि इसमें पड़ी हुई कोई भी वस्तु, लकड़ी, पत्ता, कपड़ा, कागज आदि शिला (पत्थर) बन जाती है, इसीलिए इसका शिलोदक नाम प्रसिद्ध हुआ ।

जब सायंकाल वापिस लौट रहे थे तो रास्ते में स्वामीजी को बड़े जोर का बुखार हो गया । हालत इतनी बिगड़ गई कि उनसे चला भी नहीं जाता था । चेहरा लाल, शरीर खूब गरम, पाँव लड़खड़ाने लगे । उन दिनों वहाँ से ऋषिकेश आने के लिए कोई साधन भी उपलब्ध नहीं था । बड़ी समस्या खड़ी हो गई । रास्ते में कहाँ ठहरें ? सब जंगल ही जंगल । हिम्मत करके हम लोग उन्हें सहारा देकर कहीं उठाकर भी अपने मुकाम तक आए । भगवान ने ही हमें सकुशल पहुँचाया । पाँच-सात दिन बाद स्वामीजी का स्वास्थ्य सुधर गया । तब हमें स्वामीजी के साहस, धैर्य, सहनशीलता तथा विनम्रता के दर्शन हुए ।

(२) दूसरी बार सन् १९४५ ई. में मैं गंगनाथ (गुजरात में नर्मदा तट का एक तीर्थ) में रह रहा था । एक दिन अकस्मात् स्वामीजी अहमदाबाद से आ गए । महाराजश्री ने डी.डी. स्वामी (स्वामी कृष्णानन्द तीर्थ महाराज, जिन्होंने १२८ वर्ष की अवस्था में देह त्याग किया) को भी पत्र लिखकर बुलवा लिया । मैं गंगनाथ में कई दिनों से रह रहा था तथा अब वहाँ से चलने की तैयारी में था, किन्तु महाराजश्री ने मुझे रोक लिया । "आप भी रहोगे तो आनन्द रहेगा ।" मैंने रहना स्वीकार कर लिया । इस बार भी दो-तीन महीने तक स्वामीजी महाराज के सानिध्य का लाभ मिला ।

श्री डी.डी. स्वामी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे । महाराजश्री भी विद्वान थे ही, दोनों में अध्यात्म चर्चा होती रहती थी । ब्रह्म-सूत्र, उपनिषद् तथा वेद मन्त्रों के अर्थ भी किए जाते थे । अनेक बार डी.डी. स्वामी किसी मन्त्र का कुछ अर्थ करते तो महाराजश्री कुछ दूसरा । डी.डी. स्वामी तीखे शब्द कहने के अभ्यस्त थे । गरमागरम विवाद छिड़ जाता । जब विवाद बढ़ जाता तो किताबें बंद हो जातीं । संतों की लड़ाई पानी की लकीर के समान होती है । शाम को फिर स्नान, दर्शन, घूमना तथा फिर चर्चा । दूसरे दिन नित्य कर्मों से निवृत्त होकर फिर वेदमंत्रों की व्याख्या होने लगती, फिर विवाद, फिर पुस्तकें बंद । उनके साथ रहने से मुझे भी खूब सीखने को मिला ।

सन् १९४५ में डी.डी. स्वामी तथा महाराजश्री दोनों कश्मीर गए थे । वहां श्रीनगर में एक भक्त के यहाँ कई दिन ठहरे । वहीं से स्वामीजी महाराज अहमदाबाद होते हुए गंगनाथ आए थे तथा डी.डी. स्वामी काशी होकर गंगनाथ आए थे । गंगनाथ से वह दोनों चातुर्मास्य करने के लिए भावनगर चले गए ।

(३) महाराजश्री से तीसरी मुलाकात अप्रैल १९५० में इन्दौर में हुई । उज्जैन में जिनकी ओर से साधन समारंभ आयोजित होता था, उन्हीं की ओर से इन्दौर में भी दो दिवसीय कार्यक्रम किया गया था । महाराजश्री ने पत्र लिखकर मुझे भी इन्दौर बुलवा लिया । वहाँ बहुत काम की चर्चा हुई । स्वामीजी महाराज के हठयोग पर प्रवचन लोग बड़े ध्यान से सुनते थे ।

(४) चौथी मुलाकात नेमावर में हुई । महाराजश्री स्वयं भक्तों के साथ वहाँ पधारे थे । उन दिनों मैं सिद्धनाथ मंदिर में रहा करता था । मंदिर के प्रांगण में टेण्ट लगाकर, महाराज श्री के ठहरने की व्यवस्था की गई थी । तीन दिन वहाँ ठहरे । बात १९५३ की है ।

(५) पाँचवी बार । माघ सुदी १२ सं. २०११ (फरवरी १९५५) को नारायण कुटी में विघ्नेश्वर महादेव की स्थापना । डी.डी. स्वामी, सदानन्दजी, नारायण स्वामी, अमरानन्दजी, अनेक संत तथा भक्त दूर-दूर से आए थे । उस समय मैं कई दिन तक देवास में रहा ।

ब्रह्मचारी विश्वनाथ प्रकाशजी की विनम्रता से मैं काफी प्रभावित हुआ । फिर तो जब-जब भी वह देवास पधारते थे, मैं सदैव ही उनके सत्संग का लाभ उठाया करता था ।

संत-मिलन की पूर्व-स्मृतियाँ कितनी सुखदायी होती हैं । ब्रह्मचारीजी को इससे कितनी आनन्दानुभूति होती होगी । मैं भी महाराजश्री से गाजियाबाद में प्रथम मिलन तथा तत्पश्चात् नांगल में महाराजश्री के सानिध्य में बीते दिनों की पूर्व स्मृतियों में खो गया । कैसा उत्साह तथा भाव था, सभी भक्तों में । महाराजश्री की बच्चों जैसी सरलता तथा निष्कपटता याद आती थी । किन्तु मेरा मन अभी भी श्रीचरणों के अत्यन्त समीप रहते हुए भी वैसा नहीं बन पाया था । इसका अर्थ मेरी समझ में यही आया कि मेरा सामीप्य केवल

भौतिक स्तर तक ही सीमित था । मैं अभी भी अपने मन को श्रीचरणों में नहीं जोड़ पाया था । तभी तो अभी तक मन पर रंग नहीं चढ़ा था । अभी भी मेरा मन रूखा, सूखा, थोड़ा कड़क तथा अभिमानी था । प्रेम का जो विकसित स्वरूप, महाराजश्री में देखने को मिलता था वह मेरे मन में नहीं था । जबकि ब्रह्मचारी विश्वनाथ प्रकाशजी बहुत कुछ महाराजश्री जैसे ही थे । सम्भवतः उन्होंने अपना मन महाराजश्री के मन के साथ जोड़ लिया था ।

(७) आगाशा प्रकरण

कई बार महाराजश्री से किसी महान संत आगाशा की चर्चा सुनने को मिली । यह संत सात हजार वर्ष पूर्व मिश्र देश में वर्तमान थे । आज मिश्र का अधिकांश भाग मरुस्थल है, किन्तु उस समय कैसा होगा, भगवान जानें क्योंकि कहीं की भी भौगोलिक स्थिति एक समान सदा नहीं रहती । आगाशा के अनुसार वह आज भी सूक्ष्म स्तरों पर अदृश्य रूप में जगत में विचरण करते हैं । कई लोगों को किसी देवता की भाँति आगाशा का आवेश आता है । कुछ लोगों को जब कई प्रकार के आवेश आते हैं तो दूसरे लोग उनसे सांसारिक कामनाओं, कठिनाइयों तथा समस्याओं से संबंधित प्रश्न करते हैं । आगाशा के आवेश में ऐसा कुछ नहीं होता । वह केवल शुद्ध आध्यात्मिक ज्ञान की ही चर्चा करते हैं । उनके द्वारा दिया जाने वाला ज्ञान, शक्तिपात् के सिद्धान्तों तथा साधन-प्रणाली से बहुत मेल खाता है । आगाशा ने अपने माध्यमों के द्वारा कई बार महाराजश्री के बारे में भी चर्चा की है, जबकि उनके माध्यम महाराजश्री को जानते तक नहीं । उनमें से प्रायः लोग भारत आए ही नहीं । किन्तु आश्चर्य है कि वह महाराजश्री तथा उनके आश्रम के विषय में इतना कुछ जानते हैं । उनके कई भक्तों को महाराजश्री के दर्शन भी होते रहते हैं ।

आगाशा ने माध्यमों के द्वारा जो कुछ बताया, उसके अनुसार जब वह सात हजार वर्ष पूर्व मिश्र की धरती पर विचरण करते थे, तब उनके साथ अन्य दो सौ तिहत्तर साथी भी थे, उनमें से एक वर्तमान में स्वामी विष्णु तीर्थ हैं । जैसे-जैसे हम लोग अपने भौतिक शरीरों को समेटते गए, हम अत्यन्त सूक्ष्म स्तरों पर रमण एवं निवास करने लगे । हम इस सूक्ष्म स्तर से ही पृथ्वी पर गंभीरतापूर्वक साधनरत् साधकों की सहायता करते हैं । जैसे मैं सूक्ष्म आवेश के माध्यम से साधकों का मार्गदर्शन तथा उनकी शंकाओं का समाधान करता हूँ । इसी प्रकार साधकों को उनकी साधना में उपस्थित होने वाली कठिनाइयों का भी, सूक्ष्म स्तरों पर निराकरण करने में सहायता करता हूँ । इसी प्रकार स्वामी विष्णु तीर्थ भौतिक दृश्यमान देह धारण कर शक्तिपात् के माध्यम से साधकों को परमार्थ-पथ दिखाने का प्रयत्न कर रहे हैं । अन्तर इतना ही है कि मैं अप्रकट रहकर कार्य करता हूँ तथा स्वामी विष्णु तीर्थ प्रकट देह धारण कर । कुछ समय के पश्चात् स्वामी विष्णु तीर्थ अदृश्य हो जाएंगे तथा यथा समय, हमारे साथियों में से कोई अन्य प्रकट हो जाएगा । इस प्रकार भौतिक तथा सूक्ष्म दोनों स्तरों

पर जगत के कल्याण का कार्य चलता रहेगा । यह कार्य ईश्वरीय संकेत के अनुसार ही चलता है । प्रभु यही चाहते हैं कि उनके द्वारा प्रकट जीव भय, ग्लानि तथा विकारों से मुक्त होकर, आनन्द के आलोक में विचरण करें, किन्तु जीव जगत में आकर इतना आसक्त हो गया है कि मुक्ति की बात सुनना पसन्द ही नहीं करता । बहुत कम लोग ऐसे हैं जो सद्मार्ग ग्रहण कर पाते हैं ।

आगाशा के कुछ सदुपदेश भी यहाँ दिए जा रहे हैं जो उन्होंने अपने साप्ताहिक सत्संग में, अनुयायियों को प्रदान किए थे। ध्यान रहे कि रिचर्ड जैनर (Richard Zenor)नामक व्यक्ति को आगाशा का आवेश आता था। उन्हीं को आधार बनाकर, Telephone between worlds नामक पुस्तक लिखी गई । उसकी एक प्रति महाराजश्री के पास थी । फिर वह पुस्तक कहाँ गई, इसका पता नहीं । रिचर्ड जैनर ने ही अमेरिका की कैलीफोर्निया स्टेट के लास एंजलिस नगर में, आगाशा के सिद्धान्तों तथा साधना-शैली का प्रचार करने के लिए Agasha Temple of Wisdom Inc (आगाशा चेतना मंदिर) नामक संस्था की स्थापना की, जहाँ उन्होंने कई साधकों को तैयार किया, जिनमें से कई आगाशा के आवेश के माध्यम तथा शिक्षक भी हो गए । कई साधकों को आगाशा के दर्शन भी होते थे । आगाशा तथा स्वामी विष्णुतीर्थजी महाराज तथा उनके अन्य सहयोगियों की, जगत में कहाँ-कहाँ तथा किस-किस रूप में क्या-क्या प्रवृत्तियाँ चलती हैं, इसे सामान्य जीव समझ पाने में असमर्थ है, क्योंकि वह तो वही जान सकता है जो उसकी भौतिक इंद्रियों की परिधि में आता है । आगाशा ज्ञान या चेतना मंदिर में सप्ताह में केवल एक ही बार सायंकाल आठ बजे लोग एकत्रित होते थे । उस समय आगाशा किसी माध्यम से प्रकट होकर (भौतिक रूप में नही) उपदेश देते थे ।

(१) सोमवार संध्या, शिविर ९ जनवरी १९५६ । "मैं ईश्वरीय आलोक में रहने की चेष्टा करता हूँ । क्योंकि मुझे पता है कि ईश्वर मुझ में हैं । मैं जिनसे मिलता हूँ उनमें प्रेम, प्रकाश व शान्ति भर देता हूँ । वह भी ज्योति स्वरूप हैं तथा मैं भी ज्योतिस्वरूप हूँ । वह भी प्रयत्नरत् है तथा मैं भी सचेष्ट हूँ । मैं जैसे संघर्षातुर मानवीय पीढ़ी को प्रकाश तथा पराशान्ति देता हूँ, वह भी मुझे प्रकाश व शान्ति प्रदान करते हैं" —आगाशा

भावार्थ– यहाँ मिलने का अर्थ भौतिक मिलन नहीं है । वरन् दो चित्तों का तादात्म्य है । यही शक्तिपात् है । इस तादात्म्य से साधक को संत-चित्त का अवलम्बन प्राप्त हो जाता है । संत के मन की शान्ति, प्रेम तथा प्रकाश साधक के मन में भी प्रवेश करने लगते हैं । संत के अन्तर की योगाग्नि साधक के अन्तर में भी, प्रज्ज्वलित हो उठती है तथा उसकी अन्तर चेतना भी अन्तर्मुखी जाग जाती है । यहाँ दो चित्तों के तादात्म्य का अर्थ, संत की चित्त-शक्ति तथा साधक की चित्त शक्ति के तादात्म्य से है । इस प्रक्रिया में अन्तरशक्ति प्रभावित होती है,

जिससे चित्त की स्थिति में भी अन्तर आ जाता है तथा संस्कार और वासनाएँ जलने लगती हैं । इसमें एक ओर जहाँ साधक को लाभ होता है वहीं दूसरी ओर संत भी लाभान्वित होते हैं । एक तो किसी साधक को सद्मार्ग पर लगा देने से शान्ति मिलती है, वहीं समष्टि स्तर पर मायां का आवरण कुछ क्षीण हो जाता है । तीसरे संत को जो अनुभूतियाँ हो सकती हैं, वह साधन करने से नहीं, अपितु इस प्रक्रिया से ही प्राप्त हो सकती हैं ।

संत तथा साधक दोनों ज्योति-स्वरूप हैं । अन्तर केवल इतना है कि संत की ज्योति अनुभवगम्य है, जबकि साधक की आवरणयुक्त । संत भी अपने अन्तर में शिव का साधन करता है तथा साधक भी । साधक को अन्तर्ज्योति का अनुभव प्राप्त करने के लिए, किसी ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता पड़ती है जिसे अन्तर्ज्योति का अनुभव प्राप्त हो तथा उसे यह अनुभव प्राप्त करवाने की सामर्थ्य हो । यदि संत में लोभ, लोकेषणा या मोह इत्यादि की वृत्ति उदय हो जाए तो यह परिणाम प्राप्त कर पाना असंभव है । इसके विपरीत संत का अनिष्ट भी हो सकता है ।

(२) सोमवार संध्या ९ जुलाई १९५६ । "मैं सन्मार्ग पर स्थिर हूँ । मैं अपने आप के प्रति धैर्य रखता हूँ । मैं अपनी राजधानी तक पहुँचने के लिए प्रत्येक चेष्टा करूँगा । मैं पथ हूँ । मैं प्रकाश हूँ । मैं वह सब कुछ हूँ व उसके प्रत्येक वस्तु का आधार हूँ, जो कभी भी प्रकट हुई है । मेरी इस भौतिक देह की जो शक्ति संभाल करती है, वह परमात्मा है । यह परमात्मा ही मूल चेतना है । उसका कोई भी नाम हो सकता है । हम कहेंगे कि वह जीवमात्र में है । वह एक सर्वव्यापक शक्ति है । मैं ऐसी चेष्टा करता हूँ कि अपने जीवन में अधिकतम प्राप्त कर सकूँ । यदि मैं धैर्यवान हूँ तो मैं वह सब प्राप्त कर लूँगा, जो मुझे प्राप्त करना आवश्यक है ।"

भावार्थ– यहाँ 'मैं' के प्रयोग से किसी साधक के दृढ़ निश्चय का वर्णन कर रहे हैं । देना तथा कब देना तो ईश्वर के हाथ में है, किन्तु साधक में दृढ़ निश्चय तथा धैर्य का होना आवश्यक है । धैर्य के बिना निश्चय तथा साधन के खण्डित हो जाने का भय है । राजधानी का अर्थ आत्म स्थिति है । कब पहुँचूँगा ? भगवान जानें । किन्तु मैं अपनी ओर से पूरी सावधानी, समर्पणपूर्वक प्रयत्न, साधन के द्वारा भरसक यत्न करूँगा । वास्तव में मेरा स्वरूप चैतन्यमय है । चैतन्य में स्थित होने का प्रयत्न ही साधन है ।

अर्थात् मैं ही पथ हूँ । चैतन्य ही प्रकाश है, चैतन्य से ही जगत प्रकाशमय है । चैतन्य ही ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान तथा कर्मेन्द्रियों को कर्म के योग्य बनाता है । चैतन्य ही वृत्ति, विचार, संकल्प भाव, वासना तथा विकारों को प्रकाशित करता है । मैं अहम् के कारण अपने स्वभाव पर आवरण डाले हुए हूँ, किन्तु चैतन्य पथ पर आरूढ़ होकर, मैं चैतन्य स्थिति को, प्रभु-कृपा से प्राप्त कर लूँगा । यह मेरा दृढ़ निश्चय है ।

जगत में अब तक जो कुछ हुआ है, वर्तमान में जो कुछ है, भविष्य में जो कुछ भी पदार्थ, वस्तु, दृश्य अथवा परिस्थिति उदय होगी, सब चैतन्य के स्पन्दन का ही परिणाम है । सब कुछ चैतन्य की क्रियाशीलता है, चैतन्य ही सब का आधार है, वही चैतन्य मेरा स्वरूप है । चैतन्य इस भौतिक देह को क्रियाशीलता तथा अनुभूतियाँ प्रदान करता है । नाड़ियों में रुधिर का प्रवाह, अन्न का पाचन, सुख-दुःख का अनुभव, प्रारब्ध का भोग, सब कुछ चैतन्य के कारण ही संभव है । संस्कारों का संचय, वृत्तियों का उदयास्त तथा प्रारब्ध का फलदान सभी चैतन्य के ही आश्रित हैं । परमात्मा ही चैतन्य है । सारा दृश्यमान जगत उसी की एक स्थिति विशेष है ।

परमात्मा के नाम भेद में अन्तर हो सकता है, किन्तु सत्ता रूप में वह एक ही है । उसके नाम तो जीव अपनी श्रद्धा, भावना तथा अनुभव के अनुरूप रख लेता है तथा नाम को लेकर एक – दूसरे से विवाद करता है । उस परमात्मा का कोई रूप नहीं, तो भी सभी रूप उसी के ही हैं, क्योंकि उसकी सत्ता के बिना कोई रूप संभव नहीं है । वह चराचर सभी जीवों में विराजमान है । तिलमात्र स्थान भी उससे रिक्त नहीं अर्थात् वह सर्वव्यापक है । जीव या मनुष्य को उसे प्राप्त नहीं करना है । प्राप्त करना तो एक औपचारिक प्रयोग मात्र है । प्राप्त तब किया जाए जब वह कभी अप्राप्त होता हो । जीव के अहम् के कारण परमात्मा अप्रकट हो गया है । आवरण को हटाकर, केवल उसे प्रकाशित अनुभव करना है । मैं चाहता हूँ कि इस जीवन में अधिक से अधिक प्राप्त कर लूँ । अभी तक धन-वैभव, सुख–सुविधा जो कुछ भी प्राप्त किया है, कुछ भी परमात्मा की प्राप्ति से अधिक नहीं ।

इसके लिए साधक में धैर्य, उत्साह तथा दृढ़ निश्चय की आवश्यकता है । सतत् साधना तथा सत् कर्मों की अनिवार्यता है । ऐसा आगाशा का उपदेश है जो वह स्वयं अदृश्य रहकर, पिछले सात हज़ार वर्षों से जगत को देते आ रहे हैं । इसके लिए वह किसी व्यक्ति को माध्यम बनाकर, उसमें आवेश पैदा करते हैं । साधकों को चैतन्य का प्रत्यक्ष अवलम्बन प्रदान करते हैं । संभव है बीच-बीच में जगत से उदासीन होकर वह अपने आपको पूर्ण रूप से परमात्मा से भी जोड़ लेते हों, किन्तु कुछ समय के पश्चात् वह फिर से, जगत-कल्याण के काम में जुट जाते हैं ।

जीव का कल्याण कोई जीव नहीं करता, चैतन्य शक्ति ही करती है । शारीरिक गुरु केवल माध्यम होता है । गुरु में यदि गुरुत्व का अभिमान आ जाए तो यह उसका मिथ्या अभिमान होता है । क्योंकि वास्तव में वह गुरु है ही नहीं । संभवतया इसीलिए गुरुपद परम्परा से स्थापित करने का विधान है । जिसमें परमगुरु के वास्तविक गुरु होने का नियम है ताकि गुरु, अपने गुरु की सेवा समझकर, गुरु कार्य करे जिससे उसमें गुरुपने का अभिमान न आने पाए ।

(३) शुक्रवार सायंकाल २५ मई १९५६ ध्यान के लिए सुझाव।

"अपने आपसे कहो कि आप जो कार्य कर रहे हैं, उसमें आप की दक्षता बढ़े। इसके पश्चात् अपने स्वास्थ्य के लिए प्रार्थना करो। फिर अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निवेदन करो। अपने आपसे कहो कि आप अधिक सहनशील तथा धैर्यवान बनें। यह चाहो कि तुम निन्दा से बचे रहो। यह चाहो कि तुम्हारा व्यवहार नकारात्मक न हो। यह माँगों कि तुम बुराई--घृणा मिटा सको। यहं कामना करो कि तुम ईर्ष्या, द्वेष तथा शत्रुता से उबर सको। अपने आप से माँगों, अपने आप से चाहो कि आत्मा तुम्हारे समक्ष प्रत्यक्ष हो सके। तुम चाहो कि वह मित्रवत् सहकारी एवं शिक्षक बने। अन्ततः चाहो कि तुम में सदा दया भाव हो।" **–आगाशा**

भावार्थ– यहाँ साधन में बैठते समय, भावना करने का सुझाव दे रहे हैं। साधन तो जो होगा सो होगा, किन्तु साधन से पूर्व भगवान से अपने विकारों को शान्त करने के लिए प्रार्थना करने से, साधन में पवित्रता आ जाती है। सर्वप्रथम यह प्रार्थना करने के लिए कहा गया है कि जो काम हम कर रहे हैं, अर्थात् साधन कर रहे हैं, उसमें हम दत्तचित्त होकर लग जाएँ। जो हम सेवा भाव से काम करते हैं, उसमें हमें दक्षता मिले। जो हम दीन-दुखियों की सहायता करते हैं, उसमें सफलता मिले। जो हम जप-जाप या पूजा-पाठ करते हैं, उसमें हम लगे रहें। उसके पश्चात् सुस्वास्थ्य की कामना की गई है। योग दर्शन में भी व्याधि को ही सर्वप्रथम विघ्न माना है। यदि कभी-कभी किसी कारणवश स्वास्थ्य कुछ गड़बड़ा भी जाये तो मन इतना स्वस्थ बना रहना चाहिए कि शारीरिक अस्वस्थता को भली-भाँति सहन कर सके।

अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए निवेदन करो। पेट में भोजन होगा तभी सेवा-भजन संभव है। यहाँ मौजमस्ती के लिए धन की याचना करने की बात नहीं कही गई वरन् आवश्यकता की पूर्ति की बात कही गई है।

धैर्य तथा सहनशीलता साधन के आवश्यक अंग हैं ही। यदि उसके लिए प्रभु से याचना की जाये तो उसमें कुछ गलत बात नहीं है। सहनशीलता पर जितना लिखा जाये कम है। सहनशीलता मन में संतोष का कारण है, सुख-दुःख में चित्त की सम-स्थिति प्रदान करती है तथा मन शान्त बना रहता है। यह सारी बातें साधन में उन्नति के लिए श्रेयस्कर हैं। फिर निन्दा से बचने के लिए कहा गया है। निंदक का मन सदा चंचल बना रहता है। निंदनीय में वह दोष चाहे हों या नहीं, कालान्तर में निंदक में अवश्य पैदा हो जाते हैं। निंदा करने का यह भी अर्थ है कि हम जगत को सत्य मानते हैं, इसलिए निंदा से बचना ही साधन का मार्ग है। बुराई, राग-द्वेष, घृणा इनको भगा दो। आत्म स्थिति की जिज्ञासा करो।

अन्त में कहा कि दयाभाव को हृदय में धारण करो । दया हृदय की कोमलता है । जब तक हृदय कोमल नहीं होगा, पाषाणवत् बना रहेगा । पाषाण हृदय भगवत् प्राप्ति के लिए अयोग्य है । कोमल हृदय में ही भगवान के प्रति प्रेम उदय हो सकता है ।

यह हैं आगाशा के सदुपदेशों के कुछ नमूने । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आगाशा सांसारिक बातें नहीं करते, केवल प्रभु-प्रेम तथा अध्यात्मिकता की ही चर्चा करते हैं । वह संसार रूपी बंधन से छुड़ाने के लिए प्रयत्नशील हैं । आसक्ति के त्याग की बात कहते हैं । साधन तथा सेवा में लगाते हैं । वह बुद्धि में विवेक तथा हृदय में कोमलता जाग्रत करते हैं ।

महाराजश्री यदाकदा आगाशा की चर्चा किया करते थे । आगाशा ज्ञान मंदिर की एक साधिका श्रीमती बैटी सैपाग नियमित रूप से मंदिर के आयोजनों में जाया करती थी । उसका महाराजश्री से पत्र व्यवहार भी था । बात हुई तो महाराजश्री ने बैटी के आए हुए कुछ पत्र तथा उसे दिए गए अपने कुछ उत्तर मुझे दिखाए । कहा, "पत्र तो और भी थे, बाकी पता नहीं कहाँ गए ! यहाँ तो यही हैं ।" आठ पत्र बैटी के थे, जिनमें से दो नववर्ष के अभिनन्दन कार्ड थे । चार पत्र महाराजश्री के थे । एक पत्र में बैटी ने लिखा था–

"पिछले दो-तीन महीनों से, विशेष कर कुछ सप्ताहों से स्वामी आगाशा ने आपकी आपके आश्रम की तथा आपके द्वारा किए जा रहे कार्यों की चर्चा की है । यहाँ तक कि उनके एटलांटा (अमेरिका का एक नगर) के जाग्रत गुरु ने भी आपकी चर्चा की है । आप कितने विस्मयकारी व्यक्ति हैं तथा अपने सुन्दर आश्रम में कितना कठिन कार्य कर रहे हैं, आगाशा के सहयोगी डोबा ने भी आपके सुन्दर आश्रम की चर्चा की है । पिछले सप्ताह के अन्त में, आगाशा हमें एक आध्यात्मिक भ्रमण के लिए डोबा तथा अन्य गुरुओं के साथ आपके आश्रम में ले गए थे । मैं नहीं जानती कि आप हमारी उपस्थिति के बारे में सचेत थे कि नहीं ?

"पिछले सोमवार, साप्ताहिक आयोजन में, आगाशा ने आपके आश्रम के संबंध में विस्तार से बताया । उन्होंने कहा कि आप उनके सात हजार वर्ष पूर्व के दो सौ तिहत्तर साथियों में से एक हैं तथा वह आपके द्वारा सम्पन्न कार्यों से पूरी तरह परिचित हैं । आप एक चमत्कारिक लक्ष्य को लेकर चल रहे हैं ।

"मैं यह सभी चमत्कारी बातें आपकी चापलूसी करने के लिए नहीं कर रही हूँ । चूँकि इन्हें हमारे गुरु आगाशा ने बताया है अतः यह बातें बहुत ही पवित्र तथा सम्मानजनक हैं । अब उन्होंने व डोबा ने पिछली रात यह बताया कि हम लोग आपके आश्रम में एक सप्ताह बिताएँ । यह एक बहुत ही गर्व की बात होगी ।

"आगाशा के लिए आप इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि पिछले कुछ समय में उन्होंने आपके आश्रम की कई यात्राएँ कीं । जिस प्रकार आपके विषय में उन्होंने सब बताया, उससे पता

लगता है कि आप यह सब जानते हैं । आगाशा ने हमें बताया कि आपको हमारी मण्डली के विषय में सब पता है तथा यह कि आपने काफी लेखन कार्य किया है ।

"जो शिक्षा आप दे रहे हैं, वही आगाशा की सात हजार वर्ष पुरानी शिक्षा है । यह मेरे लिए कितने हर्ष की बात है कि मैं आगाशा तथा आपके बीच माध्यम का काम कर रही हूँ ।"

टिप्पणी– जैसा कि मैंने लिखा है कि आगाशा अदृश्य महापुरुष हैं, उनकी देवास यात्राएँ भी अदृश्य रूप से ही होती हैं । संभव है महाराजश्री को उनके आगमन का ज्ञान हो । महाराजश्री का अन्य भी कुछ अदृश्य महापुरुषों से संपर्क था, ऐसा उनकी बातचीत से संकेत मिलता था । आगाशा के जाग्रत गुरुओं से भाव, उन लोगों से है जो आगाशा के आवेश से लाभान्वित थे तथा अन्य लोगों का मार्गदर्शन करते थे । डोबा उन गुरुओं में से एक थे । वास्तव में यह आश्चर्यजनक है कि आगाशा, स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज के बारे में उनके साधन तथा आश्रम के विषय में सब जानते थे तथा माध्यम के द्वारा सब बातें अपने साधकों को बतलाते थे । महात्माओं के हृदय की थाह पाना बहुत कठिन है । महाराजश्री आगाशा की बात तो करते थे किन्तु उनके विषय में सारी बातें संभवत: नहीं करते थे । हो सकता है हम लोगों को इस योग्य न समझते हों ।

बैटी ने एक पत्र में लिखा, "१९५५ का वर्ष शीघ्र ही समाप्त होने वाला है । मेरे जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना आपसे संपर्क कर लेना तथा आपके आगाशा से संपर्क का माध्यम बनना है । मेरे लिए यह इतना चमत्कारी है क्योंकि यह जीवन्त एवं सुन्दर है ।

"आगाशा प्राय: कक्षा में आपके विषय में बात करते हैं । हाल ही में उन्होंने बताया कि आपकी शिक्षा आगाशा की शिक्षा के ही समान है, आपका आश्रम आनन्द आश्रम है क्योंकि वहाँ आनन्दानुभूति होती है । उन्होंने यह भी कहा कि २६ जनवरी को वह सूक्ष्म रूप में, आपको देखने देवास गए थे । आप पढ़ने में बहुत व्यस्त थे । उन्होंने आपके पीछे खड़े होकर देखा कि आप संस्कृत भाषा का कोई ग्रन्थ पढ़ रहे थे । वह कुछ देर देखते रहे तथा पाया कि आप वही ग्रन्थ पढ़ रहे थे जो आगाशा ने ही सात हजार वर्ष पूर्व लिखा था ।"

एक अन्य पत्र में वह लिखती हैं कि मैंने आपका पत्र अपने शिक्षक मौकेती को भी दिखाया । उन्होंने आपके पत्र में बड़ी रुचि दर्शाई । शुक्रवार २० मई को, हजारों वर्ष पहले बुद्धत्व को प्राप्त, आगाशा के गुरु कोमा कोबा ने बताया कि साढ़े आठ बजे, आप हमारी कक्षा में पधारे थे । मैं नहीं जानती कि आपका अनुभव कैसा था । मुझे लगता है कि कभी हम आपका संभाषण सुन पाएँगे ।

एक पत्र में बैटी ने लिखा कि अपने पिछले पत्र में आपने मुझसे कहा था कि मैं स्वामी आगाशा से पूछूँ कि क्या वह दोपहर के स्थान पर रात्रि के समय, आपको सानिध्य का लाभ

प्रदान कर सकते हैं ? मैं ने इस बारे में पूछा तो उन्होंने कहा कि निश्चित ही यह आपकी सुविधानुसार होगा ।

रविवार की साँझ को एक आश्चर्यजनक गुरु का आविर्भाव हुआ । जो भारत में हजारों वर्ष पूर्व वर्तमान थे । उन्होंने बताया कि वे भारत में कई गुरुओं के संपर्क में हैं । इनमें से एक का आश्रम बहुत ही रमणीक है । उन्होंने यह भी बताया कि वह आगाशा की शिक्षाओं को लिपिबद्ध कर रहे हैं तथा कुछ ही समय पहले आगाशा तथा डोबा उनके समक्ष प्रकट हुए थे । यह जानकर मैं कितनी हर्षित हूँ । इस भारतीय गुरु ने यह भी बताया कि स्वामीजी के पास एक बंद संदूक रखा हुआ है जिसे शीघ्र ही वे यहाँ पहुँचाने वाले हैं तथा यह कि स्वामीजी सूक्ष्म रूप से यहाँ प्रकट हो कर वार्ता करेंगे । यह सब, यहाँ काम कर रहे कुछ शिष्यों के माध्यम से संभव होगा ।

टिप्पणी– महाराजश्री आगाशा के विषय में सामान्य चर्चा ही किया करते थे । आगाशा का मिलना अथवा सूक्ष्म शरीर से उनका आगाशा ज्ञान मंदिर में जाना तथा इस संबंध में अन्य सूक्ष्म अनुभूतियों के विषय में सार्वजनिक रूप से कभी कुछ नहीं कहा । संभव है किसी व्यक्ति विशेष से, जिसे इस योग्य समझा हो, बात करते हों । रात के साढ़े नौ बजे से प्रातः साढ़े तीन बजे तक वह अपने कमरे में अकेले ही होते थे । दिन के समय भी, प्रायः कुर्सी पर बैठे हुए, ध्यान की अवस्था में ही रहते थे । उस समय वह कहाँ जाते थे, क्या करते थे या अन्तर में क्या देखते थे, कौन जाने ?

यहाँ प्रश्न यह पैदा होता है कि जब महाराजश्री का आगाशा से सीधा संपर्क था तो वह सीधे उन्हीं से कह सकते थे । बैटी को पत्र लिख कर, आगाशा से पूछने के लिए क्यों कहा ? ऐसा उन्होंने संभवतः बैटी को आदर देने के लिए किया । दोपहर के स्थान पर, रात को आगाशा को सानिध्य प्रदान करने को कहना, संभवतः इस कारण होगा क्योंकि रात को महाराजश्री अकेले रहते थे ।

एक पत्र में बैटी ने जिज्ञासा प्रकट करते हुए लिखा कि मुझे अब भी भरोसा है कि किसी दिन आप यहाँ आकर, देवता आगाशा व दूसरे देवजन के प्रकटीकरण की क्रिया को स्वतः देख सकेंगे । देवता आगाशा कहते हैं कि इस मार्ग में मुख्य बात धैर्यपूर्वक चलना तथा अपनी चेतना का निरंतर विकास करते रहना है ।

टिप्पणी– यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि आगाशा के प्रकटीकरण की क्रिया को देखने के लिए लास एंजलिस जाना क्यों आवश्यक है ? जबकि आगाशा देवास आते ही थे, तो वह प्रकटीकरण की क्रिया का किसी के भी माध्यम से देवास में ही प्रदर्शन कर सकते थे । इस का उत्तर यह है कि आगाशा जैसा ही कार्य स्वामी विष्णुतीर्थ महाराज शक्तिपात्

द्वारा देवास में कर ही रहे थे जिसमें चैतन्य की क्रियाएँ प्रकट होकर मन की निर्मलता सम्पादित होती थी । आगाशा तथा महाराजश्री का संबंध बहुत गहरा था । वह कहाँ, क्या, किस रूप में करते थे, इसको वही जान सकते थे ।

बैटी आगाशा के बारे में, महाराजश्री को कुछ न कुछ लिखा ही करती थी । एक बार उसने लिखा, "आपने पत्र में यह लिखा है कि इन अदृश्य महान आत्माओं के संपर्क के विषय में आप बहुत सजग नहीं हैं । मैं भी ऐसा अनुभव करती हूँ । हमारे स्वामी आगाशा कहते हैं कि छूना व देखना हमारी भौतिकता को ही तुष्ट करता है, किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से उसका महत्त्व बहुत कम है । दो अवसरों पर उन्होंने यह बताया कि वह आपके पास गए तो आपने मेरा स्मरण किया । इसके लिए मैं आपकी बहुत आभारी हूँ ।"

टिप्पणी– इस पत्र में यह दर्शाया गया है कि महाराजश्री उन पुण्य आत्माओं के बारे में, जो अदृश्य रहकर साधकों की सहायता करती हैं, के प्रति इतने सजग नहीं थे । इन पुण्यात्माओं की सहायता की आवश्यकता प्राय: साधकों को होती है क्योंकि उनकी साधना का स्तर ही ऐसा होता है जिसमें कई प्रकार की समस्याएँ तथा कठिनाइयाँ आती हैं । यह अड़चनें उनकी आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग अवरुद्ध किए होती हैं किन्तु महाराजश्री तो साधना की यह दुखदायी अवस्था पार कर चुके थे । उनके साधन में अब कोई भी समस्या या कठिनाई नहीं थी, इसलिए उन्हें अब किसी सहायता की भी, कोई आवश्यकता नहीं रह गई थी । फिर भी उनका अदृश्य पुण्यात्माओं से यदाकदा संपर्क होता रहता था । वह पुण्यात्माएँ महाराजश्री से मिलने अथवा उनके दर्शन करने आती थीं । देवास का क्षेत्र भी अदृश्य महापुरुषों का निवास स्थान है, जिनके दर्शन किसी भाग्यशाली को ही होते हैं । महाराजश्री भी कुछ के संपर्क में अवश्य थे किन्तु उन्होंने उनसे किसी आध्यात्मिक सहायता की अपेक्षा नहीं की । यदि कभी मिल गए तो ठीक, न मिले तो भी ठीक ।

इस बात ने मुझे अवश्य ही सोचने पर विवश कर दिया । मेरा मन मलिन था, समस्याओं, कठिनाइयों तथा अभावों से भरा हुआ । मुझे अवश्य ही सहायता की आवश्यकता थी, किन्तु अभी तक मुझे किसी भी अदृश्य पुण्यात्मा की कृपा नहीं मिल पाई थी । कई बार मैं निराश हो गया । सहसा जैसे एकदम किसी ने मुझे झकझोड़ दिया, गहरी नींद से उठा दिया । जब प्रत्यक्ष महाराजश्री का वरद्हस्त सिर पर है तो अन्य किसी अदृश्य पुण्यात्मा के दर्शन तथा कृपा प्राप्ति की जिज्ञासा ही क्यों ?

दूसरी बात जिसने मुझे विचलित कर दिया, वह है आगाशा का यह कथन कि छूना तथा देखना भौतिकता को तो तुष्ट कर सकता है किन्तु इसका आध्यात्मिक महत्त्व कम ही है, जबकि मैं तो अभी तक छूने और देखने में ही उलझा हूँ । क्या होगा मेरा ? कैसे निकलूँगा इस संकट से ? छूना तथा देखना शरीर की निम्नतम क्रियाएँ हैं, जिनके माध्यम से चित्त पर

जगत का प्रतिबिम्ब पड़ता है । इसी से जगत का ज्ञान होता है । जगत का ज्ञान ही बंधन का कारण है । मेरी इन्द्रियाँ तो अभी पूरी तरह सक्रिय हैं । जगत का ज्ञान अन्दर में उंडेले जा रही हैं । गुरु महाराज ही रक्षा करें ।

बैटी के पत्रों में महाराजश्री के प्रति आत्मीयता एवं छोटे बच्चों की तरह निश्छलता एवं भोलापन है । अब महाराजश्री के द्वारा लिखे गए पत्रों में जिस स्नेहशीलता तथा सद्‌भावना के दर्शन होते हैं, थोड़ा उसका आनन्द भी लिया जाए ।

महाराज श्री ने एक पत्र में लिखा, "प्रिय बैटी, तुम्हें श्री जेम्स क्यूरा की कृत्ति Telephone Between worlds (लोकों के मध्य दूरभाष) भेजने के लिए मेरा हार्दिक धन्यवाद । धार्मिक दृष्टि से मैं हिन्दू धर्म का पक्का अनुयायी हूँ तथा भारत भूमि के प्राचीन ऋषियों के विचार, अनुभव तथा उपदेशों पर आधारित उपनिषदों एवं गीता को मानता हूँ । मुझे लगता है कि लगभग सात हजार वर्ष के पश्चात् आगाशा दर्शन एवं शिक्षाओं से वह स्वर प्रतिध्वनित हो रहे हैं, हमारे बीच प्रचलित प्राचीन काल गणना के अनुसार, भगवान् कृष्ण द्वारा कुरुक्षेत्र में अर्जुन को दिए गए गीता के उपदेश से, पाँच हजार वर्षों से भी पहले वेद तथा उपनिषद् लिखे गए थे, तुम्हारे द्वारा भेजी पुस्तक पढ़कर, मुझे यह जान कर हर्ष हुआ कि वह दिन निकट आ रहा है, जब सारा संसार प्राचीन ऋषियों के ज्ञान को भिन्न प्रतीत होते हुए भी, सभी धर्मों का ऐसा मूल स्वीकार कर लेगा, जिसका लक्ष्य एक समान है ।

"हम हिन्दू पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं तथा आत्म साक्षात्कार के लिए देहान्तरण को स्वीकार करते हैं । हम इस पृथ्वी के अतिरिक्त अन्य लोकों में भी विश्वास करते हैं जिनमें से छः उत्तरोत्तर हमारी धरती को आवृत्त करते हैं । इनके नाम है, - भूः (पृथ्वी) भवः (मध्याकाश) स्वः (स्वर्ग) महा (गुरुलोक) जनः तपः एवं सत्य (पूर्ण सत्य के लोक) अन्तिम तीन ब्रह्मलोक ही हैं, जहाँ मुक्त आत्माएँ वास करती हैं । ब्रह्म का शब्दशः आशय ईश्वर की समष्टि विधायक चेतना से है जो स्वभावतः परम व भावातीत है । सभी वैयक्तिक जीव आत्माएँ इसी ईश्वरी चेतना के वस्तुगत, व्यक्तिनिष्ठ चेतन पुँज मात्र हैं ।

"उपनिषदों के दर्शन को वेदान्त अर्थात् ज्ञान का अन्त कहा गया है । इसमें यह भी कहा गया है कि सभी आत्माएँ ब्रह्म के समान हैं । वे उससे एकाकार हैं किन्तु अपने अस्तित्व के मूल में स्थित चेतना के अहम् के कारण, उससे भिन्न प्रतीत होती हैं । यहाँ तक कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि द्वारा अनुभूत, यह वस्तुनिष्ठ संसार भी उन सभी के साथ उसी आदि चेतना का प्रतिबिम्ब है ।

"आत्माओं के निवास के भिन्न-भिन्न लोक, इसी वस्तुनिष्ठ चेतना के विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को ही प्रकट करते हैं, जिनका आरंभ वनस्पति जीवन से होता है ।

"क्या संक्षेप में यह आगाशा का ही दर्शन नहीं है ? मैं आगाशा को संस्कृत के आकाश शब्द से, यदि उच्चारित करना चाहूँ तो मुझे क्षमा कर देना । यह शब्द संस्कृत के काश धातु से बना है तथा इसमें आ उपसर्ग जोड़ दिया गया है । इसका अर्थ प्रकाशवान है ।

"उपनिषदों के अनुसार आकाश ब्रह्म का शरीर है । वर्तमान में आकाश शब्द का भौतिक अर्थ में शून्य आवरण हो गया है, या सूक्ष्म स्तर पर इसका अर्थ चित्ताकाश है । श्रद्धेय स्वामी आगाशा ने अपने आप को प्रकाशवान तथा विश्व चेतना में समाविष्ट, ठीक ही कहा है ।

"पुस्तक में की गई भविष्यवाणी से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ । वह इसलिए भी है कि यहाँ भारत में, ग्वालियर शहर के निकट स्थित एक ग्राम में एक नवयुवक के माध्यम से एक गुरु प्रकट होते थे । उन्हें देखने का अवसर हमारे कुछ जीवित मित्रों को भी मिला । इनके द्वारा की गई भविष्यवाणियों की आपकी पुस्तक में दी गई भविष्यवाणियों से बहुत समानता है । इन गुरु महोदय ने अपना नाम नहीं बताया, किन्तु उस माध्यम के द्वारा निरन्तर भविष्यवाणियाँ कीं । यह माध्यम कभी अचेत नहीं होता था तथा बाद में व्याख्या भी करता था । वह अपने गुरु को प्रत्यक्ष देख सकता था, जबकि दूसरों के लिए वह अदृश्य ही बने रहते थे । वह गुरु की वाणी भी सुनता था, जबकि दूसरों को कुछ सुनाई नहीं देता था । माध्यम जब चाहता था, गुरु उस के पास आ जाते थे । वह युवक १९४२-४३ के बीच स्वर्गवासी हुआ । उसने भविष्यवाणी की थी कि अंग्रेज बिना खून खराबे, भारत को आजाद करके चले जाएँगे । रियासतें तथा जागीरें समाप्त हो जाएँगी ।

"इस उदाहरण में माध्यम के समक्ष गुरु पूर्ण चेतनावस्था में प्रकट होते थे । रिचर्ड जेनर के साथ ऐसा क्यों नहीं होता । मैं सोचता हूँ कि ऐसा संभव होना चाहिए । यदि ऐसा होता है तो उससे आध्यात्मिक विकास में बड़ी सहायता मिलेगी । आपकी शाला के शिक्षक इस सुझाव पर विचार कर अपने गुरु का मार्गदर्शन प्राप्त करें । मैं चाहता हूँ कि रिचर्ड जेनर के माध्यम से जो कुछ कहा जाता है, उसके प्रति रिचर्ड जेनर को सजग रहना चाहिए । आवश्यकता इस बात की है कि वह एक जीवित दूरभाष बनें ।

"देवास में मेरे एक मित्र का लड़का है जिसके पास कुछ आत्माएँ आती हैं । लड़के के पिताजी उस के स्वास्थ्य के बारे में चिंतित हैं । मैं उनसे कहूँगा कि आपके शिक्षण संस्थान से संपर्क करें ।"

एक अन्य पत्र में महाराजश्री ने लिखा, "आपका पत्र मैंने बड़ी रुचि से पढ़ा । इसे उपस्थित आश्रमवासियों को भी पढ़ाया । सबने आपकी लिखी बातों में रुचि दिखाई । हमारा यह आश्रम गूढ़ विद्या (हमारे शब्दों में योग-विद्या) का केन्द्र है । इसमें साधक स्त्री-पुरुष अध्यात्म विकास के लिए मेरे द्वारा दीक्षित किए जाते हैं । जब साधक मेरे संपर्क

में ध्यान कक्ष में बैठते हैं तो उनकी प्रसुप्त अध्यात्म शक्ति जाग्रत हो जाती है । मैं एक सन्यासी हूँ । संन्यासी का अर्थ उस व्यक्ति से लगाया जाता है जिसने पारिवारिक एवं सांसारिक संबंधों का परित्याग कर दिया हो, संन्यासी साधु कहलाता है । संन्यास का भावार्थ त्याग है । स्वभावत: मैं तथा मेरे निकट सहयोगी, संसार भर में आध्यात्मिक कार्यकलापों में रुचि रखते हैं ।

"आपने जो संकेत भेजे, उन पर समुचित ध्यान दिया गया है । कक्षा के आरंभ में आप जो वंदना करते हैं, वह आश्चर्यजनक रूप से हमारी धारणाओं के अनुरूप है । हमारे शास्त्रों में ध्यानादि करने से पूर्व इस तरह की धारणाएँ करने का विधान है । मैं ब्रह्म हूँ, मैं प्रकाश हूँ, मैं ज्ञान हूँ, सर्वानन्द हूँ, शान्ति हूँ, इत्यादि । इस तरह हमारे लिए यह नई बात नहीं है । हम ध्यान में, मन को समस्त सांसारिक व शारीरिक भावों से शून्य कर लेते हैं । तथा अपनी व्यष्टि चेतना को समय, स्थान तथा सारी भौतिकता से परे, सूक्ष्म में रूपान्तरित कर लेते हैं ।"

फिर महाराजश्री ने बेटी को एक अन्य पत्र में लिखा था, "स्वामी आगाशा की पवित्रात्मा, जो मेरी समझ में ईश्वर तुल्य ही है, के द्वारा मेरे विषय में जो भी कहा गया है, वह स्वयं के विषय में मेरी जानकारी से भी कहीं आगे है तथा इसीलिए विस्मयकारी है । मेरे माध्यम से जो कार्य हो रहा है वह इतना छोटा है कि उसके लिए प्रयुक्त, इतने उच्च विशेषण मुझे लज्जित करते हैं । यह जानकर प्रसन्न हूँ कि आप आगाशा तथा डौना के साथ, यहाँ की सूक्ष्म आध्यात्मिक यात्रा पर निकली थीं । मुझे याद है कि एक दिन, आधी रात को, जब मैं बिस्तर पर था तब उनके साथ यहाँ करीब आधे घण्टे तक आपकी उपस्थिति का आभास हुआ था ।

"संभवत: आप जानती हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में एक दूसरे व्यक्ति का भी वास है । यह दूसरा व्यक्ति मनुष्य का आध्यात्मिक साथी है । यद्यपि वह सुप्तावस्था में रहता है । जब एक साधारण मनुष्य की यह प्रसुप्त चेतना जगा दी जाती है, तो मनुष्य की उसके चिरंतन सहयात्री से भेंट होती है । उस समय वह आध्यात्मिक दृष्टि से जाग उठता है तथा ईश्वर से एकाकार हो जाता है । वेदों में कहा गया है कि जीव की आत्मा उसके हृदय प्रदेश में वास करती है तथा वह साक्षात् ईश्वर सी है । अपनी स्थूल चेतना में मुझे आगाशा द्वारा मेरे विषय में कही गई बातों का ज्ञान नहीं है, किन्तु मेरी अन्तरात्मा सब जानती है तथा जितना आवश्यक होता है, मुझे बताती है । वह मुझे भूत या भविष्य का उद्घाटन नहीं करती, जिसका कारण भी उसे अच्छी तरह ज्ञात है । संभवत: यह मेरे भले के लिए ही है ।

"आपके आने का समाचार मुझे इसी अन्तरात्मा ने ही दिया था । मैं सोचता हूँ कि आगाशा, इस संबंध में अधिक प्रकाश डाल सकते हैं, क्योंकि जब वह मुझ से मिलते हैं तो

इस अन्तरात्मा से अवश्य साक्षात्कार होता होगा । अन्तरात्मा की सहायता से मैं जिज्ञासु साधकों में आंशिक रूप से शक्ति जाग्रत करता हूँ । आगे उन साधकों को, अपने प्रयत्नों से शक्ति को गति देना पड़ती है ।

"जहाँ तक रिचर्ड जेनर का संबंध है, मुझसे कहा गया है कि जो काम वे कर रहे हैं, वह उनके द्वारा ही किया जाना है तथा उनके उच्चतर भूमिकाओं में स्थित होने पर यह काम और भी विकसित होगा । आप के संबंध में कहा गया कि आप एक श्रेष्ठ आत्मा हैं ।

"हमारे आश्रम के एक साधक का कहना है कि सप्ताह भर पहले दोपहर के समय, दो-एक अवसर पर उसने दो पुरुष आत्माओं की उपस्थिति का आभास किया । आप के पत्रों को पढ़कर, उस का ऐसा अनुमान है कि वह व्यक्ति आपके ही समीप के थे । क्या यह सही है ?"

टिप्पणी– यद्यपि महाराजश्री आगाशा तथा उनकी संस्था के साथ अंतरंग संबंधों के विषय में चर्चा प्राय: नहीं के बराबर करते थे, किन्तु इस पत्र से उसका कुछ संकेत अवश्य मिलता है । महाराजश्री ने पत्र में स्वीकार किया है कि आगाशा तथा उनके साथी देवास आते थे तथा उनके आने का महाराजश्री को आभास भी होता था । उन्हें यह भी पता था कि वह यहाँ कितनी देर ठहरे । दूसरी ओर महाराजश्री के लास एंजलिस ज्ञान मंदिर में उपस्थिति की बात आगाशा के अनुयायी कई बार कह चुके हैं । कैलीफोर्निया के ही एक अन्य साधक जैक मैलोट ने भी अपने पत्र में लिखा था कि आगाशा ने अनेकबार हमारे ज्ञान मंदिर में, महाराजश्री की उपस्थिति की जानकारी दी है । इस प्रकार दोनों महापुरुषों का, एक-दूसरे के स्थान पर सूक्ष्म स्तरों पर, अदृश्य रूप में आना-जाना था । अन्तर केवल इतना था कि आगाशा इस तथ्य से अपने अनुयायियों को यदा-कदा अवगत कराते रहते थे, किन्तु महाराजश्री इस विषय में मौन रहते थे । आगाशा कई बार अन्य लोगों को भी साथ लेकर देवास आते थे, किन्तु महाराजश्री सदैव ही अकेले लास एंजलिस गए थे । यद्यपि सशरीर महाराजश्री कभी भी अमेरिका नहीं गए । एक बार महाराजश्री के अमेरिका जाने की चर्चा जोरों से उठी भी थी, किन्तु बाद में महाराजश्री ने अपनी अनिच्छा जता कर बात समाप्त कर दी । एक दिन मुझसे कहने लगे, "मेरी अब किसी बात में रुचि नहीं है । अब तो जहाँ बैठा हूँ वहीं अमेरिका है । वैसे भी अब बूढ़ा होता जा रहा हूँ । अब अमेरिका जाने का काम तुम करना ।" भाव यह है कि यह आना–जाना सूक्ष्म, मानसिक स्तरों पर ही घटित होता था । महाराजश्री प्रकट नहीं करते थे, आगाशा उसे व्यक्त करते रहते थे । ऐसा क्यों था ? इसे दोनों महापुरुष ही ठीक समझ सकते थे ।

महाराजश्री ने लिखा है कि उन्हें रिचर्ड जैनर तथा बैटी के बारे में कहा गया, किन्तु यह नहीं लिखा कि किसने कहा । संभवत: यह महाराजश्री की अन्तरात्मा कहो या क्रियाशक्ति

कहो, की आवाज थी । महाराजश्री कहा भी करते थे कि क्रियाशक्ति साधकों से बातें भी करती है । वास्तव में साधक को अपने आपको उन्नत तभी समझना चाहिए जब क्रियाशक्ति उससे बातें करने लगे । इसका अर्थ यह है कि क्रियाशक्ति ने ही महाराजश्री से कहा ।

मनुष्य अत्यल्प बुद्धि है, चाहे ज्ञान का अखण्ड भण्डार अन्दर ही क्यों न लिए बैठा हो । उसे अपने अतीत तथा भविष्य की कोई जानकारी नहीं होती, किन्तु जानकारी का यह अभाव स्थूल-चेतना तक ही सीमित होता है । अन्तरात्मा में भूत, भविष्य तथा वर्तमान का सभी ज्ञान समाया होता है । जीव बहिर्मुखी होने से जगत को देखता है, अन्तरात्मा को नहीं । जगत में भी उसका ज्ञान वहीं तक सीमित है जहाँ तक उसकी इन्द्रियों की पहुँच है । उस ज्ञान में भी बहुधा भ्रान्ति हो जाती है तथा ज्ञान के स्थान पर अज्ञान ही उदय होता है । यही बात यहाँ महाराजश्री बैटी को लिख रहे हैं कि स्थूल चेतना से तो मुझे ज्ञान नहीं है । आगाशा जब मुझसे मिलते हैं तो मेरी अन्तरात्मा के साथ भी, अवश्य ही उनका संपर्क होता होगा । इसलिए वही बता सकते हैं कि मेरी अन्तरात्मा में क्या है ?

आगाशा के प्रकरण से यह स्पष्ट होता है कि अध्यात्म की यात्रा कितनी लम्बी है ? गंतव्य कितना दूर है ? तथा कितने साधन की आवश्यकता है ? आगाशा तथा महाराजश्री की आन्तरिक स्थिति के साथ सामान्य संसारी जीव की तुलना की जाये तो पता लगता है कि हम कहाँ खड़े हैं तथा पहुँचना कहाँ है ? जीव अभी जगत में ही फँसा है, आंतरिक यात्रा का आरंभ भी नहीं हुआ । अपने आपको साधक कहने-मानने वाले लोग भी जगत से हटने तथा अन्तर की ओर मुड़ने की स्थिति में अभी नहीं आए । अभी भी जगत विषय आकर्षित करते हैं, जरा सी बात में क्रोध आ जाता है, छोटी सी घटना भी चित्त को प्रभावित कर जाती है । राग-द्वेष की गहरी रेखाएँ, अभी पत्थर पर लिखे के समान अन्दर जमी बैठी हैं । अध्यात्म केवल बुद्धि कौशल का विषय नहीं । इस में छल-कपट तथा दिखावा नहीं चलता । अध्यात्म पथ में अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । जगत सत्य को झूठ तथा झूठ को सत्य सिद्ध करने में बड़ा कुशल है । इसी स्वार्थमय, दंभमय तथा मायामय जगत में रह कर, साधक को अपनी यात्रा पूर्ण करनी होती है । सामान्यतया साधक, जगत के दाँव-पेच सहन नहीं कर पाता तथा मार्ग भटक जाता है ।

आगाशा तथा महाराजश्री साधकों के आदर्श स्वरूप हैं । पर्वत के उच्च शिखर पर लक्ष्य रखकर, चढ़ाई चढ़ पाना सरल होता है । हम अभी नीचे खड़े हैं तो क्या हुआ ? यदि चलेंगे, चढ़ेंगे तभी कभी न कभी पहुँच पाएँगे । गिर गए तो फिर से उठ खड़े होंगे । भटक गए तो फिर सीधे मार्ग पर आ जाएँगे । मार्ग में किसी बड़ी शिला ने गिर कर अवरोध उत्पन्न कर दिया तो रास्ते से थोड़ा हट कर, शिला के दूसरी ओर पहुँच जाएँगे । किन्तु कितने साधक हैं जो गंभीरता से यह सब कर पाते हैं । अधिकांश तो क्रोध तथा अभिमान के ही

वशीभूत हैं । आगाशा कहते हैं कि हृदय में दयाभाव भरने के लिए भगवान से प्रार्थना करो, किन्तु लोग तो गिरते को और गिराते हैं । सब जगत में बुराई देखने में लगे हैं । यदि साधन करते भी हैं तो वृत्ति में वह गंभीरता नहीं जिसकी साधक से अपेक्षा की जाती है ।

आगाशा कहते हैं कि अधिक धैर्यवान तथा सहनशील बनो । निन्दा से बचते रहो । तुम भगवान से प्रार्थना करो कि तुम्हारा व्यवहार नकारात्मक न हो । यह माँगो कि तुम घृणा तथा बुराई मिटा सको । कामना करो कि तुम ईर्ष्या–द्वेष तथा शत्रुता से उबर सको । यह मार्ग श्रेय प्राप्ति का मार्ग है । इन बातों से लक्ष्य हटा कर कितना तथा कोई भी साधन करो, सब निष्फल है । जगत में यही हो रहा है । जब मैं अपनी मानसिक स्थिति देखता हूँ, तो मैं भी अभी अपने आपको भटका हुआ पाता हूँ । इस भटकन की ओर ध्यान जाने से मन और भी दुखी हो जाता है । कब होगी मन की शान्त स्थिति ? कब मन के विकार मेरा पीछा छोड़ेंगे ? अन्तर यात्रा की बात ही कहाँ, अभी तो जगत में ही उलझा पड़ा हूँ ।

भगवद् प्रेम के बिना साधन कैसा ? प्रेम-युक्त साधन ही साधन है । प्रेमी के मन के विकार प्रेमाग्नि में भस्म हो जाते हैं । कब जागेगा मेरे मन में, प्रभु चरणों में प्रेम ? कब उठेगी मेरे मन में प्रभु-वियोग की तड़प ? कब मेरा हृदय जगत-गुणों का त्याग कर, भगवद्-गुणों को धारण करेगा ?

जब महाराजश्री के प्रेममय शान्त व्यक्तित्व की ओर ध्यान जाता है तो मन में कुछ आशा बँधती है । अपना प्राप्तव्य तथा गंतव्य दिखाई देने लगता है । महाराजश्री ने जिस मार्ग पर चल कर ऐसी अवस्था प्राप्त की, उनकी कृपा से हमें भी वह मार्ग प्राप्त है । हम उस मार्ग पर क्यों नहीं चल पाते ? महाराजश्री हमारा आदर्श, प्राप्तव्य तथा शक्ति हैं ।

(८) यौगिक सिद्धियाँ

इसे महाराजश्री की एक कृपा ही समझना चाहिए कि मेरे मन का झुकाव कभी भी सिद्धियों की प्राप्ति की ओर नहीं रहा । यह भी ठीक है कि मेरी मानसिक स्थिति सिद्धियों को प्राप्त करने के अनुकूल कभी नहीं रही । यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त करने से पूर्व प्रत्याहार की स्थिति उदय होना आवश्यक है, जब कि मेरा मन अभी चंचल तथा अस्थिर था । ऐसी अवस्था में यदि सिद्धियों की कल्पना भी करता, तो केवल दिवा स्वप्न ही होता । मुझे यही चिन्ता थी कि किसी प्रकार मन की निर्मलता रूपी सिद्धि प्राप्त हो जाये, गुरुचरणों की सेवा रूपी सिद्धि में मेरी रुचि अवश्य थी, किन्तु उसमें भी बीच-बीच में, मनोविकार उदय होकर उपद्रव खड़ा कर देते थे । मेरा मन सदा ही आशा तथा हताशा के झूले में झूलता रहता था । वैसे सिद्धियों के बारे में महाराजश्री के विचार हृदय मंथन भाग एक में दिए जा चुके हैं, किन्तु आज एक साधक ने आकर, यही प्रश्न फिर खड़ा कर दिया । वह साधक काफी सुलझे हुए

तथा गम्भीर थे । महाराजश्री की व्याख्या शैली यहाँ भाग एक की शैली से बहुत भिन्न है ।

महाराजश्री ने कहा–

"सिद्धियाँ क्या हैं ? ईश्वरीय दिव्य शक्तियों का माया के अन्दर प्रकटीकरण । ईश्वरीय शक्ति के तीन पक्ष हैं, इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान । यह तीनों ही पक्ष सिद्धियों के माध्यम से प्रकट हो सकते हैं । वैसे इच्छा में भी क्रिया तथा ज्ञान होता है । इसी तरह क्रिया में भी इच्छा तथा ज्ञान, तथा ज्ञान में इच्छा और क्रिया होती है । जिस सिद्धि में जिस पक्ष की प्रधानता होती है, उसका नामकरण उसके अनुरूप किया जाता है । जैसे दूर दर्शन की सिद्धि ज्ञान प्रधान है, इच्छा प्रकट होने पर किसी वस्तु का प्राप्त हो जाना इच्छा प्रधान है तथा आकाश गमन क्रिया प्रधान है । वस्तुत: यह सभी सिद्धियाँ मनुष्य मात्र को स्वाभाविक रूप से ही प्राप्त हैं, किन्तु अहम् तथा जगदाभिमुखी वृत्ति के मायामय आवरणों से ढककर, विलुप्त हो गई हैं । ईश्वरीय शक्ति प्राणीमात्र में विद्यमान है अत: उसके गुण तथा सिद्धियाँ भी सभी जीवों में हैं। पक्षियों में आकाश गमन की सिद्धि प्रकट है तो जलचरों में जल-निवास की । कई पशु पक्षियों तथा कीड़ों को आने वाले मौसम का पूर्वानुमान हो जाता है । मनुष्य बौद्धिक विकास की सिद्धि को स्वाभाविक लिए हुए है जिसे अपने प्रयत्न से वह और भी अधिक विकसित कर सकता है । एक पशु के शिशु को यदि जल में फेंक दिया जाए तो वह तैरने लगता है । भाव यह है कि सभी सिद्धियाँ जीवों में विद्यमान हैं, क्योंकि ईश्वर सभी में विराजमान है । इसका अर्थ यह हुआ कि सिद्धियाँ कहीं बाहर से नहीं आतीं, अन्दर से ही प्रकट होती हैं ।

"मनुष्य नित्य प्रति आकाश में पक्षियों को उड़ते देखता है किन्तु उसके समीप यह कोई सिद्धि या चमत्कार नहीं है । पक्षियों की शरीर रचना ही इस प्रकार की है कि वह आकाश में उड़ सकते हैं । अब कल्पना करो कि किसी को कोई व्यक्ति उड़ता हुआ दिखाई दे जाए तो उसे वह एकदम चमत्कार या सिद्धि स्वीकार कर लेगा । उसकी आँखों के सामने केवल शरीर का आधार है, किन्तु यदि कोई पक्षी मृत हो जाए तो शारीरिक आधार के रहते हुए भी नहीं उड़ सकता, क्योंकि उड़ने वाली शक्ति क्रियारहित हो गई है । फिर एक गुब्बारा पंखरहित है किन्तु फिर भी उड़ता है, यहाँ उड़ने की क्रिया पंखों पर आधारित नहीं है, वह हलका होने से, हवा में उठता जाता है, किन्तु यह सभी विचार भौतिक स्तर पर ही हैं । इन सभी सिद्धियों का मूल कारण भौतिकता से दूर है । भौतिकता में केवल उसका अनुभव अथवा प्रकटीकरण होता है ।"

महाराजश्री ने सिद्धियों को दो भागों में विभक्त किया । समाधि से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ जो प्रथम स्थान पर हैं । समाधि का अर्थ यहाँ पर सम्प्रज्ञात से है, क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि संभव ही तभी होती है जब चित्त के सभी ज्ञान तथा क्रियाओं के साथ

सभी सिद्धियाँ भी आत्मा में विलीन हो जाती हैं । अहम् भाव, द्रष्टा भाव, समर्पण भाव कुछ भी नहीं रहता । आत्मतत्व ही केवल एक रह जाता है । अत: उसमें किसी सिद्धि की कल्पना की ही नहीं जा सकती । सिद्धियों के लिए अहम् आवश्यक है । अहम् तथा चित्त की क्रियाशीलता के बिना, सिद्धियों के प्रकट होने का कोई आधार नहीं है । सिद्धियाँ प्रकट करने के लिए साधना करना पड़ती है, किन्तु सच्चा साधक, यह साधना सिद्धि प्राप्त करने के लिए नहीं, सिद्धि के अवरोध को दूर करने के लिए करता है ।

सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति से पूर्व, साधक को बहुत कुछ करना होता हैं । प्रत्याहार अर्थात् मन-इन्द्रियों के अन्तर्मुख हुए बिना, धारणा-ध्यान-समाधि रूप संयम संभव नहीं । इस संयम के बिना सम्प्रज्ञात की प्राप्ति संभव नहीं तथा सम्प्रज्ञात के बिना सिद्धियों का प्रकटीकरण संभव नहीं । भाव यह है कि यौगिक सिद्धियाँ, आध्यात्मिक यात्रा के अन्तर्गत ही होती हैं, क्योंकि सिद्धियों की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते साधक का इन्द्रिय-जय, मनोजय सिद्ध हो चुका होता है । वह सिद्धियों को, साधन के एक पड़ाव के रूप में देखता है । फिर भी इस बात की संभावना है कि सिद्धियों के उदय हो जाने पर, साधक कहीं इन में आसक्त न हो जाए, इसलिए योग दर्शन इनको, साधन का अवरोधक बताकर, साधक को सावधान करता है ।

दूसरी सिद्धियाँ जप से प्राप्त होती हैं, जिनका स्थान यौगिक सिद्धियों से भिन्न है । जप साधना में भी प्रत्याहार आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना वृत्ति, मंत्र पर एकाग्र नहीं होती तथा एकाग्रता के बिना मन्त्र का देवता प्रकट होकर, सिद्धि प्रदान नहीं करता । वास्तव में सभी सिद्धियाँ चैतन्य शक्ति की क्रियाएँ ही हैं । सिद्धि के अन्दर कार्य कर रही शक्ति को, सिद्धि का देवता कहा जाता है । प्राचीनकाल में सभी विद्याओं का विकास आधिदैविक स्तर पर होता था । आयुर्वेद हो, संगीत हो या ज्योतिष, सब का आधार आधिदैविक ही था अर्थात् सभी ईश्वरीय शक्तियों का ही प्रकटीकरण था । मंत्र शास्त्र के अनुसार सभी सिद्धियाँ मंत्र शक्ति ही थीं, जिन्हें जप साधना से जगाया जाता था । इसीलिए सब विद्याओं की प्राप्ति के लिए गुरुसेवा, मनोनिग्रह, इन्द्रियनिग्रह तथा जप-साधना करना पड़ती थी ।

एक अन्य दृष्टिकोण से सिद्धियों को दो प्रकार से विभक्त किया जा सकता है,— स्वत: अर्जित सिद्धियाँ तथा किसी महापुरुष के द्वारा प्रदत्त सिद्धियाँ । स्वत: अर्जित सिद्धियों के लिए स्वत: साधना करना पड़ती है, परन्तु दूसरे प्रकार में कोई संत पुरुष किसी पर कृपा करके, सिद्धि विशेष प्रदान कर देता है, जैसे विश्वामित्रजी ने रामचन्द्रजी को शस्त्र प्रदान कर दिए थे । किसी दूसरे व्यक्ति को सिद्धि प्रदान कर देना भी एक सिद्धि है ।

कल्पिता तथा अकल्पिता भेद से फिर सिद्धियाँ दो प्रकार की हैं । कल्पिता अर्थात् जिनकी कल्पना मन में रखकर, साधना के द्वारा प्राप्त की जाती हैं । ऐसी सिद्धियाँ अल्पायु

होती हैं । समय के साथ समाप्त हो जाती हैं । कल्पिता सिद्धियाँ किसी काम की नहीं, क्योंकि यदि मन में सिद्धि प्राप्ति की जिज्ञासा होगी तो स्वभावत: ही उसके साथ आसक्ति भी हो जाती है तथा उसका अहंकार भी आ जाता है । कल्पिता सिद्धियों के प्रदर्शन का भाव भी मन में उठता है जो अभिमान को और भी बढ़ावा देता है । कल्पिता सिद्धियों का मार्ग अध्यात्म का मार्ग नहीं है । अकल्पिता सिद्धियाँ स्वत: प्रकट होती हैं । साधक उनकी प्राप्ति के लिए, वरन्, अध्यात्म लाभ के लिए साधनरत् होता है किन्तु मार्ग में सिद्धियाँ आ जाती हैं । साधक को, अकल्पिता सिद्धियों के प्रति भी उदासीन रहना कर्तव्य है ।

योग-दर्शन में सिद्धि लाभ के पाँच उपाय बताए गए हैं- जन्म, औषधि, मन्त्र, तप तथा समाधि । इनमें से समाधि को योगसिद्धि तथा जप को मंत्रसिद्धि कहा गया है । तप भी एक प्रकार से योग ही है, अन्तर केवल इतना है कि संयम के स्थान पर तपस्या पर अधिक बल दिया जाता है । औषधि से सिद्धि, आज के युग में कहीं देखने को नहीं मिलती । संभवत: कालक्रम से ऐसी औषधियाँ भी लुप्त हो गई हैं तथा उनके जानकार भी उपलब्ध नहीं रहे । पुस्तकों में अवश्य उनका उल्लेख मिलता है । जन्म से सिद्धि प्राप्ति में कोई साधन नहीं है । पूर्व जन्मों में साधना से जो सिद्धियाँ प्राप्त हो चुकी होती हैं, इस जन्म में भी, अपने आप प्रकट हो जाती हैं ।

भूतसिद्धि तामसिक सिद्धि है जिसमें भूत-प्रेतों को वश में करके, उनके माध्यम से चमत्कार दिखाए जा सकते हैं, किन्तु ऐसी विद्याओं के जानकारों का अन्त में अहित ही होता है ।

साधक के सामने एक ही लक्ष्य होता है आत्म—सिद्धि, जो उसे सदैव के लिए जगत के दुखों से छुड़ा देती है । बाकी सब सिद्धियाँ आत्म-सिद्धि में अवरोध-स्वरूप हैं, इसलिए साधक उनमें नहीं उलझता ।

सिद्धियों का प्रयोग आत्म-सिद्ध महापुरुषों के लिए ही, जगत कल्याण के निमित्त करना उचित है । उनमें, इनके प्रयोग से अभिमान उदय नहीं होता ।

(९) सेवक-धर्म

अब तक मैं आश्रम में अच्छी तरह स्थापित हो चुका था । भगवा वस्त्र धारण कर लेने से मेरे नौकर होने की भ्रान्ति भी अब लोगों को नहीं होती थी । किन्तु मेरा आश्रम सेवा का कार्य पूर्ववत् चलता था । अब भी मैं सेवक- धर्म के नियमों का पूर्ववत् पालन करने का प्रयत्न करता था, इतना सब कुछ होने पर भी मन की मलीनता पीछा नहीं छोड़ रही थी । क्रोध अभी भी अन्दर ही अन्दर उबलता रहता था । कई बार कुछ बुरा भी लग जाता था तो मन मसोस कर रह जाता था । यद्यपि मैं जानता था कि मुझे किसी बात का बुरा नहीं मानना चाहिए, किन्तु पता तब चलता था जब मन प्रभावित हो जाता था ।

साधु का जीवन कितना कठिन होता है यह महाराजश्री के सानिध्य में रहने से पता चला। लोग अपने निजी कामों में व्यस्त रहते थे तथा समय मिलने पर ही उन्हें महाराजश्री की याद आती थी। किसी को कभी समय मिलता तो किसी को कभी। सभी यह आशा करते थे कि जब वह आश्रम में जाएँ तभी उन्हें महाराजश्री उपलब्ध रहने चाहिए। जो उन्हें समझाने की चेष्टा करता था वह बुरा बनता था। यह बात मैंने कुछ लोगों को समझाना चाही तो मेरे से नाराज हो गए। कहने लगे, "महाराजश्री तो कुछ कहते नहीं, तुम्हीं मन से बनाकर बातें करते हो।"

दूसरी समस्या जगह की थी। जब कोई बड़ा आयोजन या उत्सव होता था तथा एक साथ बहुत सारे लोग आ जाते थे तो सबकी यही इच्छा होती थी कि उन्हें अधिक से अधिक अच्छा कमरा मिले। यह संभव नहीं हो पाता था। कुछ लोगों को कमरा मिलता ही नहीं था, हॉल में ही संतोष करना पड़ता था। कुछ लोग तो कठिनाई को समझते थे, किन्तु कुछ जो झगड़ा करने के लिए तैयार हो जाते थे तथा नाराज़ होकर किसी अवसर की ताक में रहते थे ताकि बदला लेकर दिल की भड़ास निकाल सकें। वह इस बात को समझ ही नहीं पाते थे कि यह गुरु-स्थान है। यहाँ किसी का विशेषाधिकार नहीं है। महाराजश्री पर तो किसी का बस चलता नहीं था। भाण्डा मेरे सिर फूटता था।

तीसरी समस्या पानी की थी। एक तो वैसे ही पानी की कमी थी। कुआँ था पर खेंचे कौन? सब बाथरूम में नल के नीचे नहाना चाहते थे। कपड़े भी वहीं धोना चाहते थे। जो लोग रह जाते थे, वह चिल्लाते थे, क्योंकि कुएँ से पानी खेंचना पड़ता था। इसलिए खरी-खोटी सुनाते थे। यह समझ में आ गई कि सेवक धर्म निभा पाना कितना कठिन है।

महाराजश्री के लिए सभी शिष्य एक समान थे। मैं भी यही प्रयत्न करता था कि यथा संभव सभी के साथ समान व्यवहार हो। कुछ समझदार लोग कहते थे कि सभी प्रकार की सुविधाएँ हमारे घर में उपलब्ध हैं। हम यहाँ सुविधाओं के लिए नहीं, महाराजश्री के लिए आते हैं। पर ऐसे लोगों की गिनती कम ही थी। अधिकांश तो सुविधाओं के पीछे भागते थे। समारोह के समय मेरे कमरे में कई लोग ठहर जाते थे, रात को सोने के लिए मुझे भटकना पड़ता था। पर इस बात को देखने का समय किसके पास था?

जगत में किसी पर आक्षेप कर देना बहुत आसान है। पक्षपात् एक ऐसा शस्त्र है जिसे किसी पर भी छोड़ा जा सकता है। पक्षपात् शस्त्र का प्रयोग मुझ पर भी कसकर किया गया। यह तो स्वाभाविक है कि कुछ लोगों के प्रति मनुष्य में स्वाभाविक लगाव रहता है, किन्तु उस लगाव के कारण, मैंने पक्षपात करने से सदैव अपने आप को बचाए रखा, किन्तु मजे की बात यह है कि पक्षपात् का आरोप ऐसे लोगों को लेकर लगता रहा है जिनके प्रति मेरे मन में कोई विशेष लगाव नहीं था। मनुष्य जब एकबार किसी बात को पकड़ लेता है, तो

फिर छोड़ नहीं पाता या छोड़ना नहीं चाहता । कभी उसके मन को यह विश्वास भी हो जाए कि उसकी धारणा निर्मूल थी, तो भी वह इसे अपने अभिमान तथा यश का प्रश्न बनाकर, वहीं टिका रहता है । परिणामतः सेवक बेचारा पिसता रहता है । उसकी विवशता यह होती है कि प्रत्येक परिस्थिति में उसे लोगों की सेवा करना है । प्रेम करना है । चाहे वे लोग उस पर आरोप लगाने वाले ही क्यों न हों । सेवक कोई आदर, पारितोषिक नहीं चाहता । यदि उसे अनादर भी दिया जाता है, फिर भी सेवा करता रहता है ।

मनुष्य के कर्म-भोग के लिए जगत मंच मात्र है । उसे जगत परेशान नहीं करता । उसकी पुरानी-नई भूलों की याद ताजा करवा कर उसको भविष्य के लिए सावधान करता है, किन्तु मनुष्य इससे दुःखी हो जाता है । जीव भूल तो करता है, पर उसे याद नहीं करना चाहता । कोई उसका उधर ध्यान दिलवाए तो उसी पर बरस पड़ता है, इसीलिए जगत में वह सुखी-दुःखी होता है । जगत को दुःखों का घर कहता तथा जगत से पलायन कर जाने की बात सोचता है । जीव अपने कर्मों का शुभ-फल भोग कर तो बड़ा प्रसन्न होता है, किन्तु जब अशुभ संस्कार अपना वीभत्स रूप प्रकट करते हैं तो चिल्लाना आरंभ कर देता है । यही जीव की त्रासदी है, नियति है ।

मेरी स्थिति भी इससे भिन्न नहीं थी । मन बड़ा बलवान तथा करामाती है । बड़े-बड़े बुद्धिमान इससे चित हो गए । मैं इस बात को भलीभाँति समझता था कि जगत केवल सिनेमा के परदे के समान है जिस पर सुख-दुःख रूपी दृश्य उभरते हैं । जगत इन दृश्यों का कारण नहीं है । किन्तु फिर भी जब कोई घटना घट जाती थी, अथवा कोई मुझे अनुचित-उचित कुछ कह देता था तो यह ज्ञान न जाने कहाँ विलीन हो जाता था । मन मुझे ऐसी दुर्गम घाटियों में खेंच ले जाता था, जहाँ मैं मार्ग भटक जाता था । जगत को ही सब कुछ समझ कर अपनी समस्या अथवा कठिनाई का कारण जगत में खोजने लगता था । उस समय किसी के द्वारा किया गया दुर्व्यवहार, विकराल रूप धारण कर, सामने खड़ा हो जाता था । मैं उद्विग्न हो उठता । यह मेरे मन की दुर्बलता थी, जिसे मैं काबू नहीं कर पा रहा था ।

ऐसे समय में गुरुदेव तथा अन्य गुरुओं को याद करता, उनके चित्त के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रयत्न करता, मीराबाई, कबीर, तुकाराम सरीखे संतों का स्मरण करता था । कुछ देर के लिए मन शान्त भी हो जाता था, किन्तु कुछ ही क्षणों के पश्चात् फिर से राक्षस रूप धारण करके उपद्रव करने लगता था । मैं सारा दोष जगत के माथे ही मढ़ रहा था तथा अपनी चित्त स्थिति की ओर से उदासीन था । तब मन ही मन कुढ़ता रहता था ।

एक दिन मैंने महाराजश्री से निवेदन कर अपनी चित्त-स्थिति के बारे में बात छेड़ी तो बोले, "ब्रह्मचर्य की दीक्षा, तपस्वी जीवन में प्रवेश का संस्कार है । तुम्हारा यह कुढ़ना, मन को जलाना तथा उद्वेलित हो उठना, तप की प्रक्रिया है, किन्तु इसके साथ जो दुखानुभूति होती

है, वह तप के स्तर में कमी का कारण है । दुःखी होने का अर्थ ही यही है कि अभी मन में आसक्ति का भाव काफी प्रबल है । तुम लाख कहो कि तुम्हें सेवा के बदले में आदर नहीं चाहिए, किन्तु जब तुम्हें अनादर मिलता है तो दुःखी हो जाते हो । इसका अर्थ ही यही है कि अभी आदर-प्राप्ति की इच्छा के बीज का नाश नहीं हुआ । तुम आदर प्राप्त नहीं करने का मात्र दिखावा कर रहे हो । आदर तथा अनादर दोनों को, समभाव से सुखी-दुःखी हुए बिना, सहन करने का अभ्यास करो । यही तुम्हारी तपस्या होगी । मानसिक आघातों को शान्त चित्त सहन करना ही तपस्या है ।

"गुरुओं की सेवा में रह पाना अत्यन्त कठिन है । जब मानसिक आघात ठोकर मारते हैं तो बड़े-बड़े भाग खड़े होते हैं । मन में यदि आदर पाने की तनिक सी भी इच्छा होती है तो आघात की मार सहन कर पाना कठिन हो जाता है, किन्तु जो तपस्या गुरु सेवा में रहकर होती है वह अन्य किसी भी प्रकार से नहीं होती । गुरु सेवा ऐसी तंग गली के समान है जिसमें थोड़ा भी आगे बढ़ने पर, अन्तर के विकारादि सभी साथी साथ छोड़ने लगते हैं । जब तक साधक गुरुप्रेम रूपी गंतव्य पर पहुँचता है, वह एकदम अकेला हो चुका होता है । बाकी बचता है केवल गुरुसेवा का भाव ।"

मानसिक आघात जगत की ओर से नहीं आते, अन्दर से आते हैं । विचारों, वासनाओं तथा भावों का उद्‌गम भी अन्दर ही है, जो संस्कारों के रूप में चित्त में एकत्रित है । आघातों तथा विचारों के मन में आक्रमण का अर्थ, संस्कारों का उदय होकर उदार हो जाना है । कई बार बाहरी अनुकूलता के बिना भी संस्कार उदय हो जाते हैं । इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति तुम्हें साधन समय प्राप्त होती होगी, जहाँ कोई बाहरी अनुकूलता नहीं होती, फिर भी अनेक भाव जैसे क्रोध, लज्जा, प्रसन्नता आदि प्रकट होते हैं । उन्हें शान्तिपूर्वक सहन करने से अर्थात् तपस्या से, संस्कारों का वेग समाप्त हो जाता है, वे क्षीण हो जाते हैं ।"

"तुम्हें जो सुख-दुःख होता है, मानसिक आघात तथा विक्षेप सहन करने पड़ते हैं, उनका कारण जगत नहीं है वरन् तुम्हारी अपनी ही मनःस्थिति है । इस बात को स्पष्टतः समझे बिना, तपस्या का रंग भी निखरता नहीं । यह समझ आ जाने के पश्चात् भी मानसिक वासना सीधे मार्ग पर नहीं चलने देती, इसी मानसिक संयम तथा बौद्धिक विवेक की आवश्यकता है । आरंभ में सभी साधकों को आन्तर–संघर्ष करना पड़ता है । कई बार साधक गिर भी पड़ता है, पर जो यह संघर्ष नहीं करेगा वह गिरना-उठना नहीं समझ सकता ।

"ब्रह्मचर्य दीक्षा का यह अर्थ नहीं है कि इधर दीक्षा हुई, उधर संस्कार तथा वासना समाप्त । यह केवल तपस्या का संकल्प है । तपस्या करना अभी शेष है । ऐसा भी नहीं है कि सभी लोग यह दीक्षा लेकर तपस्या रत् ही हो जाते हैं । अधिकांश तो दीक्षा तक ही सीमित रह जाते हैं । यदि तुम मन में धैर्य धारण कर, उत्साहपूर्वक तपस्या रत् रहे, तो तुम्हारी समस्या का समाधान संभव है ।

"मनुष्य अपने दोषों-अवगुणों को समझ भी लेता है तो भी उनका रोक पाना अत्यन्त कठिन है। वह अन्दर ही अन्दर छटपटाता है, तड़पता है, अपने आपको सँभालने का प्रयत्न करता है, किन्तु जब विकारों का वेग प्रबल हो उठता है तो उसके आगे नतमस्तक हो जाता है। जैसे कोई बंधक इच्छा न होते हुए भी चाबुक के इशारे पर चलने के लिए विवश होता है, वैसी ही स्थिति साधक की होती है। जिन साधकों से तुमको असुविधा होती है, उनकी आन्तरिक स्थिति क्या है ? यह तुम पर प्रकट नहीं। हो सकता है वह भी पश्चाताप की ज्वाला में जल रहे हों, उनका भी अन्तर–संघर्ष चलता हो, वह भी गिरते-उठते हों। साधकों को, एक-दूसरे को परस्पर सहारा देकर आगे बढ़ना है। एक-दूसरे को सहन करना तथा सहायता करना है। यदि कोई साधक गिरने लगे तो उसे और भी गिराने की वृत्ति दोनों के लिए हानिकर है। यह सहायता परस्पर सहयोग से ही संभव है। सहनशीलता इसके लिए आवश्यक है।

"यदि तुमको दूसरी ओर से सहयोग प्राप्त न हो तथा विपरीत व्यवहार ही मिलता रहे तो भी तुम अपना तपस्वी दृष्टिकोण अपनाए रखो। इससे तुम्हारी अपनी चित्त शुद्धि में सहायता मिलेगी। यदि तुम अपने आपको सेवक मानते हो तो तुम्हारा उत्तरदायित्व दूसरों की अपेक्षा अधिक है। दूसरे तो संसारी बनकर छुटकारा पा सकते हैं, किन्तु सेवक का लक्ष्य ही सेवा है। सेवा-कार्य केवल रहने-खाने की व्यवस्था तक ही सीमित नहीं है। लोगों के आध्यात्मिक उत्थान में सहयोगी बनना भी सेवा के ही अन्तर्गत है। इसके लिए तुम्हें उदार-चित्त तथा सहनशील बनना होगा। आक्रामक वृत्ति अध्यात्म में विघ्न है। आक्रामकता से किसी को भौतिक रूप से परास्त किया जा सकता है किन्तु उससे न ही आक्रामक को तथा न ही आक्रामित को अध्यात्म लाभ होता है।"

मैंने कहा, "किन्तु महाराजजी ! जब किसी को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया जाये तथा वह अपने को ही नीचे गिराने का प्रयत्न करे तो दुःख तो होता ही है।" इस पर महाराजश्री बोले, "यह संसार का सामान्य क्रम है कि जिस सीढ़ी के आधार पर कोई ऊपर चढ़ता है तो ऊपर चढ़कर उस सीढ़ी को गिरा देता है। ऐसे लोगों का दृष्टिकोण संसारी होता है, भले ही वे अध्यात्म में होने का दावा करते हों। संसारी यदि अपना मार्ग नहीं छोड़ता तो साधक-सेवक ही अपने मार्ग का त्याग क्यों करे ? उसे तो अपने तथा अन्यों के उत्थान में सतत् प्रयत्नशील बने रहना होता है।

"इस विषय में भी वही भूल तुम फिर कर रहे हो। किसी का भला करने पर भी, विपरीत व्यवहार का दोष किसी दूसरे के माथे मढ़ रहे हो, अपने चित्त में संस्कारों की ओर तुम्हारा ध्यान नहीं जा रहा। प्रायः साधक यही भूल करता है जो साधक-वृत्ति के विकास में बाधक होती है। साधकों में प्रायः अभिमान, क्रोध तथा राग-द्वेष की भावना काफी प्रबल

होती है । जो साधन में रुचि रखते हैं, उनमें भी यह अवगुण देखे जाते हैं । साधन करने के साथ-साथ अभिमान भी बढ़ता जाता है । विचार करने पर, इसका यही कारण समझ में आता है कि उनमें सेवा-भाव का अभाव है । सेवाभाव से समर्पण की समझ तथा साधन में निखार आता है ।"

(१०) दीक्षाधिकार

बात जून १९६१ की है । कुछ लोग नांगल से दीक्षा ग्रहण करने आ रहे थे। महाराजश्री ने पत्र द्वारा मुहूर्त निश्चित कर दिया हुआ था । एक दिन महाराजश्री ने मुझे कहा कि मैं सोचता हूँ कि नांगल से जो लोग दीक्षा लेने आ रहे हैं, उनको दीक्षा तुम दे दो । यह बात अकस्मात् सुनकर मैं आश्चर्यचकित रह गया । मैंने कहा, "महाराजश्री, अभी तो मैं पूरी तरह शिष्य भी नहीं बन पाया, तो गुरु क्या बनूँगा ?" बोले, "हम जानते हैं, अभी तुम्हारे में कई कमियाँ हैं, किन्तु यह क्यों सोचते हो कि तुम गुरु बन रहे हो । तुम तो जिस प्रकार झाड़ू लगाना, कपड़े धोना या बरतन मांजना सेवा समझकर करते हो, उसी प्रकार ही दीक्षा कार्य भी गुरु सेवा समझकर करो । एक गुरु के सामने सबसे बड़ी कठिनाई गुरुपने के अभिमान की होती है । इस समस्या को गुरु सुलझा नहीं पाते तथा अभिमान के गर्त में डूबते जाते हैं। चूँकि सेवाभाव का उनके जीवन में कोई स्थान नहीं होता, इसलिए अपने आपको इस भाव में स्थापित नहीं कर पाते ।

"गुरु-पद दो तरह से प्राप्त होता है, साधन करते-करते वैसी स्थिति आ जाने पर अथवा गुरु आज्ञा से । यदि साधन से यह स्थिति प्राप्त हो भी जाये, तो भी गुरु आज्ञा को, इसलिए आवश्यक समझा जाता है, क्योंकि तभी गुरु-कार्य करते समय गुरुसेवा का भाव बनाये रखा जा सकता है तथा अभिमान से बचा जा सकता है । दीक्षा कार्य गुरु आज्ञा से करते समय, गुरु संकल्प कार्य करता है तथा शिष्य गुरु सेवा का भाव रखकर इस कार्य को सम्पादित कर सकता है ।"

मैंने कहा, "किन्तु शिष्यों के समक्ष गुरु के रूप में व्यक्तित्व तो मेरा ही होगा । इस खोखले व्यक्तित्व को उनके सामने क्या उपस्थित करूँगा ? मुझे तो कल्पना भी नहीं थी कि आप मुझसे ऐसा कहेंगे । कृपया मुझे पहले शिष्य बन लेने दीजिए । गुरु कार्य करने वाले कई लोग मुझसे कहीं अधिक योग्य उपलब्ध हैं । मैं तो आपकी चरण-सेवा में जो आनन्द पाता हूँ, उसी से संतुष्ट हूँ ।"

महाराजश्री ने संभवतः इस समय अधिक बात करना उचित न समझा, इसलिए वह मौन हो गए । दूसरे दिन प्रातःभ्रमण समय दीक्षा का विषय ही चर्चा में बना रहा । महाराजश्री ने कहा, "दीक्षा एक विज्ञान है जिसे बहुत कम लोग जानते हैं । यह विज्ञान गुरु शिष्य परम्परा से चलता है । यह उस समय से आरंभ हो जाता है जब कोई दीक्षा की प्रार्थना लेकर गुरु के

पास आता है । विवेक से तो भावी शिष्य का परीक्षण किया ही जाता है किन्तु गुरु को अपने अनुभव से भी, शिष्य के अधिकारी-अनधिकारी होने का ज्ञान हो जाना चाहिए ।" महाराजश्री ने उस अनुभव का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के पश्चात् कहा, "दीक्षा के समय जब गुरु शक्ति, शिष्य की चित्त शक्ति के साथ तादात्म्य के पश्चात् वापिस लौटती है, तो शिष्य के शुभाशुभ कर्मों को भी साथ ला सकती है ।" वह संस्कार शुभ हैं या अशुभ यह जानने का अनुभव बताया । यदि संस्कार शुभ हों तब तो कोई बात नहीं, किन्तु यदि अशुभ हों तो गुरु को अपने-आपको कैसे बचाना, यह बताया । कई बार शिष्य को क्रियाओं का वेग अत्यन्त ही तीव्र हो जाता है, जिससे उसके सामान्य व्यवहार में अन्तर पड़ने लगता है, तब उसको कैसे नियन्त्रण करना यह बताया । कुछ और बातें भी बताईं जिससे यह पता लगता था कि शक्तिपात् के विषय में महाराजश्री की पैठ कितनी गहरी है । वैसे कोई शिष्य कैसी भी भूल करे, किन्तु महाराजश्री ने दण्डस्वरूप उसकी क्रियाएँ कभी बन्द नहीं कीं, किन्तु किसी शिष्य की क्रियाएँ कैसे बन्द करना, यह बताया ।

मैंने महाराजश्री को पूछा, "आपको इतनी सारी बातें ज्ञात कैसे हो गईं ? क्या यह सब आपने अनुभव से जाना या गुरुजी (श्री योगानन्दजी महाराज) ने आपको यह सब बताया ।" बोले, "पहले तो गुरुजी ने इन सब बातों से अवगत कराया । तत्पश्चात् निजी अनुभव से उनकी पुष्टि हुई । वास्तव में दीक्षा-विज्ञान की प्राप्ति प्रायः गुरु परम्परा से प्राप्त होती है । अपने अनुभव से जानकारी प्राप्त करने में सारा जीवन ही खप जाता है । फिर यह भी पता नहीं होता कि कौनसा ज्ञान प्राप्त करना है ? इसलिए परम्परा ही उसका उपाय है । किन्तु अब यह विज्ञान परम्परा लुप्त होती जा रही है । एक सज्जन की क्रिया अत्यन्त ही वेगवान हो गई । उनके गुरु नियंत्रित नहीं कर पाए, तो मेरे पास भेज दिया । तब गुरु कृपा से क्रिया नियंत्रित हो पाई ।"

मैंने पूछा, "क्या सभी गुरु इस विज्ञान से भलीभाँति परिचित हैं ?" महाराजश्री बोले, "यह तो मुझे पता नहीं कि कौन अवगत है तथा कौन नहीं, किन्तु इतना अवश्य कह सकता हूँ कि सभी इस विज्ञान को नहीं जानते ।" महाराजश्री ने यह भी बतलाया कि कुछ अनुभव ऐसे होते हैं जो केवल गुरु को ही प्राप्त हो सकते हैं । फिर ऐसे कुछ अनुभवों की भी जानकारी दी । इन सभी बातों को खोल कर मैं यहाँ इसलिए नहीं लिख रहा हूँ, क्योंकि यह विषय केवल गुरुओं से संबंधित हैं तथा परम्परा से ही प्राप्तव्य है । यह विषय तीन दिन तक प्रातः भ्रमण के समय चलता रहा । तब तक नांगल से भी लोग आ गए ।

महाराजश्री ने उनसे भी कह दिया, "मैं सोचता हूँ कि आपको ब्रह्मचारीजी दीक्षा दें ।" वह लोग मेरे पुराने मित्र थे किन्तु फिर भी यह सुनकर उनके चेहरे मुरझा गए । ऊपर से तो उन लोगों ने यही कहा, "जैसी महाराजजी की आज्ञा । आप स्वयं दें या ब्रह्मचारीजी के

माध्यम से, देने वाले तो आप ही हैं । फिर क्या अन्तर पड़ता है ।" मैंने उन लोगों के कमरे में जाकर उनसे कहा कि आप चिन्ता न करें । आपको महाराजश्री ही दीक्षा देंगे । मैं अभी कहाँ का गुरु बन गया । बाद में महाराजश्री से भी निवेदन किया, "जो लोग आपसे दीक्षा ग्रहण की मन में इच्छा लेकर आए हैं, उनको यह कैसे कहा जा सकता है कि वे किसी दूसरे से जाकर दीक्षा लें । आप स्वयं ही कृपा करें ।" महाराजश्री सुनकर मौन रहे ।

फिर भी प्रातःकाल तीन बजे दीक्षा के लिए जाने से पूर्व मैंने बाथरूम में स्नान की व्यवस्था करके स्नान कर लेने के लिए प्रार्थना की, तो महाराजश्री ने कहा, "तुम स्नान करोगे या मैं करूँ ?" मैंने निवेदन किया कि आप ही करें ।

इससे महाराजश्री की उदारता का पता लगता है । सर्वप्रथम पुस्तक 'साधन पथ' का प्रकाशन करवाकर लेखन के प्रति उत्साहित करना, फिर साधन समारंभ में बोलने का अवसर प्रदान कर प्रवचन करने के लिए प्रोत्साहित करना तथा अब दीक्षा का अवसर देना । इस से पता लगता है कि महाराजश्री स्वयं पीछे हटकर तथा शिष्यों को आगे लाने के कितने उत्सुक थे ।

(११) गुण-दोषमय जगत

महाराजश्री का कहना था कि प्रत्येक जीव गुणों तथा अवगुणों का मिला-जुला स्वरूप है । न किसी में केवल गुण हैं, न किसी में केवल अवगुण । हाँ, परिमाण में अवश्य अन्तर होता है । किसी में गुण बहुत अधिक होते हैं तो किसी में अवगुण, किन्तु होते दोनों हैं । यदि इस जन्म में कोई पापात्मा है, तो न जाने पूर्व जन्मों में कितनी बार वह पुण्यात्मा रह चुका है । उसके सात्विक संस्कार भी चित्त में संचित हैं । जाने कौन से जन्म के संस्कार उदय हुए कि वह इस जन्म में पापात्मा हो गया । सभी के चित्त में त्रिगुण विषम अवस्था में रहते हैं, जिनमें सदैव परिवर्तन होता रहता है । कभी कोई गुण ऊपर आ जाता है तो कभी कोई । केवल संत-पुरुष ही तीनों गुणों की सम अवस्था के समीप होते हैं । गुणों के सम अवस्था में आ जाने का अर्थ है जगत का विलीनीकरण । देह भी जगत का ही अंग है । आज जो महात्मा होने का अभिमान पाले बैठा है, भविष्य में या अगले जन्म में उसकी क्या दशा होगी, भगवान जानें । महाराजश्री आगे कहते थे कि साधक का कर्त्तव्य है कि वह अपने में झाँककर देखता रहे । साधक के पास दूसरों के मन में झाँकने का समय ही कहाँ होता है ? फिर यह बात भी है कि जो अपने मन में नहीं झाँक सकता, उसे दूसरों के मन में झाँकने की योग्यता भी प्राप्त नहीं होती । वह दूसरों में दोषों की कल्पना करता है, अनुमान लगाता है तथा उसी में भूलकर जाता है । यदि अपने मन को देखेगा तो पाएगा कि वहाँ तो विकारों के ढेर लगे हैं । साधन में जो क्रियाएँ होती हैं तथा जिन पर साधक प्रसन्नता व्यक्त करता है, क्या है ? मन की मलीनता

ही तो उभरती है । संस्कार ही क्रियाओं में परिणत होते हैं । अनुमान ही लगाना है तो यह लगाओ कि यदि मुझे इतनी क्रियाएँ हो रही हैं तो अन्तर में कितने संस्कार भरे होंगे ?

मुझ में मलीनता तथा विकारों की कमी नहीं थी । इतने विकार थे कि साक्षात् विकार-रूप ही होकर रह गया था, किन्तु गुरु-कृपा से इसके साथ-साथ कुछ सद्गुण भी प्रकट होने लग गए थे । उन सद्गुणों को संभाल पाना तथा उनका विकास करते रहना, मेरे लिए कठिन हो रहा था । मन के अवगुण बार-बार उभरकर, नव-विकसित गुणों पर आघात करते तथा उनका आधार ही हिला देते थे । कई बार तो मैं इतना विचलित हो जाता था कि हार मान लेना ही एकमात्र मार्ग दिखाई देने लगता । यह सब संघर्ष अन्दर ही अन्दर चलता रहता । दूसरे लोग यही समझते थे कि मैं शांत बना रहता हूँ, किन्तु अपने मन की दशा मैं ही जानता था ।

एक दिन महाराजश्री ने कहा, "जो लोग यहाँ आते हैं वह मुझे मिलने आते हैं । आप लोगों का उनके साथ व्यवहार ऐसा होना चाहिए जिससे उनके तथा मेरे संबंधों पर कोई प्रभाव न पड़े । आप लोग यदि अपने आपको सेवक मानते हैं तो मुझे मेरे काम में सहयोग देना ही आपका कर्त्तव्य है । वे लोग अच्छे हैं या बुरे, यह देखना मेरा काम है । उनके साथ कैसा बरताव करना, यह भी मुझे ही निश्चय करना है । यदि आप लोग यह निश्चय अपने हाथ में ले लेंगे तो मेरे काम में रुकावट आएगी । आपको भी यहाँ रह पाना कठिन हो जाएगा ।"

महाराजश्री की इस बात से मेरे लिए, सोचने का विषय उपस्थित हो गया । मैं पहले ही इन बातों का ध्यान रखता था । महाराजश्री तथा उनके दर्शन करने आने वालों के बीच कभी व्यवधान बनने का प्रयत्न नहीं किया था । हाँ, बीच-बीच में कोई ऐसा व्यक्ति अवश्य आ जाता था जिससे रूखी सी बात करना पड़ जाती थी । यदि महाराजश्री ने कहा है तो कुछ न कुछ बात अवश्य होगी । मैंने यही निष्कर्ष निकाला कि महाराजश्री हम लोगों से और भी अधिक सहनशीलता की अपेक्षा करते हैं ।

सहनशीलता का शिक्षण देने का, महाराजश्री का ढंग भी अनूठा था । कई बार जानते हुए भी कि इसकी गलती नहीं है, डाँट देते थे या कोई बात नहीं होने पर भी किसी से क्षमा माँगने के लिए कहते थे । ऐसा लगता है कि बार-बार वह अहम् पर आघात करते थे तथा सहन करने का प्रशिक्षण देते थे। कोई सोच सकते हैं कि उनके साथ ऐसा कुछ नहीं हुआ, किन्तु मैं तो अपना अनुभव कह रहा हूँ । दूसरों के बारे में मैं कुछ कैसे कह सकता हूँ । महाराजश्री कहते थे कि सहनशीलता के बिना साधन दिखावा मात्र है ।

हाँ, तो मैं बातकर रहा था महाराजश्री के दर्शनार्थियों के प्रति व्यवहार की । प्रातः भ्रमण में मैंने बात छेड़ी, "महाराजजी ! मुझ से व्यवहार में क्या कोई गलती हो गई है, जो

कल आपने ऐसा कहा ? मैं बड़ा सावधान हो कर चलने का प्रयत्न करता हूँ, किन्तु कभी-कभी कोई ऐसा भक्त आ जाता है जिससे रूखा बोलने पर विवश हो जाना पड़ता है। दूसरे आप कब किस अवस्था में हैं, यह भी लोगों को ज्ञात नहीं, इसलिए कईबार थोडी असुविधा हो जाती है।" महाराजश्री ने कहा, "देखो, ऐसी बात हम सबसे नहीं करते। जिस पर एकबार कुछ कह देने पर प्रतिक्रिया प्रतिकूल हो, या एकदम भड़क उठे, उसे दोबारा हम कुछ कहते ही नहीं। मेरा कहने का यह भाव नहीं था कि तुमसे कोई भूल हो गई है, केवल सावधान करना ही लक्ष्य था। साधक के मन में अपना लक्ष्य स्पष्ट होना चाहिए।"

(१२) सृष्टि-क्रम

आज एक पुराने साधक आश्रम में आए हुए थे। महाराजश्री तथा उनकी बातचीत का विषय मेरे लिए एकदम नया था। काफी उत्सुकता से सब सुन रहा था, महाराजश्री कह रहे थे, "पशु अर्थात् बंधन में पड़े हुए जीव, बंधन की फाँसी तथा पशु के स्वामी शिव इन तीनों के ज्ञान को ज्ञान कहा जाता है। जिस विधि से षडध्व (छः) की शुद्धि होती है, गुरु के अधीन रहने वाली उस विधि को क्रिया कहा जाता है। नाम के विघ्न को हटाने के तीन तथा रूप के विघ्न को हटाने के तीन मार्ग हैं। इस प्रकार जीव रूपी पशु को मुक्त होने के लिए साधन के छः अंग हैं। सृष्टि के आदि में ब्रह्म के संकल्प से नाद तथा नाद से नाम उत्पन्न हुआ। संकल्प से स्पंदन, स्पंदन से आंदोलन तथा आंदोलन से रूप प्रकट हुआ। यह सृष्टि दो प्रकार की है, जड़ तथा जंगम। दोनों के नाम भी हैं तथा रूप भी।" महाराजश्री ने इनके उदय का क्रम भी बताया तथा जगतरूपी इस प्रसार को समेटने का उपाय शक्तिपात् बताया।

जब सृष्टि की उत्पति हुई, उस समय कुछ भी नहीं था। न प्रकाश, न अंधकार। न स्वर, न ध्वनि। न काला, न गोरा। न सरूप, न कुरूप। न स्त्री, न पुरुष। न नगर, न वीरान। सूर्य, चन्द्र, तारे कुछ भी नहीं थे, क्योंकि यह सभी सृष्टि के ही अन्तर्गत हैं। जब सृष्टि ही नहीं थी, तो यह सब भी कैसे हो सकते थे ? जिस शक्ति के स्पंदन तथा नाद का परिणाम यह जगत है, वह उस समय अपने कारण ब्रह्म में समाई थी। उसके साथ ही अहम्, दृश्य, क्रिया, ध्वनि इत्यादि सभी कुछ विलीनावस्था में था। जब अहम् नहीं तो दृश्य कहाँ से आया। जब दृश्य नहीं तो अहम् ही कैसे हो सकता है। उस समय ब्रह्म पूर्ण रूप में अपने में ही स्थित था। न कोई द्रष्टा, न कोई दृश्य। न कोई कहने वाला, न सुनने वाला। एक ब्रह्म ही था जिसे देखने-जानने वाला कोई नहीं था। ऋषियों ने उस अवस्था को ध्यान में देखा तथा यथासंभव शास्त्रों में लिख दिया। मनुष्यत्व से ऊपर उठकर ही इस अनुभव को प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्यों के लिए उसकी कल्पना कर पाना भी असंभव है। मनुष्य तो शक्ति की चित्त के आधार पर एक क्रिया— बुद्धि के सहारे ही, इन्द्रियों के माध्यम से, जगत का ज्ञान ही प्राप्त कर

सकता है । वह ज्ञान अत्यन्त सीमित एवं अति भ्रमोत्पादक है । उनका ज्ञान वास्तव में अज्ञान ही होता है । जब शक्ति की बुद्धि रूपी क्रिया विलीन हो जाती है, तभी जगदातीत अनुभूतियाँ आरंभ होती हैं ।

ब्रह्म में एक संकल्प उदय हुआ जो कि अत्यन्त ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तर पर था । वह सूक्ष्म की सीमा से परे का सूक्ष्म स्तर था, क्योंकि वहाँ सूक्ष्म तथा स्थूल का स्तर था ही नहीं । उसका संकल्प कहें या मौज, वह वास्तव में संकल्प था ही नहीं । वह क्या था ? कहा नहीं जा सकता, किन्तु समझने के लिए मनुष्य के पास अन्य कोई शब्द नहीं है, इसलिए उसने उसे संकल्प कह दिया । ब्रह्म का संकल्प जीवों के संकल्प से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि ब्रह्म में कोई संस्काराशय या भ्रम या वासना नहीं है । उस समय उसमें ज्ञान भी अन्दर ही छुपा था, जिसे ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वहाँ अज्ञान या ज्ञान कुछ भी नहीं था ।

ब्रह्म ने संकल्प किया कि मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ । इस वाक्य से कुछ बातें स्पष्ट हैं (१) सृष्टिकर्ता ब्रह्म है ।(२) सृष्टि ब्रह्म में है ।(३) सृष्टि भी ब्रह्म ही है ।(४) सृष्टि में नानात्व है पर मूल रूप में एक ही है ।(५) सृष्टि ब्रह्म से भिन्न नहीं है । इस संकल्प के उदय होते ही प्रथम परिणाम (स्पंदन) हुआ । जिससे ब्रह्म में शक्ति जाग्रत हो गई । ब्रह्म की शक्ति, ब्रह्म का ही स्वरूप है तथा उससे कभी भी विलग नहीं हो सकती । ब्रह्म आधार है तो शक्ति उसका आधेय । शक्ति कभी ब्रह्म में समाहित हो जाती है तो कभी जाग्रत । किन्तु उसका कभी भी अभाव नहीं होता है । शक्ति की यह जाग्रति ब्रह्म के अन्दर ही थी, प्रकट तथा पृथक नहीं, अर्थात् इसको ब्रह्म ही जानता था ।ब्रह्म जाग तो गया किन्तु उसके नेत्र अभी बन्द थे । इसके पश्चात् दूसरा स्पन्दन या परिणाम हुआ, शक्ति ब्रह्म में प्रकट हो गई, जैसे सोया हुआ व्यक्ति जाग कर नेत्र खोल देता है । ब्रह्मावस्था शिवावस्था है जिसमें अहम् तो रहता है किन्तु बीज रूप में, क्योंकि अन्य अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति के अभाव में अहम् भी प्रसुप्त ही रहता है । प्रथम परिणाम के पश्चात्, शक्ति की जाग्रति होने से, शक्ति अवस्था या शक्ति तत्त्व कहा जाता है । इस अवस्था में शक्ति जागकर भी प्रकट नहीं होती तथा शिव-शक्ति में एक स्वरूपता बनी रहती है । उसके पश्चात् जो स्पन्दन या परिणाम होता है, उसमें शक्ति शिव में ही, शिव से एक रूप रहते हुए भी, प्रकट हो जाती है । इस स्वरूप की कल्पना पुराणकारों ने अर्धनारीनटेश्वरं के रूप में की है, जिसमें आधा शरीर पुरुष का तथा आधा नारी का होता है । यह ब्रह्म, सृष्टि उत्पत्ति की ओर एक कदम और आगे अग्रसर हो जाता है । सृष्टि-उदय करने से पूर्व ब्रह्म को अपनी शक्ति को पूर्णरूपेण प्रकट करना होता है, क्योंकि बिना शक्ति के कोई क्रिया संभव नहीं तथा सृष्टि की उत्पत्ति से कोई बड़ी क्रिया नहीं । इसलिए इस अवस्था को शिव-शक्ति अथवा सदाशिव भी कहा जाता है अर्थात् जिस शक्ति के प्रकट होने से पूर्व शिव था, उसी प्रकार शक्ति के प्रकट होने के पश्चात् भी शिव रहता है । शिव के आधार पर

ही शिव की शक्ति, शिव में ही कभी प्रकट तो कभी विलीन होती है । न शिव में ही कभी कोई परिणाम होता है, न शक्ति में ही । इस अवस्था के बारे में महाराजश्री ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया-- "जैसे चना छिलके से ढका होता है तथा उसके अन्दर उसकी दाल के दो दल होते हैं । जब चने को भूमि में आरोपित किया जाता है तो ऊपर का छिलका फट जाता है तथा दोनों दलों के संयोग से अंकुर फूट पड़ता हैं । यदि दोनों दलों को अलग-अलग लगाया जाए तो अंकुर नहीं फूट सकता । उसी प्रकार सदाशिव में भी, शिव तथा शक्ति के रूप में, दो दल बीज रूप में अवस्थित होते हैं । न शिव के बिना सृष्टि संभव है, न शक्ति के बिना । जगत में जहाँ शक्ति है वहाँ उसका आधार रूप शिव भी साथ है । शिव शक्ति का यह मिलाजुला स्वरूप सदैव ही बना रहता है । स्थूल दृश्यमान स्तरों पर भी यह साथ नहीं छूटता, इसीलिए सदाशिव कहा जाता है । अहम् तथा इदम् (मैं और यह, द्रष्टा और दृश्य) दोनों, दो दलों के रूप में समाए रहते हैं ।

उससे अगले स्पन्दन में छिलका फट जाता है । अहम् ईश्वर का रूप धारण कर लेता है तथा इदम् शक्ति का । यहाँ आकर ब्रह्म, ईश्वर रूप धारण कर, अपनी शक्ति से युक्त होकर, सृष्टि निर्माण के प्रति उन्मुख हो जाता है । शक्ति के इस स्तर को शुद्ध विद्या कहा जाता है । शिव तथा शक्ति दोनों ऐसे स्तर हैं जहाँ शान्ति-अशान्ति कुछ नहीं होती । क्या होता है इसको संत-पुरुष ही, जिन पर ईश्वर की कृपा होती है, अनुभव कर सकते हैं । इसलिए शिव-शक्ति दोनों को शान्त्यातीता कहा गया । सदाशिव, ईश्वर तथा शुद्ध विद्या भी हैं तो शुद्ध तत्त्व ही, परन्तु शिव-शक्ति से, इस स्तर को भिन्न तथा निम्न दिखाने के लिए इनकी गिनती शान्ति-कला के अन्तर्गत की जाती है । सृष्टि की उत्पत्ति अभी तक नहीं हुई। मलीनता सृष्टि में है जो कि शक्ति के स्पन्दन का परिणाम है । शक्ति में कोई अशान्ति या मलीनता नहीं है ।

इससे आगे के स्पन्दनों में ईश्वर रूपी ब्रह्म, शक्ति से युक्त, सृष्टि निर्माण हेतु उन्मुख हो जाता है । सबसे प्रथम अपनी शुद्ध विद्या को, अशुद्ध विद्या में परिणत करता है । शक्ति, शुद्ध विद्या होते हुए भी मायाभिमुखी होने से, विद्या के स्तर तक उतर जाती है तथा विद्या-कला के अन्तर्गत माया, काल, कला, नियति, विद्या, राग तथा पुरुष प्रकट होते हैं । जिस प्रकार चन्द्रमा में कोई परिवर्तन नहीं होता, किन्तु घटता-बढ़ता भासित होता है- चन्द्रमा में यह परिवर्तन उसकी कलाएँ कहा जाता है । इसी प्रकार शिव--शक्ति में भी कोई परिवर्तन नहीं होता, केवल स्पंदन के कारण भासित होता है । यह कलाएँ अर्थात् परिवर्तनशीलता जगत में भी निरन्तर बनी रहती है । विद्या माया का रूप ग्रहण कर, भ्रम उत्पन्न करने का कारण होती है । काल समय का भान कराता है, कला परिवर्तन दर्शाती है, विद्या जगत का ज्ञान कराती है, नियति संस्काराशय के रूप में प्रारब्ध स्वरूप है, राग आसक्ति पैदा कर देता है,

और पुरुष अर्थात् आत्मा (जो कि परमात्मा ही है) इन आवरणों को ओढ़ कर जीवत्व धारण कर लेता है ।

सृष्टियाँ असंख्य हैं । जुगनुओं की तरह चैतन्य रूपी महाकाश में उड़ती फिरती हैं । कोई सृष्टि विलीन हो जाती है तो कोई उदय । बड़ा मनोहारी सुन्दर नज़ारा है । आतिशबाजी की तरह सृष्टियों का उदयास्त होता रहता है तथा ब्रह्म देख-देख कर आनन्द लेता है । नाटक के पात्रों की भाँति जीव, आवरणों से युक्त होकर, विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ करते हैं । प्रत्येक जगत एक मंच का कार्य करता है । ईश्वर ने काल, कला, नियति, विद्या, माया, राग तथा जीवत्व, यह सात आवरण डाल रखे हैं । इन्हीं से आवृत्त जीव, जगत में भरमाया फिरता है । अर्थात् शिवतत्व ही, अपने आप माया के अधीन हो जाता तथा काल, कला, विद्या, नियति तथा राग, इन पाँच कंचुकों से आवरण युक्त हो जाने से जीव हो जाता है ।

चूँकि जीव, माया में प्रतिष्ठित होकर, जीवत्व ग्रहण कर लेता है, इसलिए आगे की कला को प्रतिष्ठा कला कहा गया है । जिसके अन्तर्गत अव्यक्त अर्थात् प्रकृति की अव्यक्त दशा, महत् अर्थात् मूल प्रकृति, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियां, पाँच तन्मात्राएँ तथा आकाश, वायु, तेज, जल, यह तेईस तत्त्व हैं । चौबीसवाँ पृथ्वी तत्त्व है जो निवृत्ति कला के अन्तर्गत है क्योंकि इसके आगे भी शक्ति का स्पंदन तो निरंतर बना रहता है, किन्तु वह अन्य किसी तत्त्व को प्रकट करने से निवृत्त हो जाती है । यह सृष्टि का विकास क्रम है । प्रकृति जड़ तथा चेतन दो प्रकार की है । जड़ प्रकृति में पाँच भौतिक तत्त्व तथा दृश्य आते हैं तथा चेतन प्रकृति में वह पंच-भौतिक-आकृतियाँ आती हैं, जिनके आधार पर चेतन कार्य करता है । जड़ तथा चेतन प्रकृति के मूल में एक ही चैतन्य शक्ति है, जिसे समष्टि चैतन्य कहा जाता है । चेतन प्रकृति में प्रत्येक जीव में, वही शक्ति व्यष्टि स्तर पर कार्यशील होने से व्यष्टि चैतन्य कहलाती है ।

मुझ पर यह स्पष्ट हो गया कि अध्यात्म केवल बातों अथवा शास्त्र ज्ञान का ही नाम नहीं है । उसके लिए दीर्घकाल तक, श्रद्धापूर्वक, गुरु प्रदत्त साधन की आवश्यकता है । जिस प्रकार शक्ति स्पंदनशील होकर जगदाभिमुखी कार्यशील होती है, उसी प्रकार, जब तक ऊर्ध्वमुखी क्रिया का उसी क्रम में अनुभव नहीं किया जाए, ब्रह्म-ज्ञान नहीं हो सकता । जिस प्रकार तत्त्वों का विकास हुआ है, उससे विपरीत क्रम में तत्त्वों के विलीनीकरण की क्रियाएँ अनुभव में आनी चाहिये । ऐसी क्रियाओं को ही तत्त्वों के आधार पर क्रियाएँ कहा जाता है, किन्तु तत्त्व के आधार से भी पहले, संस्कारों के आधार की एक बहुत लम्बी तथा कठिन यात्रा तय करना पड़ती है । संस्कारों तथा वासनाओं ने चित्त में एक अलग ही जगत निर्माण कर रखा है । पहले उस तथाकथित जगत का विध्वंस आवश्यक है । शक्ति जागकर पहले यही करती है, संस्कार-वासनाक्षय के लिए ही क्रियाशील होती है । जो संस्कार प्रारब्ध का रूप

ग्रहण कर चुके हैं, उनका क्षय और भी जटिल समस्या है, क्योंकि प्रारब्ध के फल को जीव भोगने के लिए विवश है । महाराजश्री के कथनानुसार, यदि युक्ति तथा तर्क से जगत के कारण तथा आधार, ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान होता है तो चित्त शुद्धि होने पर अपरोक्ष अनुभवयुक्त ज्ञान । अर्थात् यदि साधन द्वारा संस्कार तथा वासना का क्षय सम्पादित कर लिया जाए तो ब्रह्म के प्रत्यक्ष-साक्षात्कार का मार्ग खुल जाता है ।

महाराजश्री कहते जा रहे थे कि जगत या तो रूपात्मक हैं और या नामात्मक । यद्यपि सारा जगत एक चैतन्य सत्ता के स्पन्दन का परिणाम है, किन्तु नाम, रूप तथा कार्य की भिन्नता के कारण नानात्व दिखाई देता है । जैसे मिट्टी जब खेत में होती है तो साग-सब्जी तथा फल-फूल उगाने के काम आती है । उसका नाम खेत होता है तथा उसका रूप भी मिट्टी होता है, किन्तु जब उस मिट्टी को ढाल कर मटका बना लिया जाये तो उसका नाम-रूप भी मटके का हो जाता है । मूल रूप में एक ही मिट्टी होने पर भी, उसमें कितनी भिन्नता आ जाती हैं । इसी प्रकार सारा जगत मूल रूप में शक्ति ही है किन्तु कहीं काठिन्य हैं तो कहीं तरलता और कहीं ताप । सभी वस्तुओं के कार्य रूप तथा नाम में नानात्व दिखाई देता है । जीव इसी नाम-रूपात्मक स्वरूप में उलझकर रह जाता है । आत्म-स्थित के समक्ष, नाम-रूप गौण, तथा शक्ति मुख्य होती है ।

अब नाम रूप में उलझे जीव के समक्ष समस्याएँ बढ़ने लगती हैं । वह नाम रूप को ही सब कुछ समझे बैठा है । कुछ अच्छा लगता है तो कुछ बुरा । किसी के प्रति आसक्ति होती है तो किसी के प्रति द्वेष । इच्छित वस्तुएँ लोभ को जन्म देती हैं तो प्रतिकूलताएँ क्रोध को । जीव भाँति-भाँति की कामनाओं में आबद्ध हो जाता है । तब नियति अपना कार्य करती है तथा जीव में संस्कार-संचय प्रारब्ध-निर्माण होने लगता है । यदि प्रारब्ध का चक्र एकबार घूमना आरंभ हो जाय तो जीव उसी में लट्टू की भाँति घूमता रहता है । इस प्रारब्ध-चक्र का मूल कारण, जगत के नाम-रूपात्मक स्वरूप में उलझ जाना है, अर्थात् अविद्या । योग-दर्शन में सभी दुखों का कारण अविद्या को ही कहा गया है ।

शक्ति जगत से भिन्न भी है, सृष्टि-कर्ता भी है तथा उपादान कारण भी है । अर्थात् जगत निर्माण के लिए उसे कहीं दूसरी जगह से सामान लाने की आवश्यकता नहीं है । सामान भी वह स्वयं ही है । भाव यह है कि इस दृश्यमान जगत में जो कुछ दिखाई देता है, सब ईश्वरीय शक्ति के विभिन्न स्वरूप हैं । बड़ा विचित्र कारीगर है ईश्वर, सब कुछ बनाता है, सब कुछ बन जाता है, सभी कुछ सँवारता है, फिर सभी कुछ अपने में ही मिला लेता है । जीव कारीगर को नहीं जान पाता, उसकी बनाई दुनिया में ही उलझ जाता है, आसक्त हो जाता है । जीव का आसक्त हो जाना भी, कारीगर की कारीगरी ही है । कैसा विचित्र है यह जगत तथा कैसा कुशल है यह कारीगर !

जगत जुगनू की तरह जलता-बुझता रहता है, अर्थात् ईश्वर कभी उसे प्रकट कर देता है, कभी अपने अन्दर ही समा लेता है । प्रकट करने को जगत उत्पत्ति तथा विलीन कर लेने को प्रलय कहा जाता है । उत्पत्ति में शक्ति एक के पश्चात् एक तत्त्वों के रूप में प्रकट होती जाती है । प्रलय में, एक के पश्चात् एक तत्त्व समाते चले जाते हैं तथा अन्ततः शक्ति में विलीन हो जाते हैं । जगत का यह उदयास्त समष्टि स्तर पर घटित होता है । यदि विचार किया जाए तो व्यष्टि स्तर पर विलीनीकरण की स्थिति इससे भिन्न है । तब सृष्टि का अस्तित्व पूर्ववत् भासित रहता है किन्तु किसी व्यक्ति विशेष के स्तर पर प्रलय हो जाती है, अर्थात् वह बँधनमुक्त हो जाता है । गुरु प्रदत्त साधन से उसके भौतिक तत्त्व, उलट क्रम से अपने गुणों को समेटते हुए, शक्ति में लौट जाते हैं । व्यष्टि स्तर पर लौटते समय शक्ति, साधक को कई प्रकार की अनुभूतियाँ करवाती है जिन्हें दिव्य कहा गया है । यदि देखा जाए तो जगत की उत्पत्ति तथा इसमें घटित होने वाली सभी क्रियाएँ तथा घटनाएँ, शक्ति की ही क्रियाएँ होने से दिव्य ही हैं, किन्तु इन्हें दिव्य इसलिए नहीं कहा गया, क्योंकि जीव ने इन्हें जगत में आसक्त होने का कारण बना लिया हुआ है । आन्तरिक साधन की अनुभूतियाँ, जगत-बंधन से छुड़ाने का कारण होने से दिव्य कही जाती हैं । अध्यात्म, जगत को विलीन करने के लिए नहीं, व्यक्ति को जगत-बंधन से छुड़ाकर, व्यक्ति के लिए प्रलय करना है । योग-दर्शन में भी कहा गया है कि साधारण पुरुषों के लिए यह जगत पूर्ववत् बना रहता है, किन्तु जो कृतार्थ हो गए हैं, उनके लिए विलीन हो जाता है । भगवान् शंकर को इसीलिए प्रलयंकारी कहा जाता है, क्योंकि वह जीव के समक्ष सृष्टि का प्रलय उपस्थित कर, उसे बंधनमुक्त कर देते हैं ।

गुरु महाराज वाणी को ज्ञान का शरीर कहा करते थे । जिस प्रकार सभी क्रियाएँ इंद्रियों से ही घटित होती हैं, उसी प्रकार ज्ञान भी, वाणी से ही प्रकट होता है । वक्ता वाणी का ही आश्रय लेकर प्रवचन करता है । परा स्तर पर वाणी, बीज रूप में छुपी रहती है । पश्यन्ती स्तर पर प्रस्फुटित होती है । मध्यमा स्तर पर शब्दों का रूप ग्रहण करती है तथा वैखरी स्तर पर प्रकट होती है । वाणी से ही जगत का समस्त ज्ञान प्रकाशित होता है । वाणी ही जगत तथा अहम् के संबंध का प्रधान संपर्क सूत्र है । यही वाणी जब अन्तर्मुखी हो जाती है तो चित्त की परतें उघारना आरंभ कर देती है । वैखरी मध्यमा में, मध्यमा पश्यन्ती में तथा पश्यन्ती परा में समाती चली जाती है । प्रसव क्रम जगदाभिमुखी होता है तो प्रतिप्रसव क्रम आत्माभिमुखी । वाणी भी शक्ति की क्रिया होनें से उस का नियमन संयम, शक्ति की अनुभूति का मार्ग प्रशस्त कर देता है । महाराजश्री ने भी यहाँ वाणी के माध्यम से ही विषय का प्रस्तुतिकरण किया है । महाराजश्री जब बोलते थे तो ऐसा प्रतीत होता था जैसे उन्हें वाक्-सिद्धि प्राप्त है ।

मंत्र-जप का महत्त्वपूर्ण मार्ग, सभी साधनाओं में समान रूप से स्वीकार्य है । मंत्र-जप प्रत्येक स्वास पर, हथौड़े के आघात के समान पड़ता है तथा मन-प्राण पर सीधा

प्रहार करता है । जप को ही शक्ति की अन्तर्मुखी जाग्रति का मुख्य साधन माना गया है । वैसे शास्त्रों तथा संतवाणियों में गुरु-कृपा को मुख्य कहा गया है तथा शक्तिपात् विद्या भी गुरु-कृपा पर ही आधारित है, परन्तु जहाँ तक आणवी साधनाओं का संबंध है, मन्त्र-जप तथा प्राणायाम, यही दो मुख्य हैं । आज के युग में प्राणायाम की सुविधा तथा वातावरण कठिनता से उपलब्ध है, किन्तु मंत्र-जप सभी मनुष्य कर सकते हैं, इसलिए कहा है कि मंत्र-जप ही मुख्य है । शक्तिपात् में भी प्रायः गुरु, मंत्र (वाणी) द्वारा ही शक्तिपात् करते हैं ।

मंत्र का संबंध भाषा-विज्ञान से है जिसके तीन अंग हैं । वर्ण-अर्थात् क, ख, ग इत्यादि । वर्णों को मिलाकर पद् बनते हैं तथा पदों को मिला कर मंत्र । कई मंत्र बीज रूप होते हैं जिसमें प्रत्येक अक्षर मंत्र होता है । अर्थात् बीज में ही पद् तथा मंत्र का भी समावेश होता है । जप साधना, नीचे से ऊपर या बाहर से अंदर जाने का मार्ग है, अर्थात् भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर । प्रथम भाषा से आरंभ किया जाता है जो कि जगत का अंग है तथा भौतिक वाणी के आश्रित है । इसमें वर्णों, पदों तथा मंत्र का शुद्धिकरण, मन के शुद्धिकरण की प्रेरणा देता है । मंत्र का अर्थ तथा भाव, मन पर आघात करके उसे जाग्रति के लिए प्रेरित करता है । कई साधकों को मंत्र-जप से प्राणायाम की क्रियाएँ होने लगती हैं जो जाग्रति का ही एक लक्षण है ।

वाणी के इन तीनों अंगों का संबंध रूपात्मक जगत से है, जिनके नाम कला, तत्त्व तथा भुवन हैं । कला का अर्थ जैसे कि पहले कहा जा चुका है, परिवर्तनशीलता है । कलाएँ कभी घटती हैं तो कभी बढ़ती हैं । यह परिवर्तन भासित है । चन्द्रमा तो चन्द्रमा ही रहता है । शक्ति का न ह्रास होता है न वृद्धि किन्तु फिर भी परिवर्तन हुआ सा दिखाई देता है । इसका कारण शक्ति की स्पंदनशीलता का अति तीव्र होकर, आन्दोलित हो जाना है । जिस प्रकार जल में आन्दोलन से तरंगें पैदा होती हैं, किन्तु जल फिर भी जल ही रहता है, जल के उस स्वरूप को हम तरंग कहते हैं । इसी परिवर्तन या स्पंदनशीलता के कारण, एक के पश्चात् एक तत्त्व बनते हुए से दिखाई देते हैं, जैसे जल, हिमकण में परिवर्तित हो जाता है, तो कहीं भाप बन जाता है । इससे तत्त्वों (पंच भौतिक) के रूप, गुण, धर्म, लक्षण तथा अवस्था में भी अन्तर दिखाई देने लगता है । भुवन का अर्थ है कि वह तत्त्व आश्रय कहाँ पाते हैं, अर्थात् उनका निवास कहाँ है । स्पष्ट है कि महाशून्य रूपी आकाश ही इनकी आश्रय-स्थली है । यद्यपि शास्त्रकारों ने इन भुवनों का विशद् वर्णन किया है, किन्तु यहाँ पाठकों को इतना समझ लेना ही पर्याप्त है ।

वैयक्तिक स्तर पर यदि विचार किया जाए तो जीव के शरीर में प्रतिक्षण कलाएँ फूटती या तिरोहित होती रहती हैं । परिवर्तन का चक्र घूमता ही रहता है । कभी बच्चा तो कभी बूढ़ा, कभी रोगी तो कभी निरोगी । शरीर एक समान किसी का नहीं रहता । मन की

दशा भी बदलती रहती है । कभी सुखी, कभी दुःखी, कभी कामी तो कभी क्रोधी, कभी संतुष्ट तो कभी असंतुष्ट । चित्त की अवस्था भी एक समान नहीं रहती । शरीर भी जगत का ही प्रतिरूप है । जगत की ही भाँति शरीर भी (पृथ्वी पर रहते हुए भी) आकाश में ही विचरता व विश्राम पाता है तथा यह पंच-भौतात्मिक ही है ।

मंत्र-जप के तीन अंगों के शुद्धिकरण द्वारा - भाव, विचार तथा क्रिया रूपी तीन अंगों का शुद्धिकरण होकर, अन्दर जाने का मार्ग प्रशस्त हो जाता है । भाव, विचार तथा क्रिया संस्कारों तथा वासनाओं से अशुद्ध होती हैं। साधक को इन्हें शुद्ध करने के लिए ईश्वरीय-शक्ति कुण्डलिनी को अन्तर्मुखी जाग्रत कर, स्वयंसिद्ध क्रियाओं के माध्यम से क्षीण करना होता है । इनके क्षय से भाव, विचार तथा क्रिया भी शुद्ध हो जाते हैं । जगत के प्रति जीव की आसक्ति बहुत कम हो जाती है । यही कार्य शक्तिपात् के द्वारा होता है । तब पंचभूतात्मक, परिवर्तनशील तथा आकाश-स्थित जगत और शरीर से ऊपर उठने लगता है । इस प्रकार कला, तत्त्व तथा भुवन की शुद्धि हो जाती है ।

यहाँ आते-आते मैं हृदय-मंथन में खो गया । मैं तो रास्ता ही भटक गया था । जाना कहाँ था और जा कहाँ रहा था । अध्यात्म की इतनी लम्बी यात्रा तथा जीवन इतना छोटा ? उसमें से भी अधिकांश समय व्यर्थ नष्ट । मैं अभिमान में ही डूबा इतरा रहा था । जबकि मेरे पास जीवत्व के अतिरिक्त कुछ भी नहीं । जीवत्व भी भाव मात्र ही है, छोटेपन का भाव, कर्त्ताभाव, दुःखी-सुखी भाव, विवशता, शक्तिहीनता, किन्तु अभिमान कितना बड़ा है— मुझ जैसा कोई बुद्धिमान, बलवान या कलाकार नहीं है । इस मिथ्या अभिमान में ही सारी आयु गवाँ दी । अब कहीं श्री गुरुचरणों के दर्शन हुए तो कुछ होश आई है । कम से कम यह तो प्रतीति हुई कि मैं भटक गया हूँ ।

अगले दिन प्रातः भ्रमण के समय, मैंने महाराजश्री से प्रश्न किया, "क्या नाद तथा प्रकाश की क्रियाएँ, तत्वों के आधार पर हैं या संस्कारों के आधार पर ?" उत्तर मिला, "दोनों । तत्त्वों के आधार पर भी तथा संस्कारों के आधार पर भी । पिछले जन्मों के संस्कार, यदि उदय होकर क्रिया प्रकट करते हैं, तो संस्कारों का आधार होता है । यदि संस्कार क्षय के पश्चात् यह अनुभूति हो तो आधार, तत्त्व होते हैं । तत्त्व के विलीनीकरण की क्रिया घटित होने पर, साथ-साथ यह अनुभव भी होते रहते हैं ।"

प्रश्न– जब नाद-प्रकाश की क्रिया, संस्कारक्षय के पश्चात्, तत्त्वों के विलीनीकरण के समय होती है, तो पूर्व जन्मों की साधनाओं के ऐसे संस्कार आ कहाँ से गए ?

उत्तर– जब मन में कोई कल्पना करके साधना की जाती है तो दीर्घकाल की साधना के पश्चात् वह कल्पना साकार होने लगती है, तथा वैसी अनुभूति होती है, जिसके संस्कार

संचय हो जाते हैं । फिर कालान्तर में किसी जन्म में शक्ति जाग्रत होने पर क्रियाओं में प्रकट हो जाते हैं ।

प्रश्न– क्या तत्त्वों के आधार पर घटित होने वाली क्रियाओं के संस्कार संचित नहीं होते ?

उत्तर– तत्वों के आधार पर क्रियाएँ चित्त शुद्ध हो जाने पर, अर्थात् संस्कार क्षय के पश्चात् घटित होती हैं जबकि तत्त्व अपना तथाकथित अस्तित्व समेटने में लगे होते हैं । उन क्रियाओं में जीवत्व की कोई भूमिका नहीं होती, समर्पण भी नहीं, क्योंकि समर्पण भी अपना कार्य पूरा कर चुका होता है तथा जीवत्व आत्मा में विलीन होने के मार्ग पर होता है ।

प्रश्न– आपने जो छह अंगों की शुद्धि की बात समझाई, उसमें तो प्रकाश या नाद का कुछ भी वर्णन नहीं था ?

उत्तर– उसमें तो सृष्टि का उत्पत्ति-क्रम के पश्चात्, केवल अंगों में शुद्धि से, शक्ति की जाग्रति का ही वर्णन था, आगे की क्रियाओं का नहीं, न ही संस्कारों के आधार पर, न ही तत्त्वों के आधार पर ।

प्रश्न– तो क्या शुद्धि के बिना शक्ति जाग्रत नहीं हो सकती ?

उत्तर– हो तो सकती है, पर करना नहीं चाहिए । जब तक शिष्य अधिकारी नहीं हो, शक्तिपात् फलीभूत नहीं हो सकता । या तो शक्तिपात होता ही नहीं, या फिर साधक उसका लाभ उठा पाने से वंचित रह जाता है । मन में अनेकों विकार, काम, क्रोध, लोभ आदि मन को जगत की ओर खेंच ले जाते हैं तथा साधन को खण्डित कर देते हैं । सबसे उत्तम तो यह है कि साधक स्वयं ही दीक्षा के लिए प्रार्थना करने से पूर्व अपने मन में झाँक कर देख ले तथा अधिकारी-अनधिकारी का निर्णय करे । इसके पश्चात् दीक्षा की प्रार्थना होने पर, गुरु शिष्य का परीक्षण करो तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार, अनुभव से देखे कि शिष्य अधिकारी है कि नहीं ।

प्रश्न– किन्तु महाराजश्री ! मैंने तो छह अंगों की शुद्धि की बात सुनी ही नहीं थी, फिर भी आपने दीक्षा की कृपा कर दी ।

उत्तर– तुमने सुना हो या नहीं किन्तु तुम कुछ जप, ध्यान, भजन-गायन स्वाध्याय आदि करते रहे हो । इससे तुम्हारा अधिकार स्थापित हो सका । जब तुम मुझे पहलीबार गाजियाबाद में मिले थे, उसी समय मुझे ऐसी अनुभूति हो गई थी कि तुम दीक्षा के लिए ठीक हो । उस समय तुम्हारी-हमारी अधिक बात भी नहीं हुई थी ।

प्रश्न– इसका अर्थ यह हुआ कि आपने छह अंगों की शुद्धि की जो बात की, उसके अतिरिक्त भी कुछ उपाय हैं ।

उत्तर– मैंने क्या कहा ? कुछ दार्शनिक विवेचन करके, मंत्र-जप का स्वरूप, कार्य, आधार तथा थोड़ा जाग्रति पर प्रकाश डाला। विषय की पृष्ठभूमि समझने के लिए सृष्टि-विकास-क्रम समझाया। मंत्र-जप हो या प्राणायाम, भक्ति, योग, ज्ञान, अनासक्त कर्म आदि से, मन को दीक्षा के योग्य बना लेना चाहिए।

प्रश्न– किन्तु शास्त्रों में अधिकारी शिष्य के जो लक्षण वर्णित हैं, वह तो मेरे सहित, संभवतया किसी भी साधक में दृष्टिगोचर नहीं होते, तो क्या वह सब अनधिकारी थे। फिर जिसमें यह सब लक्षण हों, वह कोई महापुरुष ही हो सकता है, उसको भटकने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर– तुम ठीक कहते हो। साधना के प्रयत्न से, चित्त पूर्णरूपेण शुद्ध हो भी नहीं सकता। यह कार्य क्रिया-शक्ति का है। वही संस्कारों को उछाल कर क्रिया में परिणत कर सकती है। किन्तु दीक्षा से पूर्व अपने संस्कारों-विकारों से छुटकारा प्राप्त करने की जिज्ञासा तो होना चाहिए। यदि दीक्षा से पूर्व साधना से इतना भी प्राप्त हो पाता है तो यही अधिकार है। जाग्रति के पश्चात् साधन तथा गुरुसेवा से संस्कारक्षय, चित्त-शुद्धि, मनोनाश आदि, ईश्वरी शक्ति से भिक्षास्वरूप प्राप्त होते हैं। शास्त्र ने तो अधिकारी शिष्य के लक्षण बताए हैं पर यह नहीं लिखा कि यह सभी लक्षण एक ही व्यक्ति में होना आवश्यक है। एक ही व्यक्ति में सभी लक्षण होना संभव भी नहीं है। यह देखना कि शक्ति ग्रहण करेगी कि नहीं, या शिष्य पर शक्ति का प्रभाव पड़ेगा कि नहीं, गुरु का कार्य है।

(१३) सहनशीलहीनता

१९६२ की बात है, वर्षा ऋतु का समय। आश्रम के एक ब्रह्मचारी जी थे। जब भी आते थे, महाराजश्री की खूब मन लगाकर सेवा करते थे। मेरे साथ भी उनका काफी प्रेम था। जब कभी उनका सानिध्य प्राप्त हो जाता था, समय अच्छा कटता था। उन्होंने बद्री-केदार की यात्रा पर जाने का मन बनाया तो मुझे कहने लगे कि आप भी साथ चलो। मेरे पास तो एक पैसा भी नहीं था। आश्रम आकर भी 'पैसा न लेना, न रखना' वाला सिद्धान्त ही चलता था। आश्रम पर आए हुए तीसरा वर्ष चल रहा था, इसलिए कहीं हो आने का मन तो होता था, किन्तु मेरे पास खर्च के लिए कुछ भी नहीं था। फिर यह भी सोचने की बात थी कि यदि हम दोनों ब्रह्मचारी यात्रा पर चले गए, तो महाराजश्री की सेवा में कौन रहेगा ? ब्रह्मचारीजी संभवतया मेरे मन की उलझन समझ गए। बोले, "आप यही सोच रहे हैं न कि आपके पास यात्रा-खर्च के लिए कुछ नहीं है। मेरे पास जो कुछ है, उसे अपना ही समझो। हाँ, महाराजश्री की सेवा का प्रश्न अवश्य है। वैसे भी जाने का निर्णय लेने से पूर्व महाराजश्री की अनुमति तो लेना ही है, सब बात हो जाएगी।"

महाराजश्री के समक्ष बद्री-केदार की यात्रा का विचार निवेदन किया गया तो वह बड़े प्रसन्न हुए । बोले, "अच्छा है जाओ । इसी बहाने कुछ दिनों के लिए घूम भी आओगे । एक स्थान पर रहते-रहते मन उकताने लगता है । ऐसी उकताहट होने पर संसारी व्यक्ति, मनोरंजन के साधन जुटाता है, तो साधक तीर्थयात्रा करता है । वैसे एक बात समझ लो कि तीर्थ-यात्रा अन्तर में होती है, बाहर नहीं । बाहर की तीर्थयात्रा केवल, अन्तर की तीर्थयात्रा का अभ्यास है । यात्रा करते समय कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं, अपमान सहन करने पड़ते हैं, असफलताओं का मुँह देखना पड़ता है, फिर भी धैर्यपूर्वक शान्त-चित्त आगे बढ़ना होता है । कहीं पर्वतमालाएँ दिखाई देती हैं तो कहीं अथाह सागर, कहीं मरुस्थल सामने आ जाता है, तो कहीं सुन्दर हरियाली । तीर्थ-यात्रा में नानात्व के दर्शन पाने को मिलते हैं । यह सब अन्तर-यात्रा की बाह्य झलक मात्र है । अन्तर यात्रा बड़ी कठिन है । उसके लिए अत्यन्त धैर्यवान, उत्साहशील, लगन के पक्के, आगे बढ़ने का संकल्प, दर्शन पाने की उत्कण्ठा तथा सहनशीलता वाले आवश्यक हैं । अन्तर यात्रा में नाना अनुभव तथा नाना ही दृश्य देखने को मिलते हैं, जिनमें साधक के आसक्त हो जाने की संभावना होती है, किन्तु यात्री को तो आगे बढ़ जाना होता है । इन सारी बातों का अभ्यास रूप बाह्य यात्रा है किन्तु आज तीर्थयात्रा अधिक से अधिक पर्यटन का सुविधाजनक रूप लेती जा रही है तथा अन्तर-यात्रा के लिए तपस्या का भाव विलीन हो गया है । सड़कें, रेलगाड़ी, ठहरने-खाने के अच्छे साधन, जेब में पैसा, उचित-अनुचित ढंग से किसी भी तरह आराम के साधन जुटाना, आदि बातों ने यात्रा के मूल उद्देश्य को गौण कर दिया है । जब बाहर ही यात्रा न रही, तो अन्तर की यात्रा का आरंभ ही कैसे होगा ?

"हम ने उत्तराखण्ड की यात्रा, प्रथम बार १९३४ में की थी । उस समय बस सम्भवतः देवप्रयाग तक जाती थी, किन्तु हमने ऋषिकेश से ही पैदल चलना आरंभ किया था । रास्ते में जहाँ-जहाँ साधु-संतों की कुटियाएँ-आश्रम आते, हम दर्शन-सत्संग अवश्य करते थे । अपना नित्य नियम संध्या जपादि को भी भंग नहीं होने दिया । चढ़ते-उतरते, प्रकृति की छटा निहारते, सत्संग करते, हाथ से ही भोजन बनाकर करते, बना-बनाया बाजार से लेकर कुछ भी नहीं खाते, सुविधाओं-असुविधाओं को सहन करते हुए तथा चलते समय भी मन ही मन मंत्र जप करते हुए आगे बढ़ते जाते थे । उस समय जमाना बहुत सस्ता था, फिर भी ऋषिकेश से चलते समय गुरुजी (श्री योगानन्दजी महाराज) ने मुझे कुछ पैसे दे दिए थे । उसी गुरु प्रसाद से यात्रा संपन्न हुई ।

"इस यात्रा की एक घटना जो मुझे अभी तक याद है । मैं केदारनाथ के मार्ग पर, गौरी कुण्ड से ऊपर की चढ़ाई चढ़ रहा था कि दर्शन लाभकर एक व्यक्ति ऊपर से उतरता हुआ दिखाई दिया । जब वह मेरे पास से निकला तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह अपने ही साधन पथ का यात्री है ! संभव है, उसे भी ऐसा ही लगा हो । थोड़ा आगे जाकर, जब मैंने

पीछे मुड़कर देखा, तो वह सज्जन भी मेरी ही तरह ठहरकर तथा पीछे मुड़कर, मुझे देख रहे थे । सहसा पाँव उनकी ओर उठ गए । वह भी मेरी ओर आगे बढ़ आए । हम दोनों एक दूसरे के आमने-सामने खड़े थे तथा एक-दूसरे को देखते जा रहे थे । उन सज्जन ने मौन तोड़ते हुए कहा, "मैं गुलवणी" (पूना के विख्यात संत श्री गुलवणी महाराज, महाराजश्री के संन्यास गुरुबंधु स्वामी लोकनाथ तीर्थ महाराज के शिष्य) महाराजश्री ने भी अपना परिचय दिया तथा अपने आपको श्री योगानन्द जी महाराज का शिष्य बताया । इस प्रकार हमारी तथा गुलवणी महाराज की प्रथम भेंट यात्रा-पथ में, हिमालय की दुर्गम ऊँचाइयों पर हुई । अन्तर यात्रा में भी साधक को सिद्धों, देवताओं तथा ऋषियों के दर्शन होते हैं, किन्तु उसके पूर्व साधक को लम्बी कठिन यात्रा करना पड़ती है तथा आने वाले कष्टों एवं दुखों को सहन करना पड़ता है ।

"दूसरी एक घटना गंगोत्री के मार्ग की याद आती है । रास्ते में एक चट्टी (यात्रियों के ठहरने का स्थान) पर रात को सोये हुए थे । चट्टी गंगाजी के किनारे पर ही थी । वर्षा जोरदार हो रही थी । रात को एक व्यक्ति हाथ में लालटेन लिए चिल्लाता हुआ आया, "उठो, उठो, गंगाजी का पानी बढ़ता आ रहा है ।" हम सब उठकर ऊँची जगह पर चले गए । प्रातःकाल देखा तो चट्टियों के स्थान पर गंगाजी बह रही थी । अन्तर यात्रा में भी इसी प्रकार भगवान संकटों से सावधान करते हैं, पर सुरक्षित स्थान पर स्वयं ही जाना पड़ता है ।

"इसी तरह एक और अनुभव हुआ । मैं यमुनोत्री से वापिस आकर, गंगोत्री जा रहा था । रास्ते में एक छोटा पहाड़ी मार्ग था, जिससे सीधे उत्तरकाशी जाया जा सकता था । छोटे मार्ग के लोभ में मैं उस मार्ग पर हो लिया । पहाड़ी पगडण्डियों में कोई निश्चित रास्ता तो होता नहीं, उस समय तो बिल्कुल ही नहीं था । जैसा किसी ने बताया, वैसा चल दिया । छोटे मार्ग का यह लोभ अध्यात्म-पथ में बहुत घातक है । मैं रास्ता भटक गया । ऊँचे-ऊँचे पर्वत शिखरों में घिरा हुआ, मैं मार्ग खोजता फिरता था । सोचा था कि शीघ्र ही उत्तरकाशी पहुँच जाऊँगा, किन्तु यहाँ भटकते हुए ही अंधेरा घिर आया था । मन में कुछ चिन्ता भी होने लगी थी । उजाड़ जंगल में यहाँ रात कैसे बिताऊँगा ! भूख-प्यास भी सताने लगी थी । सामने से रात का अंधकार भागता हुआ आता दिखाई दे रहा था कि सहसा एक वृद्ध महात्मा, लम्बी दाढ़ी, कमण्डू हाथ में लिए आते दिखाई दिए । पास पहुँचने पर मैंने नमस्कार किया तो वह पहले ही बोल पड़े, "रास्ता भटक गए हो क्या ? तुम इधर से आ ही काहे को गए ? सीधा रास्ता ही अच्छा था, भले थोड़ी देर लग जाती । वैसे देर तो तुम्हें अब उससे भी अधिक लग चुकी है ।" मेरे उत्तरकाशी कहने पर बोले कि आओ मेरे पीछे । मैं महात्माजी के पीछे-पीछे हो लिया । अभी कोई दस पन्द्रह मिनट ही चले होंगे कि उत्तरकाशी की बत्तियाँ जलती दिखाई देने लगीं । मैं गाँव की ओर देखता रह गया । पीछे घूम कर देखा, वह महात्मा वहाँ नहीं थे । कौन थे ? कहाँ से आए थे ? भगवान जाने ।

"यात्रा में एक फ्रैंच दम्पत्ति से भेंट हो गई । जगत के विभिन्न देशों की यात्रा करते हुए भारत आए थे । मैंने पूछा कि आपने भारत में ऐसा क्या देखा है जो और किसी देश में नहीं देखा ? वह बोले, "गंगा जैसी नदी किसी देश में नहीं देखी । ऐसा लगता है जैसे यह नदी नहीं माता है । इसके किनारे की दृश्यावली, शान्ति, अलौकिक आनन्द, दर्शन में सात्विक प्रेम का संचार अन्य किसी देश में प्राप्त नहीं हुआ ।" यह तो बाहरी गंगाजी की बाहरी यात्रा का वर्णन है, जब आन्तरिक गंगाजी के किनारे रमण करोगे, तो उस आनन्द को व्यक्त नहीं किया जा सकता ।

"अरे ! मैं तो पुरानी स्मृतियों में ही खोकर रह गया । यह भी याद नहीं रहा कि तुम लोग यात्रा पर जा रहे हो । यदि यात्रा का वास्तविक आनन्द लेना चाहते हो तो पैदल जाना । यदि अभ्यास रूप में कष्ट सहन करते हुए, मन पर आघात करना चाहते हो तो पैदल जाना । यदि मान-अपमान का सामना करना चाहते हो तथा यात्रा को समीप से देखना चाहते हो, तो पैदल जाना । आजकल वर्षा ऋतु है, कठिनाइयाँ झेलने का खूब आनन्द आएगा । रास्ते में पड़ने वाले आश्रमों में जाकर दर्शन तथा सत्संग का लाभ उठाना । संत ही तीर्थ हैं जो मन को निर्मल करते हैं । सुविधाओं के पीछे मत भागना । बद्री तथा केदार में तीन-तीन दिन निवास करना । भगवान तुम्हारी यात्रा सफल करे ।"

मैंने निवेदन किया, "आपकी सेवा में पीछे कोई नहीं है, इसलिए जाने में संकोच हो रहा है ।" बोले, "वाह, कोई क्यों नहीं, इतने सारे लोग तो हैं । तुम निस्संकोच जाओ । वापिस लौटने में जल्दी करने की आवश्यकता नहीं । जहाँ अच्छा लगे वहाँ एक -दो दिन ठहर भी जाना । मैं यहाँ आराम में हूँ, मेरी चिन्ता मत करना ।"

(१४) यात्रा के नियम

महाराजश्री के तीर्थ-यात्रा के विवेचन ने मुझे कई कुछ सोचने पर विवश कर दिया । एक प्रकार से मेरा हृदय मंथन ही आरंभ हो गया । आश्रम से विदा हुए तो मैं जैसे खोया-खोया सा था । महाराजश्री ने यात्रा पर कितने सटीक तथा सार्थक विचार व्यक्त किए थे । वास्तव में बाहर की यात्रा, जीवन यात्रा का ही एक अंग है जो जीवन-प्रवाह को सही दिशा प्रदान कर सकती है । जो जीवन कुमार्ग पर सरपट भागे जा रहा है, उसे सन्मार्ग पर ला सकती है किन्तु फिर भी बाहर की यात्रा बाहर की ही है । जहाँ कुमार्ग अन्तर की यात्रा पर चलने ही नहीं देता, वहां सन्मार्ग अन्तर की यात्रा का द्वार खोल देता है । जीवन-यात्रा को सही दिशा देने के लिए तीर्थ-यात्राओं का कितना बड़ा हाथ रहा है । सहनशीलता पैदा करने में, हृदय को उदार बनाने में तथा सतत् ध्यान-चिन्तन और जप में रत रहने का अभ्यास करने में यात्राओं का कितना योगदान है । मेरा मन अन्दर ही अन्दर यात्रा के विषय का विश्लेषण

करने में ही लगा रहा। ऋषिकेश पहुँचने तक रेलगाड़ी में, इन्हीं विचारों में डूबा रहा। ब्रह्मचारीजी ने भी बहुत कम बात की। जो निष्कर्ष मैंने निकाले, वह इस प्रकार हैं—

(१) जीवन के दैनिक प्रवाह में हम बात-बात में क्रोधित हो उठते हैं। यदि व्यक्त नहीं भी होने देते तो अन्दर ही अन्दर तिलमिला तो उठते ही हैं। यात्राकाल में हम विपरीत परिस्थितियों तथा प्रतिकूल अवस्थाओं में अपना आपा खो बैठते हैं। यदि कम से कम इस काल में हम संयम बरतने का अभ्यास करें तो बहुत कुछ क्रोध पर काबू पाया जा सकता है। बाह्य अनुकूलता-प्रतिकूलता से प्रभावित हो जाना मन की दुर्बलता है, प्रत्याहार का अभाव है। इन स्थितियों में हमारा मन, न अन्तर यात्रा कर पाता है तथा न ही किसी विषय पर एकाग्र हो पाता है। शक्ति की क्रियाओं में भी हम अपना चित्त उन पर एकाग्र रख पाने में असमर्थ रहते हैं। जगत की घटनाओं का मन पर प्रभाव पड़ने का, सबसे प्रत्यक्ष उदाहरण क्रोध ही है। यह मन में उदय होता है, परन्तु चेहरे पर उभरता है, वाणी से व्यक्त होता है तथा कर्मेन्द्रियों से उपद्रव कर बैठता है। जिस पर क्रोध आता है वह भी दुःखी होता है। जो क्रोध करता है वह भी क्रोधाग्नि में जलता है। क्रोध अध्यात्म का महान शत्रु है। इसलिए ऐसा नियम बनाकर तीर्थयात्री को चलना चाहिए कि चाहे कुछ भी हो जाए, या कोई कुछ भी कह दे, कम से कम यात्रा-काल में क्रोध पर नियंत्रण रखूँगा। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि मन में क्रोध आए ही नहीं।

(२) सामान्यतया मनुष्य सुविधाएँ जुटाने तथा उनका उपभोग करने में लगा रहता है। सुविधाओं के लिए ही धनोपार्जन में अपने समय तथा शक्ति का व्यय करता है। परिणामतः उसको सुविधाएँ उपलब्ध हों या नहीं, उनके साथ उसे आसक्ति अवश्य हो जाती है। वह अभाव तथा कष्ट सहन करने की आदत का विकास कर ही नहीं पाता जबकि कष्ट तथा अभाव, सभी को झेलने ही पड़ते हैं। तब मनुष्य दुःखी हो जाता है। यदि कम से कम यात्रा-काल में वह सुविधाओं तथा सुखों की आशा का त्याग कर दे, कष्टमय परिस्थितियों में प्रसन्न रहने का प्रयत्न करे, कोई अभाव न होते हुए भी, अभाव में रहने का अभ्यास कर ले, तो सुविधाओं के प्रति आसक्ति की निवृत्ति का मार्ग खुल सकता है।

(३) साधन-भजन में मनुष्य निरन्तरता रख पाने में कठिनाई अनुभव करता है। कुछ तो उसमें प्रमाद की कम या अधिक मात्रा होती है तथा कुछ वह सांसारिक उत्तरदायित्वों को साधन से अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। इसलिए साधन खण्डित होता रहता है किन्तु यदि वह चाहे तो तीर्थ-यात्रा-काल में साधन की निरन्तरता का अभ्यास कर सकता है। काम करने के साथ-साथ साधन कैसे करना है, सीख सकता है। जैसे कि चलते समय, भोजन बनाते समय, स्नान करते या कपड़े धोते समय, साथ-साथ जप कर सकता है। यात्रा समय का यह अभ्यास सामान्य समय में भी उसकी सहायता करता है। यात्रा-समय फालतू बातें

नहीं करना, क्योंकि यह भी समय का दुरुपयोग तथा साधना खण्डित होने का कारण है । यात्री को तभी बोलना चाहिए जब उससे कोई बात पूछी जाए या उसे कुछ पूछना-कहना हो । इस प्रकार यात्री का साधक-स्वरूप काफी परिपक्वता ग्रहण कर लेगा ।

(४) यदि यात्री गृहस्थ हो तो यात्रा काल में उसे यथा-सामर्थ्य दान-पुण्य करते रहना चाहिए । यदि विरक्त हो तो जैसा मिल जाए, उसी को भगवान का प्रसाद समझ कर संतुष्ट रहना चाहिए । यदि श्रीमन्त हो तो केवल धर्म की कमाई से ही यात्रा करनी चाहिए । अधर्म, अत्याचार या अनधिकार से कमाये धन से जो यात्रा करते हैं, उसमें सैर-सपाटा होता है, यात्रा नहीं । ध्यान रहे कि तीर्थ-यात्रा को आध्यात्मिक साधन के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए तभी आन्तरिक यात्रा में आगे बढ़ा जा सकता है अन्यथा भ्रमण या स्थल दर्शन ही रह जाएगा ।

(५) यात्री को यात्रा में, साधन की निरन्तरता बनाए रखने का प्रयत्न करना चाहिए । प्रातःकाल उठकर पहले स्नानादि से निवृत्त होकर अपना नित्य संध्यावन्दादि, जप, कुछ अध्ययन कर लेना चाहिए । जहाँ सुविधा हो वहाँ साधन भी करे । फिर यदि भोजन बनाना हो तो बना ले, खा ले या साथ ले ले । चलते समय जप में ध्यान लगाए । एक दिन में इतना नहीं चले कि अगले स्थान तक पहुँचते-पहुँचते थक जाए । रास्ते में कोई संत पुरुष की कुटिया आ जाए तो ठहरकर दर्शन-लाभ ले । शाम को जहाँ आसन करे, वहाँ फिर पूजा-अर्चा, जप-पाठ आदि करे । भोजन बना-खाकर रात को जप करते-करते या साधन करते सो जाए ।

(६) उपर्युक्त बातें उन यात्रियों के लिए मन में उदय हुई जो लम्बी, जैसे नर्मदा परिक्रमा या पैदल उत्तराखण्ड-यात्रा करते हैं । यात्रा भी साधना का ही एक स्वरूप है । जब मन चंचल हो तो भगवान के लिए भटकना ही ठीक है, जिनका मन चंचलता त्याग देता है, उनकी अन्तर यात्रा आरंभ हो जाती है । कुछ लोग यात्रा के विरोधी हैं, किन्तु यात्रा सब के लिए निष्फल नहीं है । केवल भाव शुद्ध होना चाहिए व्यवहार निर्मल, मन में जगत की असारता तथा भगवान में प्रेम होना चाहिए । जिनमें यह भाव नहीं है, उनके लिए यात्रा निष्फल है । या जो मन की चंचलता त्याग चुके हैं, उनके लिए यात्रा निष्फल है ।

ऋषिकेश से आगे चलकर, हम एक स्वामीजी की कुटिया में दर्शनार्थ ठहरे तथा उन्हें बताया कि हम पैदल बद्रीकेदार जा रहे हैं तो कुछ ऐसी ही बातें उन्होंने भी कही । "जिन्होंने भी आपको पैदल चलने की राय दी है, उनका सुझाव प्रशंसनीय है । यात्रा का अधिक आनन्द तो आप उठा ही सकेंगे, दृश्यों को अधिक समीप से तथा स्पष्ट देख सकेंगे, झरनों के किनारे बैठकर जल ग्रहण कर सकेंगे, किन्तु इसका वास्तविक लाभ आध्यात्मिक है । पैदल यात्रा में कष्ट बहुत उठाना पड़ता है, वही तप है । वर्षा का मौसम आरंभ हो चुका है, नदी नालों

में पूर आ जाएगा, जीव-जंतु निकल आएँगे । कठिनाई बहुत होगी । आपको खूब तपने का अवसर प्राप्त होगा । पैदल चलने से स्थानीय लोगों का संपर्क अधिक होगा, जिससे ज्ञान-वृद्धि होगी । साधु-संतों का सत्संग मिलेगा, जिससे मन निर्मल होगा । दुखियों की सेवा का अवसर मिलेगा, जिससे दया भाव पैदा होगा । मान-अपमान सहन करने से सहनशीलता बढ़ेगी । साधन-भजन का समय मिल सकेगा । आप जैसे विरक्तों के लिए पैदल यात्रा सर्वोत्तम है । सवारी की यात्रा तो उन लोगों के लिए है, जिनके पास समय की कमी है तथा किसी प्रकार यात्रा रूपी घास काट देना है ।"

(१५) यात्रा-रहस्य

यात्रा में हमें दो महीने लग गए । वहाँ से हम नांगल गए । ब्रह्मचारीजी तो वहाँ से चले गए । (अब याद नहीं कहाँ) मैं हिमाचल प्रदेश में उस स्थान पर गया जहाँ कभी कुटिया बनाकर रहा करता था । वहाँ से देवास वापिस आ गया ।

महाराजश्री वराण्डे में बैठे थे । प्रणाम करके बैठा तो कहने लगे, "क्या यात्रा सुखद रही ?" मेरे "जी हाँ" कहने पर बोले, "मैंने जो बातें आप लोगों को जाते समय कही थीं, आशा है उनका ध्यान अवश्य रखा होगा । बाहरी यात्रा से लोगों में, यात्रा का अभिमान आ जाता है । आध्यात्मिक लाभ तो कुछ उठाते नहीं, बस बातें करते रहते हैं कि अमुक यात्रा में लोग कैसे थे ! दृश्य कैसे थे ! वहाँ का खान-पान कैसा था ! वहाँ की विचित्रताएँ क्या थीं ! इस प्रकार लोगों पर अपनी धाक जमाते रहते हैं । तुम यह सब नहीं करना । यात्रा में अभिमान की कोई बात नहीं है । जिसने अभिमान किया उसने यात्रा की ही नहीं । ठीक है कि आज का युग पैदल यात्राओं का नहीं है । कोई समय था जब भगवान शंकराचार्य ने बिना किसी सामान या पैसे के, सारे भारत का भ्रमण किया था । उस समय साधु को भिक्षा की कोई कमी नहीं थी । आज साधु किसी गाँव में चला जाए तो लोग पहले यही सोचते हैं कि कहीं चोर या ठग तो नहीं है ।

"तुमने अभी जो यात्रा की है वह तुम्हारे जैसे विरक्तों के लिए अधूरी है । यात्रा के साथ भिक्षा का घनिष्ठ संबंध है । भिक्षा करते हुए तीर्थ-यात्रा, अभिमान पर सीधा आघात करती है । कभी भिक्षा नहीं मिले तो भूखा भी रहना पड़ता है । कभी कोई भूखा मांग ले तो भिक्षा उसे देना भी पड़ती है । भीख तथा भिक्षा में बड़ा अन्तर है । भीख माँगना संसारी लोगों का एक धंधा है तो भिक्षा साधकों की साधना । भाव तथा पृष्ठभूमि में दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है । भिक्षा साधन को निखारती है । भिक्षा साधकों को सिद्ध बनाने वाला राजमार्ग है । भिक्षा के बिना साधु अधूरा है । विरक्त की यात्रा तो भिक्षा के बिना पूरी होती ही नहीं । मान-अपमान सहन करने के जो अनुभव भिक्षा में प्राप्त होते हैं, वह यात्रा में भी नहीं होते ।

भाव यह है कि साधक के जीवन की सफलता सुख-भोग में नहीं, वरन् दुखों को सहन करने में है । इसीलिए यात्रा तथा भिक्षा का विधान किया गया है । आज चाहे सुखमय, सुविधामय यात्रा में लोगों की रुचि हो किन्तु यह विचार यात्रा के मूल उद्देश्य को ही नष्ट कर देता है ।"

मैं यह सब मौन होकर सुनता रहा । मैंने कहा, "महाराजश्री, मैंने यात्रा में यह अनुभव किया है कि अपनी साधना कितनी भी क्योंन कर ली जाए, जैसे चलते-फिरते जप, किन्तु शक्तिपात् की साधना कर पाना कठिन है । इससे अच्छा तो यही है कि एक स्थान पर रहकर ही निरन्तर साधन किया जाए ।"

महाराजश्री ने कहा, "यह तो सर्वोत्तम है पर सामान्यतः एसा हो नहीं पाता । चंचलता के संस्कार मन को उचाट कर देते हैं तथा उसके शमन के लिए कभी इधर-उधर भी जाना पड़ता है । यदि जाना ही हो तो तीर्थ-यात्रा सबसे उत्तम है, यदि यात्रा संबंधी शास्त्रीय नियमों का पालन किया जाए तो । अन्यथा तीर्थ-यात्रा केवल भ्रमण होकर रह जाती है, जिसका अध्यात्म में कोई लाभ नहीं । जिनका मन शान्त हो चुका है उन्हें तीर्थों में भटकने की कोई आवश्यकता नहीं ।"

(१६) स्वभाव-परिवर्तन

प्रातः भ्रमण समय मैंने महाराजश्री से पूछा, "स्वभाव बदल पाना कितना कठिन है ? लाख समझाते रहो किन्तु मनुष्य अपना स्वभाव छोड़ने पर तैयार नहीं होता । यदि कोई स्वयं भी बदलने का प्रयत्न करे तो भी नहीं बदल पाता । कैसा विवश है ?"

उत्तर– स्वभाव एक ऐसा भूत है जो एकबार पीछे लग जाए तो जन्म-जन्मान्तर तक पीछा नहीं छोड़ता । यह भूत मरना जानता ही नहीं । मर-मर कर जी उठता है । भगाने से भागता नहीं । डराने से डरता नहीं । प्रार्थना करने पर नहीं जाता । समझाने पर भी नहीं समझता । अन्दर ही अन्दर जलाता रहता है । जीव की सारी शक्ति निचोड़कर खोखला कर देता है । बड़े-बड़े तपस्वी भी इसके हाथों विवश हैं । वह किसी का भी त्याग कर सकते हैं, स्वभाव का नहीं ।

स्वभाव है क्या ? चित्त की अवस्था विशेष । ज़िसमें एक विशेष प्रकार के संस्कार प्रभावशील होते हैं । वह संस्कार कभी विच्छिन्न होकर, प्रसुप्तावस्था धारण कर लेते हैं तो कभी उदार होकर, चित्त को तरंगित कर देते हैं । संस्कार प्रसुप्त होने पर स्वभाव भी दबा रहता है, किन्तु उदार होने पर पुनः प्रकट हो जाता है । जैसे किसी का क्रोधी स्वभाव है, अर्थात् उसमें क्रोध के संस्कार अधिक मात्रा में हैं । क्रोध आ जाने का अर्थ है क्रोध के संस्कारों का उदार हो जाना । जिसमें क्रोध के संस्कार नहीं होंगे, उसको क्रोध आएगा कहाँ से ? क्रोध दिलाने पर भी, क्रोध उसी में प्रकट होता है, जिसमें क्रोध के संस्कार होंगे ।

जब एक ही प्रकार के संस्कार बार-बार उदार होकर, चित्त को तरंगित करते हैं तथा मनुष्य उनसे प्रभावित होता रहता है तथा उसके अनुसार व्यवहार करने पर विवश हो जाता है, तो उसी प्रकार के अन्य संस्कार संचय भी कर लेता है तथा पूर्व-संचित संस्कार भी प्रबल हो जाते हैं । तब मनुष्य का वैसा स्वभाव हो जाता है ।

स्वभाव सदैव ही अस्वाभाविक होता है । मनुष्य का स्वाभाविक रूप आत्मा निर्विकार, परिवर्तन रहित एवं सभी आवरणों से अछूता है । स्वभाव जीवत्व का गुण है । आत्मा का कोई स्वभाव नहीं । चित्त में जितने संस्कार अधिक होंगे उतने स्वभाव अधिक होंगे । एक ही व्यक्ति में काम, क्रोध, ईर्ष्या , द्वेष, निंदा आदि अनेक स्वभाव हो सकते हैं । जब जैसा संस्कार उदय होता है, वैसा स्वभाव प्रकट हो जाता है । संस्कार बदलने पर स्वभाव भी बदल जाता है किन्तु प्रसुप्तावस्था में चित्त में विद्यमान रहता है । जब क्रोध के संस्कार उदय होते हैं तो मनुष्य क्रोधी होता है, किन्तु अगले ही क्षण संस्कार बदल जाने पर भयभीत हो जाता है । बाह्य जगत, केवल अन्दर के संस्कारों को उदार बनाकर, छुपे स्वभाव को प्रकट करने का माध्यम है । कभी-कभी जगत की सहायता के बिना भी, संस्कार उदार होकर स्वभाव को प्रकट कर देते हैं । अकेले, आँखें बंद किए बैठे होने पर कोई पूर्व घटना स्मरण हो आती है, तो मनुष्य का क्रोधी या ईर्ष्यालु स्वभाव जाग्रत हो जाता है ।

ऐसा नहीं कि स्वभाव का स्वरूप केवल अशुभ तथा विकारयुक्त ही हो । शुभ तथा सत्त्वगुणी स्वभाव भी है । प्रत्येक व्यक्ति में स्वभाव का शुभाशुभ मिश्रण होता है । किसी में अशुभ की अधिकता होती है, किसी में शुभ की । कभी शुभ स्वभाव उदय हो जाता है तो कभी अशुभ । कोई व्यक्ति अभी देवत्व धारण किए बैठा है कि अगले ही क्षण उसमें राक्षसत्व जाग उठता है । कुछ लोग दयालु, क्षमाशील तथा उदार होते हैं । अध्यात्म उन्नति के लिए यह स्वभाव अवश्य सहायक है ।

क्या स्वभाव बदल सकता है ? हाँ , बदल सकता है अपितु बदलता ही है किन्तु बदलाने से नहीं बदलता, बदलने से बदलता है । जब संस्कार बदल जाते हैं, तो स्वभाव भी बदल जाता है । जब तक किसी स्वभाव के संस्कार चित्त को प्रभावित किए रहते हैं, कितना भी प्रयत्न करो स्वभाव नहीं बदलता ।

प्रश्न– किन्तु आपने कहा कि स्वभाव का भूत एक बार पीछे लग जाए तो पीछा छोड़ता ही नहीं, किन्तु अभी आपने कहा कि संस्कारों के बदल जाने पर स्वभाव भी बदल जाता है ?

उत्तर– मैंने कहा था सो ठीक ही कहा था । संस्कारों के बदल जाने पर स्वभाव बदल जाता है । किन्तु वही संस्कार जब पुनः उदय हो जाते हैं तो स्वभाव भी फिर से उठ खड़ा होता है । यह दबना-बदलना अस्थाई रूप से ही होता है । जब तक संस्कार जड़-मूल से क्षीण नहीं

हो जाएँ तब तक स्वभाव का बार-बार प्रकट होना-विलीन होना, चलता ही रहेगा। संस्कारों का क्षय सरल नहीं। तप करते रहो, विवेक को जाग्रत करते रहो, अथवा जपादि का अनुष्ठान करते रहो संस्कार भी क्षीण नहीं हो पाते, न ही स्वभाव जड़-मूल से नष्ट होता है।

प्रश्न– स्वभाव से पीछा छुड़ाने का कोई उपाय तो होगा ?

उत्तर– मार्ग है किन्तु जीव के पास नहीं ईश्वर के पास है। ईश्वरीय शक्ति जब अन्तर में जाग्रत होकर क्रियाशील होती है तथा संस्कारों का नाश करती है तो स्वभाव से पीछा छूटता है। तभी स्वभाव का कारण निर्मूल होता है।

प्रश्न– किन्तु प्रायः साधक देखे जाते हैं जिनके अन्तर में ईश्वरीय शक्ति भी जाग्रत तथा क्रियाशील है, किन्तु फिर भी, कितने वर्षों के पश्चात् भी, उनका स्वभाव नहीं बदला। क्या शक्ति ने उनके संस्कारों का नाश नहीं किया ?

उत्तर– शक्ति तो कार्य करती है पर जीवत्व बीच में मार्ग अवरुद्ध करने का प्रयत्न करता रहता है। अध्यात्म के लिए जिस समर्पण की आवश्यकता होती है, वह प्रायः साधकों में नहीं होता। शक्ति को कार्य करने की स्वतंत्रता समर्पण ही प्रदान करता है। समर्पण ही साधक को निष्काम बनाता है, समर्पण ही वृत्ति को अन्तर्मुख करता है, अन्यथा साधक बहिर्मुख ही बना रहता है। महात्मा होने का अभिमान पाले रहता है, क्रियाओं के अनुभव से फूला नहीं समाता। परिणाम यह होता है कि स्वभाव निर्मूल होने के स्थान पर, और भी अधिक पुष्ट होता जाता है।"

मुझे भी अन्तर में असंख्य दोष दिखाई दे रहे थे जो अब स्वभाव का स्वरूप ले चुके थे। इन दोषों से लड़ते हुए जीवन समाप्त होने को आ रहा था, परन्तु अभी तक एक को भी परास्त नहीं कर पाया था। मैं सोचने लगा कि क्या यह जीवन भी ऐसे ही चला जाएगा ? क्या मैं दोषों की दलदल में धँसा ऐसे ही समय व्यतीत करके चला जाऊँगा ? किन्तु महाराजश्री के वचनों से कुछ संतोष हुआ कि भगवती क्रियाशक्ति हमारी सहायता को उपस्थित है, आवश्यकता है केवल समर्पण की।

(१७) पूर्व-स्मृतियाँ

१९६२ के अन्त में महाराजश्री रायपुर, बिलासपुर, जबलपुर, कवर्धा आदि स्थानों पर भ्रमणार्थ पधारे। भक्तों-शिष्यों के आग्रह पर, कभी-कभी महाराजश्री उन्हें दर्शन देने चले जाया करते थे। सब लोग तो देवास आ नहीं पाते थे। कुछ की आर्थिक कठिनाइयाँ थीं, तो कुछ अति वृद्ध थे। किसी को छुट्टी की समस्या होती थी तो कोई पारिवारिक उत्तरदायित्वों से परेशान थे। महाराजश्री चले जाते थे तो सब को दर्शन-लाभ हो जाता था। मुझे महाराजश्री की सेवा में, बाहर जाने का सौभाग्य प्रथमबार प्राप्त हुआ था। जबलपुर में महाराजश्री के चाचाजी रेलवे गार्ड थे। पढ़ने के लिए उन्हें अपने पास बुला लिया था। यहाँ

उनकी प्रायमरी तक की शिक्षा संपन्न हुई थी । आपने मुझे वह स्कूल दिखाया जिसमें आप पढ़ा करते थे ।

फिर हम बिलासपुर पहुँचे, जहाँ महाराजश्री ने अपनी पहली नौकरी, स्कूल शिक्षक के रूप में की थी । जिस मुहल्ले में महाराजश्री रहा करते थे उसी में जाकर हम ठहरे थे । रहने का मकान भी दिखाया, यद्यपि उसका अधिकांश भाग गिर चुका था । महाराजश्री कहने लगे, "प्रारब्ध मनुष्य को कब, कहाँ ले जाएगा, कौन जानता है, कब कैसी स्थिति में रखेगा, क्या पता ? हमारा जन्म तो हरियाणा में हुआ, प्रारम्भिक शिक्षा जबलपुर में हुई, हाई-स्कूल शिक्षा रेवाड़ी (हरियाणा) में, कालेज की नागपुर में । पहली नौकरी बिलासपुर में की । सारे भारत में घूमकर, अन्ततः इस समय हम देवास में हैं । पुरानी स्मृतियाँ याद आती हैं, तो जीवन में घटी घटनाएँ चल-चित्र की भाँति हृदय-पटल पर उभरने लगती हैं । बचपन की, गृहस्थ की, वकालत की, फिर साधु जीवन की । सामान्यतः मनुष्य अपने अतीत में ही खोया रहता है या फिर भविष्य के सुनहरे सपने देखा करता है, किन्तु वह रहता वर्तमान में है । अतीत की स्मृतियाँ दुःखी होने के लिए नहीं, उनसे शिक्षा ग्रहण करने के लिए हैं । कहाँ कौन सी भूल के कारण, क्या भुगतना पड़ा, कहाँ कैसे गहराई में गिर गया या गिरने से बच गया, यह समझने के लिए है । अतीत तो बीत चुका है, किन्तु उससे सही शिक्षा ग्रहण करके आज भी लाभ उठाया जा सकता है । अतीत के व्यतीत होते जाने के साथ ही, उसकी उपयोगिता भी बढ़ती जाती है । आज हमें जो अनुभव प्राप्त है सब अतीत की ही देन हैं ।

"भविष्य की कल्पनाएँ करते रहने से क्या लाभ ? जबकि किसी को पता ही नहीं है कि भविष्य में क्या छुपा है । जीव कल्पनाओं के घरौंदे बनाता रहता है, योजनाएँ बनाता रहता है, पता नहीं कौन आकर, उन सभी कल्पनाओं को अपने साथ हवा में उड़ाकर ले जाता है । फिर प्रकट क्या होता है, यह वर्तमान में हमको कुछ पता नहीं । जीव का ज्ञान कितना सीमित हो चुका है, वह यह भी नहीं जानता कि अगले क्षण क्या घटित होने वाला है, किन्तु अभिमान के विमान में सवार, कल्पनाओं के आकाश में उड़ता फिरता है । जब प्रत्यक्षमान जगत ही मिथ्या है तो कल्पना-जगत में वास्तविकता कहाँ से आई । हमारा अतीत अंधकार की गहराइयों में गुम हो चुका है, पीछे छोड़ गया है कुछ स्मृतियाँ । भविष्य आवरण युक्त है । क्या प्रकट होता है ? अभी देखना बाकी है । वर्तमान प्रत्यक्ष है, किन्तु वर्तमान भी किसे समझा जाए ? पलक झपकते ही वर्तमान अतीत हो जाता है । हम पकड़ते ही रह जाते हैं, जैसे हाथ से छूटकर अतीत के अथाह सागर में विलीन हो जाता है । जीव अपने वर्तमान पर भी कैसे विश्वास कर सकता है ! क्योंकि उसकी आयु भी पल भर की ही है । जीव अल्पज्ञता की इस स्थिति में पहुँच चुका है कि गहन अंधकार के महाशून्य में, बिना कुछ देखे-समझे, हाथ फैलाये भटक रहा है । उस पर, उसने अभिमान रूपी मदिरापान कर रखी है । इस अल्पज्ञता से उभरना तथा सर्वज्ञता की ओर बढ़ने का नाम ही आध्यात्मिकता है ।

"गीता में ग्याहरवें अध्याय में भगवान ने अर्जुन से कहा कि अब तू भूत-भविष्य तथा वर्तमान को एक साथ, एक ही स्थान पर देख ले । यह कैसे संभव है ? और यदि यह संभव है तो कैसा होगा वह अनुभव , कैसे होगी अल्पज्ञता से सर्वज्ञता की ओर की यह यात्रा ? अल्पज्ञ जीव इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता । कितना भी शास्त्र-ज्ञान संचय कर लेने पर भी, अल्पज्ञ ही बना रहता है । दूसरों को समझाने की मिथ्या चेष्टा करके, अपना अभिमान बढ़ाता है, अल्पज्ञता के गर्त से बाहर नहीं आ पाता । भगवान तो अर्जुन को तीनों काल एक साथ दिखा रहे हैं, अल्पज्ञ को तीनों कालों में से कोई भी दिखाई नहीं दे रहा है , किन्तु यह संभव है ।

हम पहाड़ की ओर आगे बढ़ रहे हैं । पहाड़ के उस ओर हम देख नहीं सकते । पीछे का दृश्य भी कुछ दूरी के कारण, कुछ वृक्षों आदि अन्य अवरोधों से, विलीन होता जा रहा है । परन्तु पर्वत शिखर पर पहुँचते ही इधर-उधर का दृश्य स्पष्ट दिखाई देने लगता है , किन्तु यह उदाहरण भी अपूर्ण है, क्योंकि जिधर मुँह होगा, उधर का दृश्य ही दिखाई देगा, पीछे का नहीं, जबकि भगवान कह रहे हैं कि तीनों कालों को एक ही समय एक ही स्थान पर देख ले ।

"काल-चक्र घूम रहा है तथा हम भी उसके साथ-साथ घूम रहे हैं । हमको ज्ञात ही नहीं है कि हम घूम रहे हैं । हम को ज्ञात ही नहीं कि हम अल्पज्ञ हो गए हैं । अपने आपको अत्यन्त बुद्धिमान तथा बलवान होने का अभिमान हम पाले बैठे हैं । अध्यात्म-पथ काल-चक्र से साधक को निकालने, उसकी यथार्थ स्थिति में उसको स्थापित करने तथा काल-चक्र को अपने से भिन्न दर्शाने का मार्ग है । जब तक जीव काल-चक्र में घूमता रहता है, तब तक कभी अतीत में, कभी भविष्य में, तो कभी वर्तमान की भ्रान्ति में भटकता रहता है ।

"जब कालचक्र अपने से भिन्न दिखाई देने लगता है तो तीनों काल, भूत, भविष्य तथा वर्तमान भी एक साथ, एक ही समय दिखाई देने लगते हैं । ऐसा सिद्ध पुरुष अतीत को जानने वाला तथा भविष्य का बताने वाला होता है । यह सभी उसे काल की माया दिखाई देती है । तीनों कालों का ज्ञान प्राप्त करना साधक का लक्ष्य नहीं होता । यह यात्रा-काल में आए, फल-वृक्षों की तरह होता है । इसको ऐसा भी कह सकते हैं कि जब साधक को तीनों कालों का ज्ञान होने लगे, तो समझ लो कि उसे कालातीत अवस्था प्राप्त हो गई ।

"योग दर्शन में, ईश्वर संबंधी सूत्रों में कहा गया है कि उसमें सर्वज्ञता का बीज निहित है । यह जीव तथा ईश्वर में एक अन्तर है । जीव अल्पज्ञ है तो ईश्वर सर्वज्ञ । जहाँ ईश्वर का अंश भी होगा, वहाँ सर्वज्ञता का बीज भी होगा । जीव में जो भी शक्ति है वह ईश्वरीय शक्ति है । उसमें सर्वज्ञता भी बीज रूप में विद्यमान है । उस बीज को अंकुरित करना ही शक्तिपात् है । यह अध्यात्म-पथ है । इससे पूर्व केवल अध्यात्म-पथ में प्रवेश का प्रयत्न होता है ।"

मैंने कहा, "महाराज जी ! बात कहाँ से कहाँ पहुँच गई है । बात आरंभ आपकी पूर्व स्मृतियों से हुई थी तथा पहुँच गई शक्तिपात् तक । अब कृपया यह बताइये कि सर्वज्ञता का शक्तिपात् से क्या संबंध है ? तथा वह साधन से किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ?

उत्तर– यह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ कि शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी में ईश्वरीय शक्ति होने से सर्वज्ञता बीज रूप में स्थित है । प्रसुप्तावस्था में, प्रसुप्त होने से, कुण्डलिनी में वह बीज भी प्रसुप्त ही है । उसे जाग्रतावस्था में लाना तथा अंकुरोन्मुख कर देना ही शक्तिपात् है । अंकुरित अवस्था आरंभ होते ही, सर्वज्ञता प्रकट नहीं हो जाती । सर्वज्ञता रूपी महान वृक्ष का रूप ग्रहण करने से पूर्व, शक्ति को कई अड़चनें, पड़ाव तथा अवरोध पार करने पड़ते हैं । यह एक दिन का काम नहीं । दीर्घकाल तक, सतत् तथा निष्ठापूर्वक साधन-सेवा की आवश्यकता होती है । जिस प्रकार माली केवल बीजारोपण करके नहीं छोड़ देता, उसे खाद-पानी देता है, समय पर निंदाई करता है, भेड़-बकरियों से रक्षा के लिए आसपास बाड़ लगाता है, कीड़ों से बचाने के लिए दवाई का छिड़काव करता है, धूप वर्षा से उसकी सुरक्षा की व्यवस्था करता है, इसी प्रकार अध्यात्म में भी बीजारोपण ही पर्याप्त नहीं है ।

साधन में , अन्तर में वासनाओं की आँधियाँ चलती हैं, संस्कारों की बाढ़ आती है, तथा विकारों की तपिश से साधन रूपी पौधे के उखड़ जाने, झुलस जाने की संभावना होती है । जगत के आकर्षण-अलग सताते हैं । विकार पग-पग पर मार्ग रोकते हैं । कभी काम, क्रोध या लोभ उभर आता है तो कभी राग-द्वेष , ईर्ष्यादि सिर पर संकट पैदा किए, खड़े रहते हैं । अर्थात् सर्वज्ञता का विशाल वटवृक्ष जो अन्तर में पहले से ही विद्यमान है तथा बीज को जिस वृक्ष रूप में प्रकट होना है, उस पर से वासनाओं, विकारों तथा संस्कारों के आवरणों को हटाने के लिए लम्बी आन्तरिक आध्यात्मिक यात्रा की आवश्यकता है ।

सर्वज्ञता के बीज का यह अर्थ है कि जीव चाहे कितने भी अज्ञानता तथा भ्रम के आवरण क्यों न ओढ़ ले, फिर भी सर्वज्ञता बीज रूप में बनी ही रहती है । चाण्डाल वृत्ति मनुष्यों तथा पशुओं में, पशुत्व का बाहुल्य होता है , किन्तु फिर भी सर्वज्ञता बीज रूप में निहित होती ही है । बीज को आरोपित करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह तो सदा ही आरोपित है, केवल उसे अंकुरित होने के लिए उधर लक्ष्य देने की, सावधानी बरतने की तथा साधन की निरन्तर आवश्यकता है । सर्वज्ञता के बीज को अंकुरोन्मुख कर देना ही शक्तिपात् है । तब जीव की अल्पज्ञता का नाश होता जाता है । बीज के महान वृक्ष बनने की ओर अग्रसर होते जाने के साथ, दुखानुभूति विलीन होती जाती है, सीमाएँ टूटती जाती हैं तथा अल्पज्ञ जीव में सर्वज्ञता प्रकट होती जाती है । साधक को सावधान रहने, समर्पण-भाव को धारण करने तथा सतत् सेवा-साधन करते रहने की आवश्यकता है । यही काम प्रायः साधक नहीं कर पाते, जिससे शक्तिपात् में दीक्षित होकर भी, कोरे ही रह जाते हैं । अपितु साधन में अभिमान का एक और आवरण ओढ़ लेते हैं ।

शक्तिपात् एक ऐसी विद्या है जो अल्पज्ञता को सर्वज्ञता में बदल देने की क्षमता रखती है । कुण्डलिनी आत्मोन्मुख क्रियाशील होकर, सर्वज्ञता का द्वार खोल देती है। अल्पज्ञ जीव को मार्ग मिल जाता है तथा उसका लक्ष्य सन्मुख उपस्थित हो जाता है । जाग्रत शक्ति की क्रियाओं का यही अर्थ है कि उससे जाग्रति का पता चल जाता है, किन्तु उन्नति का नाप सर्वज्ञता का प्रकटीकरण है । अब यह साधक पर आधारित है कि वह जाग्रति का कितना लाभ उठा पाता है ।

प्रश्न– साधकों का प्राय: इधर ध्यान जाता ही नहीं । वह क्रियाओं में ही मस्त रहते हैं । जितनी क्रिया अधिक उग्र होती है, उसी में आनन्द समझते हैं ।

उत्तर– जिसको क्रिया उग्र होती है, उसको उग्रता की आवश्यकता है । चित्त में रजोगुण की अधिकता के कारण क्रिया में उग्रता आ जाती है । जिसमें तमोगुण या रजोगुण का आधिक्य होगा उसको न क्रिया उग्र होगी, न ही उसको ऐसी कोई आवश्यकता ही है। शक्ति सर्वज्ञ है, सब जानती है कि किसको कितनी तथा कैसे क्रिया की, कब आवश्यकता है। यह समझ लेना कि उग्र क्रिया अच्छे साधन की निशानी है, नासमझी है । इसके विपरीत उग्र क्रिया प्राय: शारीरिक स्तर पर होती है । जितना आधार अधिक स्थूल होगा, उतना आनन्द कम होगा ।जैसे-जैसे क्रिया, शारीरिक स्तर से ऊपर उठती जाएगी, क्रिया में सौम्यता आती जाएगी , किन्तु आनन्द बढ़ता जाएगा । वृत्ति अधिक से अधिक अन्तर्मुख होती जाएगी । साधक सर्वज्ञता के समीप होता जाएगा ।

(१८) कटाई -छँटाई

मैं बगीचे में काम कर रहा था । महाराजश्री कुर्सी डाल कर बगीचे में ही बैठे थे । एक पेड़ के नीचे सफाई कर रहा था । महाराजश्री ने कहा कि इस पौधे की डालियों की थोड़ी कटाई कर दो, पौधे का विकास अच्छा हो जाएगा ।

इस पर मैं आश्चर्यचकित होकर, महाराजश्री की ओर देखने लग गया था । क्योंकि वह वृक्ष को काटने के अत्यन्त ही विरोधी थे, जबकि आज मुझे स्वयं ही पेड़ काटने को कह रहे थे । मुझे वह समय भी याद आ रहा था, जब गुफा के पास वाला अधूरा पड़ा मकान बन रहा था । उसके एक कोने पर पीली कनेर का एक पेड़ था , जिसको काटे बिना मकान सीधा नहीं बन सकता था । महाराजश्री ने कहा कि मकान चाहे टेढ़ा हो जाए किन्तु पेड़ नहीं कटेगा, अन्ततः कोने का कमरा छोटा कर दिया गया था । मकान के आगे पुश्ता दीवार थी जिसमें पेड़ आ रहा था । पेड़ को बचाने के लिए निश्चय किया गया कि उसके आगे सीढ़ीनुमा क्यारियाँ बना दी जाएँ । क्यारियाँ बना दी गईं । पेड़ बच गया, मकान का कोना कट गया ।

रात को घनघोर वर्षा हुई । सब मकान टपकने लगे । वर्षा ने पेड़ के नीचे की क्यारियों को भी नहीं छोड़ा था । प्रातः काल उठकर देखा तो पानी के दबाव के कारण खाली

मट्टी फूलने से, सभी क्यारियाँ मिट्टी का ढेर बने नीचे खिसकी पड़ी थीं तथा ऊपर का कनेर भी उलटा हुआ, नीचे आ गिरा था। उसकी जड़ें भी या तो जमीन से बाहर आ गई थीं, या टूट गईं थीं। अन्तत: महाराजश्री ने उदास होकर कहा कि हमने पेड़ बचाने का भरसक प्रयास किया, उसका प्रारब्ध ही ऐसा था। फिर भी पेड़ को दूसरे स्थान पर रोपित कर दिया गया, जहाँ वह फूट निकला। महाराजश्री प्रसन्न हो गए। आज वह मुझे पौधे को काटने के लिए कह रहे थे। मैंने पौधे की छँटाई तो कर दी, परन्तु अन्दर की उथल-पुथल शान्त नहीं हुई।

प्रात: भ्रमण में मैंने मन की शंका व्यक्त कर ही दी तो महाराजश्री बोले, "सामान्य प्रयोग में कटाई ही कहा जाता है किन्तु उसका अर्थ छँटाई होता है। कटाई और छँटाई में बड़ा अन्तर है। कटाई का अर्थ है वृक्ष को काटकर फेंक देना। छँटाई का अर्थ है वृक्ष की अनावश्यक शाखाओं को जो वृक्ष के विकास में बाधक हों या जिनसे वृक्ष के सौंदर्य के नष्ट होने की संभावना हो, छाँट देना। इससे आप वृक्ष से मन चाहा सौंदर्य प्राप्त कर सकते हैं। उसे जैसी आकृति में चाहे, ढाल सकते हैं। साधन क्या है ? वासना एवं विकार रूपी अनावश्यक शाखाओं को काटना ही तो है, जो जीवन के विकास में बाधक बन रहे थे, जीवन के सौंदर्य को नष्ट कर रहे थे। काटना यदि मृत्यु है तो छाँटना जीवन। काटना यदि जीवन का संध्याकाल है तो छाँटना जीवन का सौंदर्यमय प्रात:क ल।

"संसारियों की बात तो मैं नहीं करता, किन्तु जब एक साधक किसी वृक्ष की छँटाई करता है तो साथ-साथ अपने चित्त पर भी लक्ष्य रखता है। जिस तरह मैं इस वृक्ष की छँटाई कर, अनावश्यक शाखाओं को छाँट रहा हूँ, उसी प्रकार मन के अनावश्यक भावों, विचारों, विकारों को भी छाँटकर फेंक देना है। क्योंकि यह अनावश्यक तरंगे चित्त रूपी सुन्दर वृक्ष को बेढंगा रूप देने का कारण हैं। तब साधक काम तो बगीचे में कर रहा होता है किन्तु उस समय उसके अन्तर के दोष तथा अवगुण दिखाई दे रहे होते हैं। साधन का मार्ग स्पष्ट दिखने लगता है। छँटाई कर देने पर, जिस प्रकार वृक्ष में फल या फूल, अधिक तथा बड़े लगते हैं, उसी प्रकार चित्त की वासना रूपी शाखाओं को छाँट देने पर चित्त एक बड़े तथा सुगंधित पुष्प की भाँति खिल उठता है।"

मैंने कहा कि कटाई तथा छँटाई के इस अन्तर की ओर तो कभी लक्ष्य गया ही नहीं था। महाराजश्री बोले, "एक तुम्हीं क्या ! बहुत कम लोगों का इधर लक्ष्य जाता है। माली लोग इन बातों से अवगत तो होते हैं, किन्तु वह साधक नहीं होते इसलिए इस प्रक्रिया का चित्त के साथ मिलान नहीं कर पाते। कटाई तो भगवान समय आने पर कर ही देते हैं, किन्तु छँटाई मनुष्य को स्वयं करना पड़ती है। नाकारा हो जाने पर, शरीर का अंग विशेष शल्य चिकित्सा द्वारा छाँट दिया जाता है, मोटा हो जाने पर, अनावश्यक चरबी को, व्यायाम द्वारा छाँट दिया जाता है। सब्जी के छिलकों तथा गले-सड़े भाग को, छाँट कर ही पकाया जाता

है । घर में कचरा हो जाता है तो उसे झाड़ू से छाँट दिया जाता है । चित्त में वासनाओं तथा विकारों को साधन से छाँटा जाता है । जीवन में छँटाई चलती ही रहती है, छँटाई रुक जाती है तो कटाई आ धमकती है ।"

(१९) जगत एक फिसलन

एक दिन महाराजश्री कह रहे थे, "आयु बढ़ने से प्राप्त होता है जीवन का अनुभव, तथा अनुभवों से विकसित होती है सावधानी की वृत्ति । जब एकबार कोई फिसलने से गिर पड़ता है तो अगली बार फिसलन वाली जगह पर जाते समय सावधान हो जाता है । जीवन के विकास में जितना धैर्य तथा उत्साह आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है सावधान होना । कई लोग एकबार गिरकर ही सावधान हो जाते हैं, कई लोग दूसरों को गिरते देखकर सावधान हो जाते हैं तथा प्राय: कुछ लोग न स्वयं गिरकर सावधान होते हैं, न दूसरों को गिरते देखकर ।

"कुछ लोग दूसरों को फिसलते देखकर न केवल प्रसन्न ही होते, अपितु उन्हें फिसलन की ओर जाने को प्रेरित भी करते हैं ताकि उनके फिसलने-गिरने का आनन्द उठा सकें । कुछ लोग दूसरों को फिसलन की ओर जाते समय सावधान करते हैं ।

"कई लोग फिसल जाने पर अपने साथ-साथ दूसरों को भी गिरने से बचा लेते हैं, कुछ अपने आपको बचाने के फेर में दूसरे को गिरा देते हैं, तो कुछ लोग न स्वयं गिरने से बच पाते हैं, न दूसरे को बचने देते हैं । कुछ लोग दूसरे को बचाने के लिए स्वयं को गिरने देते हैं ।

"कुछ लोग उठने से पहले गिरते हैं, कुछ गिरने से पहले उठते हैं । कुछ उठते हैं तो उठते ही चले जाते हैं। कुछ गिरते हैं तो गिरते ही चले जाते हैं । कुछ लोग फिसलते-फिसलते संभल जाते हैं, तो कुछ उठते-उठते फिसल जाते हैं । कुछ उठने से पहले दूसरों को गिरा देते हैं । कुछ चढ़ने से पहले दूसरों को चढ़ा देते हैं । कुछ स्वयं उठकर दूसरों को उठने नहीं देते, तो कुछ दूसरे साथियों के साथ ही उठते हैं । कुछ उठने का प्रयास तो करते हैं किन्तु उठ नहीं पाते, कुछ प्रयास करते हैं तथा उठ भी जाते हैं । कुछ लोग उठने का प्रयास ही नहीं करते, नीचे से ही शिखर को निहारा करते हैं । कुछ लोग दूसरों को उठाने में ही जीवन को खपा देते हैं, तो कुछ दूसरों को गिराने में । कुछ सँभल-सँभल कर उठते हैं, कुछ उठकर सँभलते हैं, कुछ उठते-उठते लुढ़क जाते हैं । कुछ दूसरे को गिराने के लिए स्वयं को भी गिरा लेते हैं, कुछ दूसरों को उठाने के लिए उठते हैं ।

"भाव यह है कि जगत रंग-बिरंगा है, इसमें कई भाव, विचार तथा दृष्टिकोण पसरे पड़े हैं । सारा जगत न किसी का सहायक है, न विरोधी । कुछ आप के साथ चलते हैं, कुछ साथ छोड़ जाते हैं, कुछ विपरीत चलते हैं, तो कुछ आपका रास्ता रोक कर खड़े हो जाते हैं । इसलिए साधक को अपनी अध्यात्म-यात्रा में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है । एक तो

वैसे ही अध्यात्म का मार्ग जगत-प्रवाह के विपरीत है । जगत में रहकर, जगत से हटना अत्यन्त कठिन है । साधक के भावों-विचारों को समझ पाने में जगत असमर्थ है, उस पर यह कि यह एक कठिन यात्रा है । साधक को दो मोर्चों पर एक साथ युद्ध करना होता है । जगत् से निपटना तथा आन्तरिक वासनाओं-विकारों से जूझना । आरंभ में, काफी लम्बे समय तक दोनों समस्याएँ बनी रहती हैं, इसलिए प्रायः साधकों को दोनों से ही निपटना है ।

प्रश्न– क्या यह संभव नहीं कि जगत् व्यवहार का सर्वथा त्यागकर, पूर्णतया निवृत्ति परायण होकर, साधन में ही लगा जाए, जिससे साधक को दो मोर्चों पर अध्यात्म-युद्ध नहीं लड़ना पड़े । शास्त्रों में भी एकान्तवास की महती महिमा गाई गई है ।

उत्तर– सर्वप्रथम तो सामान्य साधक के लिए यह संभव ही नहीं है । उसके मन की चंचलता तथा अन्तर वासनाएँ उसे एकान्तवास करने देंगी ही नहीं । एकान्तवास बलात् नहीं हो सकता, पहले मन में एकान्त उदय होता है, तत्पश्चात शरीर भी एकान्त में रह पाता है । जब तक मन में चंचलता है, एकान्तवास संभव नहीं । हाँ, यह हो सकता है कि बीच-बीच में, समय तथा सुविधा मिलने पर, साधक एकान्त में चला जाए । किन्तु ऐसी अवस्था में जगत से छुटकारा तो फिर भी प्राप्त नहीं हुआ । एकान्त से लौटा कि जगत अभिमुख । साधक के सामने दोनों मोर्चे खुल जाएँगे ।

प्रश्न– यह तो जटिल समस्या है, न जगत में रहा जाता है, न छोड़ा जाता है

उत्तर– यह समस्या केवल साधक के लिए ही है । संसारी लोग तो जगत् प्रवाह के साथ बह ही रहे हैं ।दुःखी-सुखी कैसे भी रहें, जगत् प्रवाह को छोड़ना नहीं चाहते । किन्तु साधक प्रवाह के विपरीत चलना चाहता है, पर चल नहीं पाता । जगत् उसे दुत्तकारता है, किन्तु वह जगत से प्रेम करने पर विवश है । जगत् उसका अपमान करता है, वह सबका सन्मान करता है । वह किसी का कुछ बिगाड़ता नहीं, किन्तु जगत आराम से नहीं रहने देता । वह जगत को श्रेय का मार्ग दिखाता है ।किन्तु स्वार्थी जगत उसके भाव को समझता नहीं । इसमें कठिनाइयाँ साधक के सामने ही आती हैं ।

ऐसा नहीं कि सारा जगत ही साधक के सामने कठिनाइयाँ उपस्थित करने में लगा हो । कुछ लोग इसके अनुकूल भी होते हैं , किन्तु साधक की समस्या यह है कि उसे सबके साथ एक समान प्यार करना होता है । वह अपने अनुकूल व्यक्तियों का ही नहीं, विरोधियों तथा निन्दकों का भी कल्याण चाहता है ।

अनुकूल लोग यदि उसके भाव को समझ भी लेते हैं तो भी प्रतिकूल लोग तो अपने काम में ही लगे रहते हैं । साधक के समक्ष सहन करने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं । साधक को यह बातें अपने मन में स्पष्टतया समझ लेना चाहिएः-

(१) यह जगत जैसा चल रहा है, वैसा ही चलता रहेगा । इसको सुधारने का प्रयत्न अवश्यक करते रहना चाहिए किन्तु यह सुधरेगा नहीं । जगत कल्याण की भावना वास्तव में, अपने आपका सुधार करने के लिए आवश्यक है । यदि हम जगत का कल्याण चाहेंगे तो हमारा भी कल्याण होगा ।

(२) जगत में अच्छे-बुरे सभी प्रकार के लोग हैं किन्तु अधिकांशत: स्वार्थ का ही बोलबाला है । जो अच्छे लोग हैं वे भी किसी न किसी सीमा तक अभिमान तथा स्वार्थ से ग्रसित हैं । उनके अंदर छुपे भाव कभी भी उन्हें कुपथ पर डाल सकते हैं । जो इस समय बुरा रूप धारण किए हैं, उनके अन्दर भी सद्विचार प्रसुप्तावस्था में हैं । कभी भी जाग्रत होकर उन्हें भला व्यक्ति बना सकते हैं । इसप्रकार प्रत्येक व्यक्ति अच्छा भी है तथा बुरा भी । यह भी कुछ जीव भाव के ही अन्तर्गत है । आत्मा जो कि मनुष्य का वास्तविक स्वरूप है, अच्छाई-बुराई से दूर है ।

(३) शुभाशुभ जगत व्यवहार में मुख्य कारण प्रारब्ध है । मनुष्य को जो भी दु:ख-सुख सहन करना पड़ता है, उसका कारण भी प्रारब्ध है । प्रारब्ध से सारा जगत बँधा हुआ है । हम प्रारब्धानुसार कर्म करने में विवश हैं । कोई किसी को सुख-दु:ख नहीं देता, कोई सम्मान-अपमान नहीं करता, प्रारब्ध ही सब करवाता है । इसमें किसी का कोई दोष नहीं, दोष अपने ही प्रारब्ध का है । यदि साधक इसप्रकार समझ लें, तो सुख-दु:ख में जगत को कारण समझ लेने की भूल से बच सकता है । जीव के प्रारब्ध को प्रकट करने के लिए जगत, केवल आधार या रंगमंच है; जिस पर जीव के प्रारब्धानुसार ही नाटक खेला जाता है । यदि साधक को जगत से, सुख-दु:ख को परे हटाना है तो उसमें से प्रारब्ध को हटाना पड़ेगा । जब तक प्रारब्ध है तब तक जगत रूपी रंग-मंच पर नाटक को अभिनीत होने से कोई नहीं रोक सकता ।

(४) भाई-बहन, माता-पिता, मित्र-शत्रु, सब नाते प्रारब्ध का ही खेल हैं । प्रारब्ध से ही जगत परस्पर एक-दूसरे से बँधा है । राग-द्वेष अथवा मोह के सभी नाते इसी के अधीन हैं । इसी के अनुसार ही नए-नए संबंध बनते-बिगड़ते रहते हैं । जब तक प्रारब्ध रहेगा, नातों-संबंधों का चक्र भी घूमता रहेगा ।

(५) साधक का सारा जीवन भी प्रारब्ध के अधीन है । इस अधीनता को समाप्त करने के प्रयत्न का नाम साधना है । यह अधीनता तभी समाप्त हो सकती है जब प्रारब्ध रहे ही नहीं । यदि मन को संयत कर लिया जाय तथा सुख-दु:ख का प्रभाव चाहे अनुभव न भी हो, फिर भी प्रारब्धानुसार सुख-दु:ख तो सामने आएँगे ही । प्रारब्ध समाप्त होने पर ही, उसका फल समाप्त होगा । यह प्रारब्ध निर्माण कब से चल रहा है इसका कोई पता नहीं, किन्तु यह स्पष्ट है कि इस समय हम प्रारब्ध की पकड़ में हैं ।

(६) जिस प्रकार साधक स्वयं प्रारब्ध की जकड़न में है उसी प्रकार सारा जगत भी प्रारब्ध की तपन को झेल रहा है । हम सभी प्रारब्ध रूपी सागर में गोते खा रहे हैं । प्रारब्धवशात् ही मिलते-बिछुड़ते, लड़ते-झगड़ते या परस्पर प्रेम-पूर्ण व्यवहार करते, जगत में घुसने या जगत से निकलने का प्रयास करते हैं । सच पूछा जाय तो प्रारब्ध के आधार पर ही सारा अध्यात्म टिका है ।

(७) प्रारब्ध का कारण अभिमान है, क्योंकि वह ही राग-द्वेष तथा कर्ताभाव को उदय करता है । अभिमान ही संस्कार संचय करता है, जिससे प्रारब्ध निर्माण होता है । अभिमान ही प्रारब्ध चक्र को घुमाता है । अभिमान हीं प्रारब्ध के दुःख-सुखादि का भोक्ता है तथा अभिमान ही पुनः संस्कार संचय करता है । अभिमान ही मन में विकारों-वासनाओं को उदय करता है तथा कर्मों में प्रवृत्त करता है । अहम् की निम्नतम अवस्था अभिमान है, जो पूर्ण रूपेण दोषयुक्त तथा जगदाभिमुखी है । अभिमानी तमोगुण से युक्त होकर प्रमादी, रजोगुण से युक्त होकर चंचल तथा सत्वगुण से युक्त होकर पुण्यात्मा बन जाता है । इस प्रकार जीवन प्रारब्धानुसार तीनों गुणों में ऊपर-नीचे होता रहता है ।

(८) जीव में कोई शक्ति नहीं, केवल शक्ति का अभिमान है । सबसे प्रथम साधक को यही अनुभव करना है कि जिस शक्ति का वह अभिमान करता है, वह उसकी है ही नहीं । इस अनुभूति के साथ संस्कार, अभिमान तथा प्रारब्ध का क्षय जुड़ा है । यही अनुभूति साधक को जीवत्व का वास्तविक बोध कराती है । इसी अनुभूति के पश्चात् ही वह ईश्वरीय शक्ति की क्रियाशीलता का अनुभव आरंभ करता है । इसी अनुभूति के पश्चात् ही वासना क्षय तथा मनोनाश का मार्ग प्रशस्त होता है । यह अनुभूति ही साधक को सांसारिकता से उठाकर, आध्यात्मिकता में प्रवेश का कारण बनती है ।

(९) जीव में जब कोई शक्ति ही नहीं है तो वह कर्त्ता भी कैसे हो सकता है ? कौन है कर्त्ता ? उसकी क्रिया की अनुभूति जीव के कर्त्ता भाव को हिला देती है । जो कल तक कर्त्ता बना बैठा था, आज वह मात्र द्रष्टा होकर रह जाता है । करने वाली इन्द्रियाँ, कर्त्ता की क्रिया का केवल माध्यम बन कर रह जाती हैं । जाग्रति के अनुभव के पश्चात् क्रियाशीलता की अनुभूति साधक के समक्ष आवरण से ढके अध्यात्म क्षेत्र को खुला कर देती है । जगत की भाँति यह शरीर भी उसे जगत का अंग दिखाई देने लगता है किन्तु जागृति तथा क्रियाशीलता की अनुभूति के उपरान्त भी, प्रारब्ध , वासना तथा अभिमान जगत का पीछा नहीं छोड़ते । संस्कारों की दृढ़ भूमिका पर वे अभी भी जमे होते हैं । इसके लिए साधक को दीर्घकालीन साधन-सेवा की आवश्यकता है, गुरुकृपा की आवश्यकता है तथा आवश्यकता है सतत् आत्मनिरीक्षण करते रहने की ।

(१०) अब अन्तिम बात । साधन दिखावा मात्र नहीं है । इसके लिए पूरी ईमानदारी तथा गंभीरता की आवश्यकता है । अपने प्रति, साधन तथा गुरु के प्रति, अपने लक्ष्य के प्रति पूरी ईमानदारी । साधन जगत में वाह-वाही लूटने के लिए नहीं किया जाता । जगत आपको पुण्यात्मा के रूप में स्वीकार करे या नहीं, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता । आप जो हैं, सो ही हैं । किसी के कुछ कह देने से आप अच्छे या बुरे नहीं हो जाते । आपको पूरी ईमानदारी से अपने चित्त में से दोषों को भगाना है । अपने ईष्ट तथा गुरु के प्रति प्रेमभाव-पैदा करना है । ईश्वर के प्रति समर्पण भाव को उदय करना है । यदि यह सब कुछ आप में घटित हो रहा है, तो आप साधन पथ पर आगे बढ़ रहे हैं । अपने दोषों की निवृत्ति के लिए, भगवान के सामने आपको दिल खोलकर रोना होगा, प्रेम-प्राप्ति के लिए गुरु चरणों में गिड़गिड़ाना होगा । अपने विवेक के अनुसार जो आपको अपना धर्म प्रतीत हो, उस पर चलने का प्रयत्न करना होगा । दुनिया की बातों में आकर अपने पथ से विचलित नहीं हो जाना, अपने आपको स्वाहा करने के लिए तैयार रहो । अपने आपको मिटा कर ही, अपने आपको पाया जा सकता है । जिन्होंने भी पाया है इसी तरह ही चल कर पाया है । आराम से, बिना कुछ खोये, किसी ने नहीं पाया । इसलिए लुटने के लिए तैयार रहो । तभी अंधकार भागेगा, तभी प्रकाश होगा, तभी शाश्वत् आनन्द एवं सुख की उपलब्धि होगी ।

प्रश्न– महाराजश्री , सुनने में तो यह बातें बहुत अच्छी लगती हैं , किन्तु इन पर चल पाना साधारण मनुष्य के लिए तो क्या, बड़े-बड़े साधकों-तपस्वियों के लिए भी कठिन है । अभिमान तथा क्रोध किसी को भला छोड़ता है क्या ?

उत्तर– यह तो मैंने नहीं कहा कि ऐसा कर पाना सरल है । मैंने तो केवल वह बातें बताई हैं, जिनका ध्यान रखकर साधक को चलना है । यह तो सभी जानते हैं कि अध्यात्म पथ पर चलना बच्चों का खेल नहीं है । इसके लिए अपने सिर को हथेली पर रख लेना पड़ता है । हृदय में प्रेम ऐसा हो कि राग-द्वेष को मन में स्थान ही नहीं हो, तथा अपना सर्वस्व प्रभुचरणों में अर्पित हो । साधन ऐसा हो कि बिना साधन कुछ सूझे ही नहीं । समर्पण ऐसा हो कि अपना कहने के लिए शेष कुछ बचे ही नहीं । सेवा ऐसी हो कि अभिमान-क्रोध को कुचलकर रख दे । तभी कुछ प्राप्त होता है । इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं ।

प्रश्न– आपने प्रारब्ध के ऊपर इतना कुछ कहा , किन्तु पुरुषार्थ को छोड़ दिया । क्या पुरुषार्थ का साधन में कोई महत्व नहीं है ?

उत्तर– पुरुषार्थ का महत्व है किन्तु किन्हीं अन्य शब्दों में मैंने उसका उल्लेख किया है । जिसे आप पुरुषार्थ समझते हो, अध्यात्म की दृष्टि से वह पुरुषार्थ नहीं है । पुरुष अर्थात् 'आत्मा के अर्थ प्रयत्न' पुरुषार्थ है, ऐसा प्रयत्न समर्पण ही हो सकता है, क्योंकि आसक्तियुक्त कर्म आत्मस्थिति से पतन का कारण है, जब कि समर्पण, आत्मस्थिति की प्राप्ति का साधन ।

प्रश्न– थोड़ा समझाकर कहिए ।

उत्तर– साहित्यिक दृष्टि से पुरुषार्थ का अर्थ बहुत बदल गया है । किसी भी प्रकार से, किसी भी भाव से परिश्रम करना, पुरुषार्थ है । इसी भाव में इसका प्रयोग धार्मिक अर्थों में भी किया जाने लगा है, परन्तु अध्यात्म को यह अर्थ मान्य नहीं है । पुरुषार्थ वही है, जो पुरुष के अर्थ हो, अर्थात् जिससे आत्मा की उपलब्धि होती हो । अब यदि आसक्ति युक्त कर्म-साधना की जाए, तो वह संस्कार संचय का ही कारण होगी, जिससे और भी अधिक आत्म-पतन होगा । इसलिए सामान्यतया समझे जाने वाला पुरुषार्थ, वास्तव में पुरुषार्थ है ही नहीं । समर्पण ही ऐसा भाव है जो यदि हृदय में जम जाय तो संस्कार तथा वासना क्षय का कारण होता है, अत: अध्यात्म में समर्पण ही पुरुषार्थ है । समर्पण रूपी पुरुषार्थ का उल्लेख मैंने किया है । अब प्रश्न यह है कि समर्पण किसे किया जाए ? जब तक इष्ट प्रत्यक्ष नहीं होता, समर्पण भी भावनात्मक ही होता है । जागृति के उपरान्त शक्ति के प्रत्यक्षीकरण से, इस समस्या का भी समाधान हो जाता है ।

प्रश्न–आपके कहने का भाव यह है कि प्रयत्न पुरुषार्थ का विषय नहीं, अपितु साधन का एक स्तर विशेष है, जिसमें इष्ट प्रत्यक्ष होता है ।

उत्तर–स्तर तो है ही, किन्तु उस स्तर पर स्थिर रहने का प्रयत्न साधक को स्वयं करना होता है । इस प्रकार पुरुषार्थ साधन का स्तर भी है तथा प्रयत्न भी । जब समर्पण स्वाभाविक हो जाता है तो प्रयत्न हट जाता है तथा साधन पुरुषार्थमय (समर्पणमय) हो जाता है ।

वैसे पुरुषार्थ तथा प्रारब्ध को लेकर विवाद चला ही करता है, किन्तु यह विवाद अपने मनोवांछित फल को लेकर होता है । विवाद का विषय यह होता है कि फल की प्राप्ति में मुख्य भूमिका प्राऽब्ध की है, अथवा पुरुषार्थ की । किन्तु अध्यात्म, फल-प्राप्ति की भावना तथा प्रारब्ध, दोनों से ऊपर उठने का मार्ग है । इसलिए यह विवाद अर्थहीन हो जाता है ।

अब मेरी हृदय मंथन की बारी थी । महाराजश्री ने यही तो समझाया था कि जितना समर्पण बढ़ता जाएगा, अभिमान कम होता जाएगा । पर अभी तक तो मेरे अन्दर का अभिमान पूरे उफान पर था । ऐसे मलीन मन में समर्पण कैसे विकास पा सकता है ? सर्वज्ञता का मार्ग पकड़ लेने पर भी, मैं अभी भटका हुआ ही था । मार्ग तो ठीक था, किन्तु अंधकार के कारण कुछ सुझाई नहीं दे रहा था । सहारे के लिए हाथ में लाठी भी लिए था, फिर भी ठोकरें खाता, गिरता-पड़ता था । जीवन तीव्र गति से छीजता जा रहा था तथा मैं अभी तक अंधेरे में ही, प्रकाश-किरण की आस लगाए बैठा था । जब तक मन में समर्पण की जागृति नहीं, तब तक यह भी नहीं कहा जा सकता कि मैं ठीक रास्ते पर हूँ । अभिमान की विकरालता ने चारों ओर से जकड़ रखा है । यदि गुरुकृपा हो तो कुछ भी असंभव नहीं ।

कभी न कभी तो रास्ता सूझेगा ही, प्रकाश किरण दिखायी देगी ही, दुःख के बादल छँटेंगे ही ।

(२०) प्रेम तथा घृणा

प्रेम तथा घृणा के संबंध में, दो साधकों में परस्पर वाद-विवाद चल रहा था । एक प्रेम को साधन के लिए आवश्यक समझता था तो दूसरे का मत था कि साधन से प्रेम का भला क्या संबंध ? अन्ततः विषय महाराजश्री के समक्ष प्रस्तुत हुआ । इस पर महाराजश्री ने इस प्रकार कहना आरंभ किया—

"प्रेम अध्यात्म है तो घृणा जगत । प्रेम समता है तो घृणा विषमता । प्रेम सुगंध है तो घृणा दुर्गंध । प्रेम सहिष्णुता सिखाता है तो घृणा प्रतिशोध । प्रेम तथा घृणा दो विपरीत छोर हैं । प्रेम जीवत्व को समाप्त करने का मार्ग है तो घृणा जीवत्व को और भी अधिक घनीभूत करने का । जिस मन में प्रेम होगा, वहाँ घृणा का कोई काम नहीं । जहाँ घृणा होगी, वह प्रेम प्रवेश नहीं पा सकता ।

"प्रेम क्या है ? प्रेम, अध्यात्मप्रेमियों का ऐसा शस्त्र है जो राग-द्वेष की भावना को काट डालता है, क्योंकि प्रेम में न किसी से राग रहता है, न घृणा । प्राणी मात्र से प्रेम हो जाता है, सब में समता, सब में अपनत्व । शत्रु या विरोधी कोई दिखाई ही नहीं देता । प्रेमी सभी जीवों में अपने प्रभु की कल्पना करता है । यदि थोड़ा उन्नत हुआ तो सभी में ईश्वरीय शक्ति की ही क्रियाशीलता देखता है । और अधिक उन्नत हुआ तो सब में आत्म-दर्शन करता है । जब सभी जीवों में उसका प्रियतम ही विराजमान है, तो पराया किसको मानें ?

"प्रेमी अपने प्रियतम प्रभु से कुछ माँगता नहीं । माँगने से प्रभु की सर्वज्ञता पर संदेह प्रकट होता है । प्रेम माँगने का मार्ग नहीं, त्याग का मार्ग है, अपने पास जो कुछ भी है प्रभु चरणों में अर्पित करते जाने का मार्ग है । अन्त में प्रेमी अपने आपको भी, अहम् को भी, भगवान में विलीन कर देता है । प्रेमी इसमें भी अपना अहंकार मानता है । मैं अपने आपको भगवान में कैसे विलीन कर सकता हूँ । भगवान ही अपने भक्त पर कृपा करके उसे अपने में विलीन कर लेते हैं । प्रेमी का अपना कहने को कुछ होता ही नहीं, जो कुछ भी है सब भगवान का है । प्रभु उसका सम्मान करायें या अपमान, सब में कृपा ही अनुभव करता है । प्रेमी हर समय भगवद्-आवेश में ही रहता है ।

"प्रेमी में उदारता, क्षमाशीलता तथा सहनशीलता होती है, राग-द्वेष का लेश भी नहीं होता । प्रेम, तपस्या का ही दूसरा नाम है । प्रेम, तत्त्व जगत का सार है । प्रेम, भवरोग से पीड़ित जीवों के लिए अचूक औषधि है । दुःखों-क्लेशों में जलते हुए जीवों के लिए वट-वृक्ष की शीतल छाया है । जगत रूपी यात्रा से थके-हारे प्राणियों के लिए निर्मल जल का

स्रोत है, मन्द-मन्द प्रवाहित पवन का ठण्डा झोका है तथा फुलवारी की मधुर सुगंधित महक के समान है ।

"भव-रोग के अन्त का आरंभ, प्रेम-भाव की जाग्रति से ही होता है । जाग्रत शक्ति को प्रेम-शक्ति तथा प्रसुप्त-शक्ति को घृणा-शक्ति कहा जा सकता है। शिवसूत्र में इसे अपशु-शक्ति तथा पशु -शक्ति कहा गया है । प्रेम में पशुत्व का नाश है तो घृणा पशुत्व रूप ही है । प्रेम-शक्ति पशुत्व के संस्कारों के क्षय का कारण है तो घृणा-शक्ति, पशुत्व के संस्कारों के संचय का । प्रेम-शक्ति की क्रियाशीलता का अवलोकन ही साधन है । प्रेम में साधक हँसता है तो प्रेम में ही रोता है । प्रेम-विभोर होकर, कभी नाचता-गाता है तो कभी ध्यान-मग्न हो जाता है । प्रेम के बढ़ने से साधक, शरीर से ऊपर उठता जाता है, क्योंकि प्रेम चेतना है तो घृणा जड़त्व ।

"घृणा क्या है ? मन में संचित गंदगी की दुर्गन्ध, कुसंस्कारों का प्रकटीकरण । घृणा, जगत में आसक्ति का परिणाम है, घृणा द्वेष का फल है । घृणा उस शव के समान है जिसे कोई देखना भी नहीं चाहता, किन्तु फिर भी सब इसे गले लगाए फिरते हैं । घृणा में यदि द्वेष है तो दूसरी ओर कहीं न कहीं राग भी अवश्य है, क्योंकि द्वेष राग के बिना रह नहीं सकता । इस प्रकार घृणा राग-द्वेषमय है । मन में जितना घृणाभाव अधिक होता है, उतना जगत गुण दोषमय दिखाई देता है, सच तो यह है कि दोष ही अधिक दिखाई देते हैं क्योंकि दोष दर्शन की वृत्ति बलवती हो जाती है । जहाँ दोष नहीं होता, वहाँ भी दोष की कल्पना करने लगता है । तब सीधी बात भी उलटी लगने लगती है ।

"अधिक क्या कहा जाय ? घृणा गंदगी से भरा हुआ एक महासागर है । घृणा ऐसे उल्लू के समान है जो दिन में देख नहीं पाता, रात के अंधेरे में उड़ता-फिरता है । घृणा जीवन के सारे आनन्द को निचोड़ लेतीं है तथा उसमें विष घोल देती है । घृणा चित्त में ऐसे बीजों को रोपित कर देती है जिनसे छुटकारा प्राप्त करना, जन्म-जन्मान्तर तक संभव नहीं होता । घृणा जीव को स्वयं को भी, दुःखी करती है तथा दूसरों का सुख-चैन भी हर लेती है । घृणा में डूबा व्यक्ति अपने आपको पहचान पाने में असमर्थ हो जाता है, वह घृणा में ऐसा रँग जाता है कि उसका अपना रंग भी बदरंग हो जाता है ।

"शक्ति की जाग्रति के पश्चात् उसकी आनन्ददायक क्रिया का अवलोकन करने वाला साधक ही सच्चा प्रेमी बन पाता है । जब जाग्रत शक्ति, संस्कारों को कुरेदने-उछालने लगती है तो उसके पशुत्व के सारे भाव तथा वासनाएँ चित्त से बाहर हो जाती हैं तथा अन्दर से साधक का स्वाभाविक प्रेम-स्वरूप प्रकट होता है । यही शक्ति जाग्रति की उपादेयता है ।

प्रश्न– परन्तु महाराजश्री प्रायः देखा जाता है कि साधकों में राग-द्वेष, घृणा, ईर्ष्यादि दोष सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा भी कहीं अधिक ही होते हैं, फिर उनमें प्रेम भाव कैसे तथा कब प्रकट होगा ? कब वे सच्चे प्रेमी बन पाएँगे ?

उत्तर– शक्ति जब विकारों-वासनाओं को तीव्र गति से बाहर निकालती है, तो चित्त उनसे तरंगित हो जाता है । चाहिए तो यह कि अपने मन को, उन तरंगों से प्रभावित न होने दिया जाए किन्तु सामान्यतः यह साधक के लिए कठिन हो जाता है ।जिससे यह तरंगें मन के पश्चात्, उसके व्यवहार को भी प्रभावित कर जाती हैं । तब साधक की उन्नति की गति मन्द पड़ जाती है । यह अस्थाई विकार होते हैं । चित्त की शुद्धिकरण की प्रक्रिया तो चल ही रही होती है, किन्तु साधक की असावधानी के कारण थोड़ा व्यवधान आ जाता है, जिससे कुछ विलम्ब भी हो जाता है । किन्तु यह बात निश्चित है कि शक्ति एक बार अन्तर्मुखी जाग्रत होने पर चित्त शुद्ध हो जाने तक पीछा नहीं छोड़ती, विलम्ब चाहे कितना भी हो जाए ।

प्रश्न– घृणा मानव-जीवन का अंधेरा पक्ष तो है ही, किन्तु यदि कोई घृणा तथा क्रोध जैसी कुवृत्तियों का प्रयोग अपने दोषों तथा अवगुणों को बाहर निकालने की ओर मोड़ दे तो उसका यह सदुपयोग, क्या उस दुर्गुण को सद्‌गुण नहीं बना देगा ?

उत्तर– दुर्गुण तो हर हालत में दुर्गुण ही रहेगा किन्तु उसका उपयोग अवश्य सदुपयोग हो जाएगा । जैसे किसी व्यक्ति में अफीम खाने का दोष है तो वह अफीम की पुड़िया जेब में लिए घूमता है । अब उसने अफीम का सदुपयोग आरंभ कर दिया तो दूसरों के रोग दूर करने के लिए औषधि के रूप में ही प्रयोग करने लगा । किन्तु उसकी पुरानी आदत कभी भी, दोबारा जाग सकती है तथा वह अफीम खाना आरंभ कर सकता है । यही हाल घृणादि दुर्गुणों का भी है । उनका सदुपयोग करके, दोषों को हटाकर, घृणा भाव का भी त्याग कर देना चाहिए, अन्यथा वह फिर से जगत में अपना कार्य आरम्भ कर सकता है ।

प्रश्न– क्या प्रेम को भी भगवद् प्राप्ति के पश्चात् त्याग देना है ?

उत्तर– उसे त्यागने की आवश्यकता नहीं, वह स्वयं ही विलीन हो जायेगा । शुभ तथा अशुभ वासना में यही तो अन्तर है । अशुभ वासना की चाहे कितनी भी पूर्ति होती जाए, किन्तु वह निवृत्त नहीं होती । किन्तु शुभ वासना लक्ष्य सिद्धि के उपरान्त निवृत्त हो जाती है । जब भगवद्-प्राप्ति हो जाएगी तो जीवत्व, अपने प्रेम-भाव सहित भगवान में विलीन हो जाएगा । भक्त का जन्म-मृत्यु का चक्र भी समाप्त, भाव भी निवृत्त ।

(२१) प्रारब्ध तथा कर्त्ताभाव

कोई साधक, जब साधना आरंभ करता है तो उसे यह समझ नहीं आती कि साधना कहाँ से शुरू करे, क्योंकि उसे यह नहीं पता होता कि उसकी सबसे पहली समस्या क्या है ? नए साधकों की तो बात ही क्या है, पुराने साधक भी साधना की प्राथमिकता निश्चित नहीं

कर पाते । अंधेरे में ही हाथ-पैर मारते रहते हैं । यही प्रश्न एक साधक ने महाराजश्री से किया कि जब कोई साधक दुःखों से घबराकर तथा जगत की असारता देखकर, साधना के प्रति उन्मुख होता है तो उसकी प्रथम समस्या क्या है ?

"प्रथम समस्या है प्रारब्ध । साधक का साधन-सिद्धान्त कुछ भी हो, किन्तु हर हालत में उसे प्रारब्ध से निपटना ही पड़ता है । प्रायः साधक इधर ध्यान नहीं देते तथा प्रारब्ध की ओर से उदासीन बने रहते हैं । परिणामतः प्रारब्ध उन्हें अपने जाल में फँसाए-उलझाए रखता है, साधना में उन्नत नहीं होने देता । जगत असार होते हुए भी, प्रारब्ध उसे सारपूर्ण बनाए हुए हैं, सुखहीन होते हुए भी, उसमें आशाएँ जगाए रखता है तथा न चाहते हुए भी जीव को अनेक प्रलोभनों, आकर्षणों तथा विषय-भोगों में घुमाए फिरता है । प्रारब्ध एक ऐसी शक्ति है जो स्वयं अदृश्य रहकर, सुख-दुःखादि प्रत्यक्ष उपस्थित कर देती है, जो जगत तथा मन में कई प्रकार की अनुकूल-प्रतिकूल तरंगें पैदा करता रहता है । वह हर पल जीव के साथ लगा रहता है । फिर उसकी अवहेलना भला कैसे की जा सकती है ? साधना आरंभ करते ही वह सम्मुख आकर खड़ा हो जाता है । एक बड़ी चट्टान बनकर मार्ग अवरुद्ध कर देता है ।

"साधक मन को अन्तर्मुख करने के अभ्यास में ही लगा रहता है । मन के अन्तर्मुख न हो पाने पर, अभ्यास में कमी को खोजता है किन्तु यह सारी कारस्तानी तो प्रारब्ध की है । वही मन को बाहर धकेलता रहता है । चाहिए तो यह कि अभ्यास के साथ प्रारब्ध क्षय की ओर भी ध्यान दिया जाए तभी मन को अन्तर्मुख करने का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु साधक प्रारब्ध को अनदेखा कर, अभ्यास पर ही बल देने की भूल करता रहता है । अध्यात्म का विषय बड़ा गहन है, जिन बातों को तुच्छ मानकर उपेक्षित कर दिया जाता है, वह महान् अवरोध सिद्ध होती हैं ।

"जीव तथा जगत के बीच प्रारब्ध, सेतु का कार्य करता है तथा जीव को खेंच कर जगत की ओर ले जाता है । जीव तड़पता-तपता रहता है किन्तु जगत को छोड़ नहीं पाता । मन की एकाग्रता का कितना भी प्रयत्न करने पर भी, मन जगत में ही भागता रहता है । मन स्वभाव से सत्वगुणी होने से, सुख-प्राप्ति का जिज्ञासु है । उसे यही आशा लगी रहती है कि संभवतया किसी विषय में सुख मिल जाए । न उसे सुख ही मिलता है, न ही चंचलता समाप्त होती है । इस प्रकार एक नाटक चलता रहता है जिसकी पृष्ठभूमि प्रारब्ध होता है ।"

प्रश्न– किन्तु प्रारब्ध से पीछा छुड़ाने का कोई तो मार्ग होगा ?

उत्तर– उसका मार्ग है सेवा-भाव से, कर्त्तव्यपरायण होकर कर्मयोग का अभ्यास । कर्मयोग ही सभी साधनाओं-उपासनाओं का आरंभ है । कर्मयोग अध्यात्म का द्वार है । कर्म-फल भोगकर प्रारब्ध को समाप्त कर देने की तर्कपूर्ण युक्ति है । इसके बिना न यम नियम ही सिद्ध होते हैं, न प्रत्याहार की अवस्था उदय होती है, न ही धारणा-ध्यान के योग्य

मन विकसित हो पाता है, किन्तु कर्मयोग का अभ्यास इतना आसान नहीं है । सच पूछा जाये तो यह साधन-यात्रा का कठिनतम भाग है, क्योंकि जगत को छोड़ना तथा अध्यात्म को अपनाना सरल नहीं है । साधक जगत का त्याग करना चाहता है किन्तु प्रारब्ध करने ही नहीं देता । वासनाओं-वृत्तियों के माध्यम से जगत में खेंच ले जाता है । जगत तथा अध्यात्म में कर्मयोग एक युद्ध के समान है जिसमें साधक की विजयश्री तभी सुनिश्चित होती है, जब वह युद्ध के दाँव-पेच से भली- भाँति अवगत हो, धैर्य तथा उत्साह से सुसज्जित हो तथा गिरकर भी संभल जाने की कला में पारंगत हो ।

प्रश्न– साधन के साथ-साथ कर्म की उपेक्षा नहीं करना, यही तो कर्मयोग है न, इसमें भला कठिनाई क्या है ? कठिन तो साधन करना है । इसके विपरीत यदि जगत में कर्म करो, तो मन लगा रहता है ।

उत्तर– केवल इतना ही कर्मयोग नहीं है । कर्मयोग का आरंभ करने से पूर्व यह निश्चित करना पड़ेगा कि कर्म प्रारब्ध निर्माण के लिए है या प्रारब्ध क्षय के लिए । संसार के लोगों का कर्म प्रारब्ध निर्माण के लिए होता है तो साधकों का प्रारब्ध क्षय के लिए । जिस साधक का कर्म, प्रारब्ध निर्माण करता है उसे संसारी ही समझो । इसीलिए साधकों को चित्त-शुद्धि, व्यवहार-शुद्धि के लिए प्रेरित किया जाता है, जो प्रारब्ध-क्षय का ही रूप है । जो कर्म प्रारब्ध निर्माण में कारण हो, वह कर्मयोग नहीं हो सकता । आसक्ति युक्त कर्म, फल की इच्छा से किया गया कर्म, काम-क्रोध-लोभादि की भावना से किया गया कर्म प्रारब्ध-निर्माण का कारण है । वहं कर्मयोग नहीं हो सकता । जिसको जगत की ओर बढ़ना है, वह प्रारब्ध निर्माण के लिए कर्म करेगा, जिसको जगत से हटना है वह आसक्ति त्याग कर, प्रारब्ध क्षय के लिए कर्म करेगा । कर्म एक ही है, कोई प्रारब्ध निर्माण करता है तो कोई प्रारब्ध क्षय ।

प्रश्न– आसक्ति, कामना, फल की इच्छा तथा अभिमान का त्याग करके, कर्म करना कैसे संभव है फिर कोई कर्म करेगा ही क्यों ?

उत्तर– प्रारब्ध क्षय के लिए । मैंने कहा न, कि कर्म ही प्रारब्ध-निर्माण करता है तथा कर्म ही प्रारब्ध-बंधन से छुड़ाता है । आसक्ति युक्त कर्म जगत के समक्ष समर्पण है तो शुद्ध कर्मयोग जगत से विद्रोह । एक भव के अथाह सागर में डुबो देता है तो दूसरा सागर को तैर कर पार कराता है । एक भटकन है तो दूसरा मार्गदर्शन । एक अधोगामी है तो दूसरा ऊर्ध्वगामी । कर्म एक ही है, देखने में कोई अन्तर नहीं किन्तु दोनों के परिणाम विपरीत हैं । जिसको प्रारब्ध क्षय का मार्ग अपनाना है वह तो शुद्ध कर्मयोग में ही रुचि लेगा । शुद्ध कर्मयोग ऐसा सीधा मार्ग है जो अध्यात्म के द्वार पर ले जा खड़ा करता है ।

प्रश्न-- तो इसमें कठिनाई क्या है ?

उत्तर– अपना अभिमान, मन की चंचलता, जगत में सुखों की आशा, पुनः-पुनः मन को आसक्त कर देते हैं । साधक शुद्ध कर्मयोग का अभ्यास कर रहा होता है कि न जाने कब, आसक्ति चुपके-चुपके मन में प्रविष्ट हो जाती है । साधक समझ-संभल भी नहीं पाता कि आसक्ति अपना काम कर जाती है । वास्तव में वह पहले से ही मन में विद्यमान होती है, बीज रूप में छुपकर पड़ी होती है, साधक उसे दबा कर रखने का प्रयास करता है, किन्तु गेंद को जमीन पर जितना अधिक जोर से मारो, उतना ही उछल कर ऊपर आती है । आसक्ति का भी यही हाल है । जितना दबाओ, उतना ही अधिक सिर उठाती है ।

दूसरी कठिनाई का नाम स्वार्थमय संसार है । जगत साधक की शुद्ध भावना को समझ नहीं पाता, जबकि उसे जगत् से ही व्यवहार करना पड़ता है । साधन, एक ऐसे वन को पार करने जैसा है जिसमें सर्वत्र आग ही आग जल रही है, सभी ओर धुएँ के अंधकार का प्रकोप है, पग-पग पर कठिनाइयाँ आती हैं । यदि साधक तैरकर जगत रूपी नदी को पार करने का प्रयत्न करता है, तो हिंसक जीव, नीचे से उसकी टांग खेंचते हैं । अन्दर तथा बाहर वासनाओं तथा विकारों का खुला ताण्डव हो रहा है । ऐसे में शुद्ध कर्मयोग का अभ्यास कर पाना कितना कठिन है, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है ।

प्रश्न– फिर साधक क्या करे ?

उत्तर– कर्मयोग की यात्रा काफी लम्बी है, मार्ग कठिनाइयों से भरा है, ऊँची चढ़ाइयाँ तथा नीची घाटियाँ हैं, पथरीली कँटीली जमीन है, कहीं फिसलन है तो कहीं अवरोध, कई नदियाँ पार करना पड़ती हैं, तो कहीं हिंसक जीव भरे वन में से निकलकर जाना पड़ता है । साधक कई बार गिरेगा तो कई बार भटक जाएगा । कई बार अँधेरी रात उसे वन में अकेले रहकर ही काटनी पड़ेगी । कई बार चोर-डाकू उसे लूटकर ले जाएँगे । कई बार भूख-प्यास का सामना करना पड़ सकता है, शरीर तथा मन पर घाव सहन करने पड़ सकते हैं । उसके लिए कितने धैर्य की आवश्यकता है । इस यात्रा को पूरा करने के लिए दृढ़ निश्चय चाहिए, सहनशीलता चाहिए, अपने आप पर संयम, निर्भयता तथा बुद्धि की स्थिरता चाहिए ।

इस पर मैंने कहा, "महाराजजी, आपके विषय के प्रस्तुतिकरण के ढंग से मुझे जीवन की एक घटना याद आ रही है । उन दिनों मैं नांगल में रहता था । बीच-बीच में हिमाचल प्रदेश के पहाड़ों में एकान्तवास या भ्रमण के लिए निकल जाया करता था । इसी प्रकार एक बार भ्रमण के लिए गया । पहाड़ों में पगडण्डी का कोई निश्चित मार्ग तो होता नहीं । गाँव का एक व्यक्ति मेरे साथ हो लिया । जब वह मुझ से अलग होने लगा, तो दूर पहाड़ की चोटी पर खड़ा बरगद का एक वृक्ष दिखाकर बोला कि उस वृक्ष तक चले जाना, वहाँ से रास्ता दूसरी ओर नीचे उतरेगा । उस रास्ते पर दो मील के करीब जाने पर, वह गाँव आ जाएगा, जहाँ आप को जाना है । यह कहकर वह व्यक्ति तो चला गया और मैं उस वृक्ष की ओर बढ़ लिया । जब

वृक्ष के पास पहुँचा तो देखा कि उस वृक्ष के दूसरी ओर एक नहीं, तीन- चार रास्ते उतरते थे । अब कौन से रास्ते पर जाना ? मैं दुविधा में पड़ गया । कोई व्यक्ति भी आता-जाता दिखाई नहीं देता था । दस-पन्द्रह मिनट रुका रहा, किन्तु कोई व्यक्ति नहीं आया । अन्ततः जैसी समझ आई, एक रास्ते पर हो लिया । चलता ही गया । होश उस समय आई जब मैंने अपने आप को एक घने वन में पाया ।

न आगे कोई मार्ग था, न पीछे ही लौट सकता था । क्योंकि रास्ता कोई था ही नहीं । सुनसान स्तब्ध जंगल । अन्ततः एक ओर मुँह उठाकर चल दिया । कभी कोई भयानक सी आवाज़ें आती थीं तो कलेजा काँप उठता । एक पहाड़ी नाले को पार करते समय पाँव फिसल गया तो नाले में गिर गया । सारे कपड़े भीग गए । कोई हिंसक पशु मिला तो नहीं, पर मन में भय अवश्य बना था । कोई डेढ़ एक घण्टा भटकने के बाद जंगल समाप्त हुआ, तो छोटी-छोटी झाड़ियों से ढकी जमीन पर मानव-पाँवों के निशान दिखे । उन निशानों के सहारे मैंने चलना शुरू किया । अन्त में बकरियाँ चराता हुआ एक लड़का मुझे मिला । मैंने उससे गाँव का पता पूछा, किन्तु वह मेरी भाषा नहीं समझता था । गाँव का नाम लेकर इशारे से उसे समझाया, तो उसने एक ओर हाथ उठा दिया । वहाँ मुझे पता चला कि मार्ग भटकना क्या होता है । ऐसा अनुभव हिमाचल प्रदेश में भ्रमण करते कई बार हुआ ।

ऐसी ही यात्रा कुछ-कुछ कर्मयोग की भी होगी । पग-पग पर संकट, पग-पग पर फिसलन, आकर्षण तथा भटकाव ।

महाराजश्री बोले, "इससे भी कहीं कठिन तथा अत्यन्त लम्बी । यह तो केवल भौतिक स्तर पर ही है किन्तु कर्मयोग की यात्रा में भौतिक तथा मानसिक दोनों स्तरों पर संकट-फिसलन है । बाहर भी, अन्दर भी । वास्तव में जीव पहले अन्तर में गिरता-भटकता है, फिर बाहर ।"

प्रश्न– क्या ऐसा है कि पहले कर्मयोग का अभ्यास करके, प्रारब्ध को समाप्त कर लिया जाए तत्पश्चात् साधना की जाए । इस प्रकार मनुष्य कर्मयोग में ही कब तक उलझा रहेगा ?

उत्तर– नहीं, नहीं । कर्मयोग का अभ्यास करने का यह अर्थ कदापि नहीं कि इस अभ्यास के साथ साधना करो ही नहीं । कर्मयोग तथा साधना साथ-साथ ही चलते हैं । दोनों एक-दूसरे के पूरक तथा सहायक हैं । कर्मयोग से मन को बाहर से अन्दर धकेलना तथा साधना से मन को अन्दर से अन्दर खेंचना, यही क्रम है । उद्देश्य दोनों का मन को अन्तर्मुखी करना ही है ।

इस प्रकार साधक, कर्मयोग का भाव मन में स्थापित करके साधना करे । कर्म में नहीं, भाव में अन्तर होता है । भाव के अनुरूप ही कर्म का स्वरूप निश्चित होता है । जिसका भाव

शुद्ध है, प्रथम तो उससे कोई अशुभ कर्म होता ही नहीं, यदि हो भी जाय तो भाव तो शुद्ध ही होता है । सेवा भाव से कर्म करना, कर्मयोग का एक रूप है, कर्त्तव्य-बुद्धि से कर्म दूसरा रूप है । भगवान का काम समझकर करना, भगवान को कर्म का फल अर्पण कर देना, भगवान के लिए कर्म करना, यह सभी कर्मयोग के ही विभिन्न स्तर एवं स्वरूप हैं । कामना रहित कर्म या अनासक्त कर्म भी, कर्मयोग की उच्च अवस्थाएँ हैं । भगवान को कर्त्ता तथा स्वयं को माध्यम बना कर कर्म करना भी कर्मयोग का एक प्रकार है । जो जिस स्तर तथा भाव का साधक होता है, उसी के अनुरूप उसका कर्मयोग होता है ।

प्रश्न– इसके पश्चात् और भी कोई समस्या है क्या ?

उत्तर– हाँ, इसके पश्चात् दूसरी समस्या का नाम है कर्त्ता पन का अभिमान । यह अभिमान झूठा है, मिथ्या है, फिर भी यह प्रारब्ध-निर्माण में मुख्य भूमिका निभाता है । कर्त्तापन का भाव ही जगत-व्यवहार में सशक्त सूत्रधार है । अस्तित्वविहीन होते हुए भी महाबलशाली है तथा शक्तिविहीन होते हुए भी, प्रत्येक इन्द्रिय का संचालक बना बैठा है । यह एक ऐसा तथाकथित तत्त्व है जिसके माध्यम से जीवत्व प्रकट होता है । वह एक ऐसे व्यक्ति के समान है जिसकी सारी जमा पूँजी केवल अभिमान ही है । जिस प्रकार शक्ति में क्रिया-शक्ति है उसी प्रकार मिथ्या अभिमान में मिथ्या कर्त्ताभाव है । यह मरुस्थल में भासित इन्द्रसभा के समान है, जिसका आधार केवल कल्पना है ।

प्रारब्ध तथा कर्त्ताभाव जब दोनों काल्पनिक तथा मिथ्या हैं, फिर दोनों में संबंध कैसा ? किन्तु इन दोनों का अस्तित्व भी अनुभवगम्य है तथा संबंध भी अटूट बना हुआ है । जिस प्रकार इन्द्रधनुष प्रतिबिम्ब मात्र है किन्तु उसमें रंग भी दिखाई देते हैं । जिस प्रकार सिर पर छाता सा तना हुआ दिखाई देता है किन्तु हज़ारों मील भी उड़कर आकाश में जाया जाय, तो कुछ भी हाथ नहीं आता । इसी प्रकार प्रारब्ध का भी अस्तित्व नहीं है किन्तु फिर भी भोगना पड़ता है । कर्ताभाव भी, भाव मात्र ही है किन्तु सारे जगत को नचाये फिरता है । यहाँ हमें यही मानकर चलना पड़ता है कि जब तक इन दोनों का अनुभव बना रहता है, तब तक इनका अस्तित्व भी है तथा परस्पर संबंध भी ।

कर्त्ताभाव, आसक्ति तथा राग-द्वेष की भावना से पनपता तथा पुष्ट होता है । राग-द्वेष पुष्टि के साथ, जगत में सत्यता की प्रतीति भी बढ़ती जाती है, इच्छित वस्तुओं को प्राप्त करने तथा अनिच्छित वस्तुओं को परे हटाने की लालसा भी बलवती होती जाती है । तब जीव आसक्ति तथा राग-द्वेष की भावना से युक्त होकर कर्म करता है । उसका अहम् चैतन्य से गिरकर चित्त में आ जाता है तथा चैतन्य को अपनी शक्ति तथा गुण मानने लगता है, जिससे उसमें कर्त्ताभाव पैदा होता है । उसकी इन्द्रियों के माध्यम से जो भी क्रिया होती है, शक्ति के द्वारा ही होती है, किन्तु मिथ्या अभिमान के कारण वह स्वयं कर्त्ता बन बैठता है । जब तक

शक्ति द्वारा क्रियाओं का अनुभव था, तब तक न कोई अभिमान था, न प्रारब्ध। जैसे ही क्रियाओं में कर्त्ताभाव का समावेश हो जाता है वहीं अभिमान भी उभर आता है तथा संस्कारों के रूप में स्मृतियाँ भी अंकित हो जाती हैं। यह केवल भावनात्मक, काल्पनिक है, किन्तु जीव इस भाव तथा इसी कारण संचित स्मृति चिह्नों से जन्म-जन्मान्तर तक नहीं उभर पाता।

प्रारब्ध एवं कर्त्ताभाव दो ऐसे लुटेरों की तरह हैं जिनकी एकता तथा परस्पर सामंजस्य अभूतपूर्व है। दोनों मिलकर जीव के मन की शान्ति तथा सुख-चैन का हरण कर लेते हैं। वह निर्दयी इतने हैं कि जीव को तड़पते देखकर उन्हें आनन्द आता है। एकबार जीव उनकी पकड़ में आ जाये तो युग-युगान्तर व्यतीत हो जाते हैं किन्तु उनकी पकड़ ढीली नहीं होती। वह जीव का खून चूसते रहते हैं, किन्तु उसका जीवत्व समाप्त नहीं होने देते। वह दोनों मन को निरन्तर प्रभावित करते रहते हैं तथा उसे मन चाहे ढंग से भगाते, नचाते तथा घुमाते हैं। बुद्धि भी उन दोनों के प्रभाव-क्षेत्र से नहीं बच पाती तथा वैसा ही विचार करती है, जैसा वे चाहते हैं। कबीर ने जो यह कहा था कि दो पाटन के बीच में साबुत बचा न कोय, तो संभवतः उसके सामने, प्रारब्ध तथा कर्त्ताभाव, यही दो पाट रहे होंगे। जगत पिस रहा है, लुटेरे आनन्द मना रहे हैं।

प्रश्न– कर्त्ताभाव के निराकरण का उपाय क्या है ?

उत्तर– किसी रोग का उपचार करने के लिए, सबसे पहले उसका कारण देखा जाता है। कर्त्ताभाव का मूल कारण है जीव का शक्ति को अपना मान लेना। उसीसे जीव में व्याप्त अभिमान, कर्त्ताभाव की भूमिका निभाने लगता है। चाहे कितना भी शास्त्र-ज्ञान संचय कर लो, सत्संग श्रवण कर लो, साधना- आराधना, उपासना करो, जब तक जीव को शक्ति की प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं होती, तब तक कर्त्ताभाव का ह्रास होना आरंभ नहीं होता। इस प्रकार यहाँ से शक्ति-जाग्रति का विषय शुरू होता है। यह अनुभवगम्य भाव ही कर्त्ताभाव को क्षीण कर पाता है तथा समर्पण भाव उदय करता है। यहीं से भक्ति तथा योग आरंभ होता है। भक्ति-योग का प्रथम लक्ष्य प्रारब्ध तथा कर्त्ताभाव निवृत्ति ही है।

ईश्वरीय शक्ति की जाग्रति के उपरान्त उदित समर्पण ही वास्तव में समर्पण है। 'नारद भक्ति सूत्र' में भी भक्ति की परिभाषा करते हुए 'अस्मिन' शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् साधक के अन्तर में जब ईश्वरीय शक्ति सम्मुख प्रकाशित हो जाती है, प्रत्यक्ष होकर बात करती है, प्रार्थना सुनती तथा मार्गदर्शन करती है, उसके प्रति परम प्रेम ही भक्ति है। इस प्रकार योग तथा भक्ति दोनों का आरंभ शक्ति की जाग्रति से ही होता है। जिस प्रकार प्रारब्ध निर्माण में, प्रारब्ध तथा कर्त्ताभाव का परस्पर संबंध है, उसी प्रकार प्रारब्ध क्षय में भी

दोनों का संबंध बना रहता है । पहले वृद्धि के लिए साथ थे, अब क्षय के लिए साथ होते हैं । जीना-मरना साथ-साथ ।

पहले जीव कर्त्ताभाव का हाथ पकड़कर चल रहा होता है । बिना सहारे जीव चल नहीं सकता क्योंकि उसमें अपनी कोई शक्ति ही नहीं है । कर्त्ताभाव का सहारा छोड़ने से पूर्व उसे अन्य किसी बड़े तथा अधिक सशक्त सहारे की आवश्यकता है । यह सहारा उसे शक्ति जाग्रति के रूप में प्राप्त हो जाता है । यह सहारा सदैव के लिए सहारा नहीं बना रहता, वरन्, चित्त निर्मल कर, धीरे-धीरे अपने में विलीन कर लेता है तथा साधक को बिना सहारे चलने की शक्ति प्रदान कर देता है । जाग्रत शक्ति एक ओर तो कर्त्ताभाव को द्दष्टाभाव का स्वरूप प्रदान कर समर्पण में लगाती है तथा दूसरी ओर संस्कारों को क्रियाओं में परिणत कर, उन्हें क्षीण कर, प्रारब्ध निर्माण में रोक लगाती है द्दष्टाभाव को सहनशीलता प्रदान कर, पूर्व निर्मित प्रारब्ध के क्षय का मार्ग प्रशस्त करती है । यह साधक पर निर्भर है कि सहनशीलता तथा समर्पण का किस सीमा तक उपयोग करता है ।

प्रश्न– मेरे विचार में तो प्रायः साधक इन गुणों का समुचित प्रयोग नहीं कर पाते ।

उत्तर– इसीलिए साधन का वांछित परिणाम भी प्राप्त नहीं होता । जिस अभिमान को पतला करने के लिए साधन किया जाता है, उसी साधन पर साधक अभिमान करने लगता है । अपने साधन तथा अनुभूतियों में उसे आसक्ति हो जाती है । जिस शक्ति की यह क्रियाएँ हैं, उसे न अभिमान है, न आसक्ति । इसे कहते हैं मिथ्या अभिमान ।

जाग्रति के पश्चात् साधक अपने से भिन्न, द्दष्टा-भाव में स्थित, क्रियाओं की अनुभूति करता है, जिसमें उसके स्वयं के प्रयत्न की कोई भूमिका नहीं होती है, वह किसी दृश्य की कल्पना नहीं करता, फिर भी विभिन्न दृश्यों को देखता है । वह संगीत विद्या से पूरी तरह अनभिज्ञ होता है, परन्तु मधुर स्वर में शास्त्रीय गायन करता है । बाहर कोई आवाज या प्रकाश नहीं होता, किन्तु वह अन्तर में ही मधुर ध्वनियाँ सुनता एवं प्रकाश देखता है । वह यह सब देख-देख कर आश्चर्यचकित होता है तथा उसे यह निश्चय हो जाता है कि उसके कुछ नहीं करने पर भी, बहुत कुछ हो सकता है । वह स्वयं भी जो कुछ करता है, उसमें भी उसे शंका होने लगती है कि क्या वास्तव में वह ही करता है या केवल उसका कर्त्तापन का अभिमान ही है ।

उधर कर्मयोग का अभ्यास प्रारब्ध की नींव खोखली करने में लगा होता है, तो दूसरी ओर, क्रिया के माध्यम से, चित्त में संचित संस्कारों का बोझ हलका होता जाता है । तीसरी ओर, शक्ति की क्रियाओं की भिन्नत्व की अनुभूति कर्त्ताभाव पर आघात किए जाती है । इस प्रकार साधक की आन्तरिक यात्रा का आरंभ होता है ।

प्रश्न– परन्तु यह तो आपने बताया ही नहीं कि जाग्रति किस उपाय से होती है ?

उत्तर– शक्तिपात् के उपाय से तो आप लोग परिचित हैं ही। यह उपाय शास्त्र-सम्मत भी है तथा वैज्ञानिक भी । यद्यपि यह उपाय कभी लुप्त हो जाता है तो कभी प्रकट । सभी उपायों का यही हाल है । सभी सिद्धान्त, उपाय, सम्प्रदाय, कोई भी प्रकृति की परिवर्तनशीलता से बच नहीं पाया । पचासे साठ वर्ष पहले तक लोग प्रायः शक्तिपात् से पूर्णतया अनभिज्ञ थे । स्वामी नारायण तीर्थजी महाराज ने इसे सामान्य जनता में प्रकाशित किया । अभी भी कई लोग ऐसे हैं जो इस पर श्रद्धा नहीं रखते । उन लोगों की वह जानें । हम इस विद्या के प्रत्यक्ष परिणाम भी देखते हैं तथा शास्त्र एवं संत-वाणियाँ भी इसकी साक्षी हैं।

किन्तु शक्तिपात् ही जाग्रति का एकमात्र उपाय नहीं है । यद्यपि हमारी मान्यता है कि यदि अन्य उपायों से जाग्रति हो भी जाय, तो भी शक्तिपात् आवश्यक है । क्योंकि इससे शक्ति की जाग्रति नियन्त्रित हो जाती है । किसी साधन-प्रणाली के दीर्घकालीन अनुष्ठान से शक्ति की जाग्रति संभव है । कुछ ऐसे उदाहरण भी देखने में आए कि बिना कोई साधन किए ही शक्ति की जाग्रति हो गई । संभवतः उनके पूर्व जन्मों में की गई साधना का परिणाम था। यह भी हो सकता है कि पूर्व जन्म में ही जाग्रति हो गई हो । योग-मार्ग में भी जन्म से सिद्धि को स्वीकार किया गया है ।

प्रश्न– और क्या समस्या है ?

उत्तर– समस्याएँ तो और भी हैं जैसे, अपने अलग अस्तित्व को समाप्त कर, अपने आपको समष्टि चैतन्य का अंग अनुभव करना, अविद्या का नाश करना, अहम् को मिटाना इत्यादि, किन्तु सामान्य साधक के सामने यह दो समस्याएँ ही मुख्य हैं । यदि किसी प्रकार साधक इन दो समस्याओं से निपट ले तो समझ लो कि अध्यात्म के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ गया है । इन दोनों कठिनाइयों से पार पाना सबसे कठिन है । आगे का मार्ग अपेक्षाकृत सरल हो जाता है ।

प्रारब्ध तथा कर्त्ताभाव ही मन की चंचलता, बुद्धि की अस्थिरता, जगत में आसक्ति तथा सुख-दुखादि अनुभव का कारण है । यही दोनों वासना की दलदल में जीव को ऐसा उलझाते हैं कि वह लाख प्रयत्न करने पर भी, निकल नहीं पाता । जीव एक घायल पक्षी की तरह तड़पता रहता है, विरहाग्नि में तपड़पती नारी की तरह सिसकता रहता है तथा एक राह भूले राही की तरह भटकता रहता है, किन्तु प्रारब्ध तथा कर्त्ताभाव जीव की तड़प को बढ़ाते, सिसकन को तीव्र करते तथा भटके को और भी अधिक भटकाते रहते हैं । इन दोनों लुटेरों के मन में, दया नाम को भी नहीं । मीठे विष की तरह जीव इनका पान करने में लगा रहता है तथा अपने जीवन को बरबाद किया करता है । इन लुटेरों से छुटकारे का यत्न ही साधना है, यही आध्यात्मिकता है ।

जितनी जल्दी जीव, प्रारब्ध एवं कर्त्ताभाव की दुखदायी कैद से अपने आपको मुक्त करा ले, उतना ही उसके हित में है । जीव को लुभाने, फँसाने, तड़पाने तथा उलझाने के लिए, प्रारब्ध के पास संस्कारों का अथाह भण्डार है, तों कर्त्ताभाव के पास भी जीव को अपनी जकड़न में बनाए रखने के लिए उपायों, बहानों तथा युक्तियों की कमी नहीं है । दोनों का लक्ष्य एक ही है— जीव को तड़पाना, देह त्याग के पश्चात् भी फिर से उसे जगत में लाना, फिर तड़पाना, फिर लाना । इस प्रकार इनका यह कौतुक चलता रहता है । यह सब मेरा, आपसे कहने का आशय, आप लोगों को प्रारब्ध तथा कर्त्ताभाव की भयानकता तथा दुस्साहसिकता से अवगत कराना है ।

प्रारब्ध से छुटकारा पाने के लिए जिस कर्म-योग की चर्चा की गई है, वह भी आरंभ में आणवी कर्त्ताभावयुक्त होता है । अभिमान जीव के इस प्रयत्न में सहायक भी होता है तथा अन्दर से उसके प्रयत्न को खोखला भी करता है । आरंभ से ही साधक को सावधानी तथा संभल-संभल कर पाँव रखने की आवश्यकता है । धीरे-धीरे कर्मयोग साधक का स्वभाव बनता जाता है ।

साधना कर्मयोग से ही आरंभ होती है । जैसे-जैसे संस्कार-क्षय, अन्तर अनुभूतियाँ, भगवद्-प्रेम तथा समर्पण बढ़ते जाते हैं, कर्मयोग की आवश्यकता में कमी आती जाती है । साधक को कर्मयोग छोड़ने की आवश्यकता नहीं है । कालान्तर में, योग्य समय आने पर अपने आप छूट जाता है ।वह कर्मयोग का स्वभाव बन जाने पर, शक्ति-जाग्रति होने पर, कर्मयोग के अभ्यास में आमूल-चूल परिवर्तन आ जाता है या आ जाना चाहिए ।

आरंभ में साधना आणवोपाय से शुरू होती है । जीव अणु मात्र है, उसका प्रयत्न भी शून्यवत् है किन्तु अभिमान बहुत बड़ा है । जीव की जो मानसिक स्थिति आज है, वहीं से वह शुरू करेगा । इसीलिए भारतीय साधनाओं में आरंभ करने से पहले अधिकार पर विचार करके साधना निश्चित की जाती है । किसी की जप में रुचि है, तो किसी की पठन-पाठन में । यह अधिकार-निर्णय चित्त-स्थिति, स्वभाव, श्रद्धा, योग्यता तथा समय की उपलब्धि को ध्यान में रख कर किया जाता है ।

हमने यहाँ शक्ति जाग्रति तक के ही विषय का उल्लेख किया है क्योंकि सामान्यतः मनुष्यों का अधिकार इसी सीमा के ही अन्तर्गत होता है । बहुधा साधक, अधिकार की उपेक्षा कर, उच्च साधनों से आरम्भ करते हैं तथा जगत से निवृत्ति-परायण होने का बलपूर्वक प्रयत्न करते हैं । वह न निवृत्ति में ही टिक पाते हैं, न प्रवृत्ति ही निभा पाते हैं । अतः साधक के लिए उत्तम यही है कि वह क्रम-क्रम से, एक-एक पग आगे बढ़ाए, पक्की जमीन पर पाँव रखे तथा एक पाँव टिक जाने पर ही दूसरा पाँव उठाए ।

शक्ति जाग्रति के पश्चात् साधना का आधार बदल जाता है, साधना साधन का रूप ले लेती है जिसका आधार, अभिमान के स्थान पर शक्ति की क्रियाशीलता हो जाता है। इससे कर्मयोग का स्वरूप भी सर्वथा बदल जाता है। आणवोपाय से उठकर उसका स्तर, शाक्तोपाय में प्रवेश कर जाता है। चलना या नहीं चलना साधक के हाथ में है। यदि शिष्य साथ नहीं दे तो गुरु भी क्या कर सकता है ? इस मार्ग पर चलने के लिए शिष्य को सर्वस्व त्याग के लिए तैयार रहना चाहिए। दीपक स्वयं को जलाकर ही प्रकाशित होता है।

(२२) दुःख का स्वरूप

एक साधक आश्रम में आया तो महाराजश्री के सामने अपने दुःखों की गठड़ी खोल कर रख दी। सब ओर से संकटों, कठिनाइयों, समस्याओं से भरी हुई गठड़ी। महाराजश्री ने कहा "ऐसा केवल तुम्हारे साथ ही नहीं है, जगत् रूपी नाव में सभी सवार तूफान में घिरे हैं, तथा नाव हिचकोले खा रही है। किसी को धन के अभाव का दुःख है तो कोई धन की सुरक्षा को लेकर भयभीत है। किसी को धन की बहुलता के कारण परिवारजनों में आए विकार तथा उनके परस्पर झगड़े-बखेड़े परेशान किए हैं। कोई ईर्ष्या की अग्नि में जल रहा है तो कोई द्वेष से पीड़ित है। किसी के पास खाने को नहीं है तो कोई सब कुछ होते हुए भी व्याधियों के कारण खाने से लाचार है। किसी के दाम्पत्य जीवन में वैमनस्य है तो कोई भाई-भाई के झगड़ों से भागा फिरता है। किसी के पास सिर छुपाने को झोपड़ी नहीं, तो कोई इतनी जायदाद का स्वामी है कि नित्य कचहरियों के चक्कर काटने पड़ते हैं। कोई विषयों के न मिलने से दुःखी है तो कोई विषय-भोग से छुटकारे के लिए छटपटाता है। कोई साधना करना चाहता है किन्तु कर नहीं पाता। वह अपने मन के हाथों दुःखी है। कोई साधना में इच्छित उन्नति नहीं हो पाने से परेशान है। किसी के शिष्य साधन नहीं करते, यही परेशानी है तो कोई गुरु न बन पाने से दुःखी है। कोई आश्रम के लिए दुःखी है तो कोई आश्रम से दुखी है। भाव यह है कि जगत में सुख किसी के भी पास नहीं है। जिसका भी हृदय टटोल कर देखो, अन्दर से दुःख ही निकलेगा, हाँ लोग सुखी होने का दंभ अवश्य करते हैं।

"सुख हो भी कैसे सकता है ? जब तक सुख का आधार जगत है, दुःख ही मिलेगा। जगत मायामय, परिवर्तनशील है। संसारी हो या तपस्वी, हर कोई कहीं न कहीं अटका है। सब की सुख की अपनी-अपनी कल्पना है। कोई शास्त्रों में सुख ढूँढता है तो कोई देव-मंदिरों में, तो किसी को जगत के भोगों में सुख की तलाश होती है। कोई विषय त्याग में सुख देखता है। जब तक किसी भी रूप, गुण या परिस्थिति में जगत अभिमुख है, सुख कहाँ ? बीच-बीच में सुख का आभास अवश्य होता है।"

प्रश्न– परन्तु साधना में सुख का आधार जगत नहीं है, फिर दुःख क्यों ?

उत्तर– जगत उतना ही नहीं है जितना तुम्हें भौतिक नेत्रों से दिखाई देता है । तुम्हारा अन्तर-चित्त भी तो जगत् का अंग है । जब तक साधना का आधार चित्त है तब तक जगत की परिधि में से बाहर नहीं निकला जा सकता । जब तक अन्तर अनुभूतियाँ चित्त का आधार लिए हैं तब तक माया ही है । ऐसा तो कोई ही साधक होगा जो चित्त से ऊपर उठकर चैतन्य में प्रविष्ट हो जाए । अन्यथा अधिकांश माया के अन्तर्गत ही ऊपर-नीचे होते रहते हैं । दृश्य जगत चित्त को प्रभावित करता रहता है तथा चित्त जगत को ।

प्रश्न– किन्तु शक्ति जाग कर, जीव को द्रष्टाभाव प्रदान करती तथा चैतन्य के अभिमुख कर देती है, फिर जगत का संबंध कहाँ रहा ?

उत्तर– चैतन्य के अभिमुख नहीं, चैतन्य की क्रिया के अभिमुख करती है । क्रियाओं का आधार संस्कार ही होते हैं जो क्रिया रूप में चित्त के धरातल पर प्रकट होते हैं । संस्कार भी जगत है, चित्त भी जगत है, इसलिए द्रष्टाभाव के समक्ष क्रिया के रूप में चित्त भी जगत है, अत: जाग्रति के पश्चात् ही जगत दृश्य रूप में विलीन नहीं हो जाता । दीर्घकालीन साधन तथा गुरुकृपा के पश्चात् ही जगत विलीन हो पाता है । वह भी तब जब साधक भविष्य में संस्कार-संचय नहीं करे तथा घटित होने वाली क्रियाओं से चित्त प्रभावित नहीं हो । संस्कारों के निर्मूल हो जाने के उपरान्त ही साधक की स्थिति, चैतन्य में स्थापित होती है तथा क्रियाओं का आधार भी तत्वों का विलीनीकरण होता है, तब जगत सामने से हटता है ।

प्रश्न– इसका अर्थ यह हुआ कि अध्यात्म की यात्रा बहुत ही लम्बी है ।

उत्तर– लम्बी भी है तथा कठिन, दुरुह तथा संकटपूर्ण भी । पग-पग पर गिरने का भय, भटकन, शंकाएँ तथा भ्रम । प्राय: साधक, प्रारंभिक अवस्था में ही संतुष्ट बने रहते हैं । न शारीरिक स्तर से ऊपर उठते हैं, न उच्च्व-आनन्द को ही अनुभव कर पाते हैं ।

प्रश्न– इसका अर्थ यह हुआ कि जगत ही दु:ख का कारण है ?

उत्तर– नहीं, जगत दु:ख का कारण नहीं है किन्तु मनुष्य ने उसे दु:ख का कारण बना लिया है । अन्यथा जगत् केवल सुख-दु:ख के प्रकट होने का आधार मात्र है । जगत ही दु:ख-निवृत्ति का आधार भी है । इसका उत्तरदायित्व साधक पर है कि वह जगत को दु:ख का कारण बनाना चाहता है अथवा दु:ख निवृत्ति का । वास्तविक कारण मन का भ्रम है, जो जन्म-जन्मान्तर से मनुष्य के अन्तर में अपनी जगह बनाए है । इसी भ्रम के कारण अहंकार तथा आसक्ति उदय हो जाती है । जगत को दु:ख का कारण मानने का कारण भी यह भ्रम ही है । भ्रम निवृत्ति ही अध्यात्म का लक्ष्य है ।

प्रश्न– इस सारे प्रकरण में शक्ति की क्या भूमिका है ?

उत्तर– शक्ति तो शक्ति ही है, उससे कोई जैसा काम लेना चाहेगा, वह वैसा कर देगी । भ्रम की गठान खोलना चाहो तो खोल देगी, कसना चाहो तो कस देगी । किसी का

घर बनाना चाहो तो बना देगी, तोड़ना चाहो तो तोड़ देगी । यदि आसक्ति युक्त होकर, संस्कार संचय करना चाहो, तो संचय कर देगी । यदि उसे जगा कर संस्कार क्षय करना चाहो, तो क्षय कर देगी । शक्ति के लिए न कुछ शुभ है न अशुभ । शक्ति का काम है मन को संकल्प करने के लिए शक्ति प्रदान करना तथा इन्द्रियों के माध्यम से कार्यान्वित करना । जब शक्ति अन्तर्मुख हो जाती है तो मन संकल्परहित द्रष्टा हो जाता है, तब संस्कारों को चित्त में उभार कर, तदुनसार क्रिया करना । शक्ति का दयाशील स्वरूप तब प्रकट होता है जब साधक, जगत के आधार पर अनुभव होने वाले दुःखों से घबराकर, उकता कर, शक्ति के शरणापन्न हो जाता है । तब वह माता की भाँति साधक की उंगली पकड़ कर, अपने धाम ले जाती है ।

प्रश्न– तब तो अध्यात्म पथ बड़ा सरल हो गया, माता को उँगली पकडाई और हो गई यात्रा पूरी ।

उत्तर– नहीं, इस तरह सरलता से दुःखों से छुटकारा होने वाला नहीं है । अभिमान सबसे बड़ी बाधा है समर्पित होने ही नहीं देता । साधन मार्ग में भी पीछा नहीं छोड़ता । अपने प्रयत्न को ही आधार मान कर चलना चाहता है । फिर माता की उँगली पकड़ लेना समर्पण नहीं, इसमें भी प्रयत्न का अभिमान छुपा है । समर्पण तब होता है जब माता साधक की उँगली थाम ले तथा साधक छुड़ाने का प्रयत्न नहीं करे ।

प्रश्न– आप ने अध्यात्म-पथ की कठिनाइयाँ तो बतला दीं, अब कुछ सरलताएँ भी बताइये ।

उत्तर– सरल कुछ है ही नहीं, जब तक कि यह मार्ग स्वाभाविकता प्राप्त न कर ले । कठिनाइयाँ तो फिर भी आएँगी किन्तु वह बाधक नहीं बनेंगी तथा आनन्द में विघ्नकारक नहीं होंगी ।

(२३) नियम पालन का मनोनिरोध से संबंध

आज मुझे उन पुरानी स्मृतियों की याद आ रही थी, जब महाराजश्री नांगल पधारे थे । महाराजश्री को भाखड़ा डैम दिखाने हम ले गए थे । अब याद नहीं कि कौन-कौन साथ था किन्तु तीन- चार लोग थे । भाखड़ा डैम देखने के लिए चलना बहुत पड़ता है । अब क्या स्थिति है, पता नहीं । उन दिनों ऐसा ही था । हम लोगों ने रास्ते में (संभवतः मूंगफली) खरीद ली थी । महाराजश्री को देने का प्रयत्न किया, तो बोले, "मैं चलते-चलते नहीं खाता" हम लोग चलते भी रहे और खाते भी रहे । किसी ने इधर ध्यान ही नहीं दिया किन्तु मेरे अन्दर यह प्रश्न जैसे घर कर गया । उस समय तो महाराजश्री से पूछने का साहस नहीं हुआ किन्तु यह प्रश्न सहसा मेरे अन्दर फिर से उभर आया था । इतना समय व्यतीत हो जाने पर भी, मेरे अन्दर यह समस्या अभी ज्यों की त्यों थी कि महाराजश्री चलते-चलते क्यों नहीं खाते ? इसका अध्यात्म से क्या संबंध हैं ?

दूसरे दिन प्रात:काल मैंने बात छेड़ दी । नांगल पधारने की याद दिलाई । फिर वहाँ से भाखड़ा-डैम जाने की घटना को दोहराया तथा फिर मूँगफली वाली बात पर आ गया । तब प्रश्न किया, "आप के चलते-चलते नहीं खाने के पीछे कोई आध्यात्मिक कारण है या केवल व्यावहारिक । मुझे तो आध्यात्मिकता से इसका कोई संबंध दिखाई नहीं देता ।"

महाराजश्री थोड़ी देर मौन रहे, जैसे कुछ याद कर रहे हों, फिर बोले, "देखो, वैसे सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो इस का आध्यात्मिकता से कोई संबंध नहीं है । बैठ के खाओ, लेट के खाओ या चलते-चलते खाओ, किसी प्रकार खाना ही तो है किन्तु यह बात भी याद रखो कि प्रत्येक पग जो हम उठाते हैं, उसका संबंध कहीं न कहीं आध्यात्मिकता से जुड़ जाता है । आज जो हम प्रारब्ध की सशक्त पकड़ में जकड़े हुए हैं उस का कारण, पूर्व में किए गए कर्म ही हैं । हमारे व्यवहार में प्राय: किसी प्रकार का संयम नहीं होने से, चित्त में चंचलता के संस्कार इतनी अधिक मात्रा में संचित हो गए हैं कि पल भर के लिए भी हमारा मन स्थिर नहीं हो पाता । असंयत जीवन के कारण आज हम जगत में भटकते फिरते हैं । इसलिए शास्त्रकारों ने, जीवन को संयत करने के लिए कई नियम बना दिए हैं, ताकि संयम के संस्कार संचित हो सकें तथा हमारी भटकन क्रमश: कम होती जाय ।

"जब लम्बे समय तक संयत-जीवन जिया जाता है, तो संयम के संस्कार संचित होते जाते हैं तथा चंचलता के दबते जाते हैं । अन्तर में एकत्रित कच्चे बीज तो दबे-दबे ही गल-सड़ जाते हैं । कालान्तर में एक समय ऐसा आ जाता है जब चित्त पूर्णत: संयम तथा स्थिरता के संस्कारों से प्रभावित हो जाता है । चंचलता और असंयमितता व्युत्थान है तथा स्थिरता और संयम उत्थान । चंचलता जगत है तो स्थिरता अध्यात्म, चंचलता भटकाती है तो स्थिरता शान्तता प्रदान करती है । अब चलते-चलते नहीं खाने को इस परिप्रेक्ष्य में लिया जाय, तो इस का अध्यात्म से गहरा संबंध है । यह छोटा सा कदम जीवन को अचंचल, स्थिर तथा शान्त बनाने के लिए कितना बड़ा प्रयास है । ठीक है कि तत्काल इस का प्रभाव दिखाई नहीं देता, किन्तु कालान्तर में स्थिरता के संस्कार, पर्याप्त मात्रा में संचित हो जाने पर इस का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगेगा । मन को संयत करने के शास्त्रकारों के नियमों को इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए । शास्त्रीय नियमों के अतिरिक्त साधक अपनी चित्त-स्थिति को ध्यान में रखकर, अपने नियम भी बना सकता है ।

"अब थोड़ा योग की दृष्टि से इस विषय पर विचार किया जाय । जब आप लोगों ने मुझे मूँगफली देना चाही, तो एक बार तो ले लेने की वृत्ति मन में जाग उठी किन्तु तत्काल चलते-चलते नहीं खाने का नियम याद आ गया तथा उस वृत्ति का निरोध हो गया । चित्त वृत्तियों का निरोध ही तो योग है । ठीक है कि पूर्ण योग सकल-वृत्ति-निरोध होने पर ही सिद्ध होता है किन्तु एक ही छलांग लगाकर, उस अवस्था को प्राप्त नहीं किया जा सकता ।

एक-एक कदम ही तो आगे बढ़ाया जाएगा । यदि हम चाहें तो जीवन को नियमबद्ध रखते हुए दिन भर मन का निरीक्षण कर सकते हैं जिससे योग-साधना निरन्तर चल सकती है । इस प्रकार एक-एक वृत्ति का निरोध होता रहेगा तथा हम सकल वृत्ति-निरोध की दिशा में अग्रसर होते रहेंगे ।

"कई बार ऐसा भी होता है कि साधक किसी वृत्ति-विशेष का निरोध करना चाहता है किन्तु वेग को रोक नहीं पाता । समझाए भी मन न हीं समझता, नहीं डाँटने से मानता है । तब प्रभु के शरणापन्न होता है । दुःखी साधक का हृदय पुकार उठता है, 'हे प्रभु, रक्षा करो, रक्षा करो । आप के रहते भी यह अन्तर राक्षस इतना उपद्रव मचा रहे हैं । मैं जितना इन से बचना चाहता हूँ यह उतना ही मुझे अधिक तंग करते हैं । आप हैं कि नेत्र मूंदे बैठे हैं । हे प्रभु, रक्षा करो, रक्षा करो ।' तब भक्त के हृदय की भावना इतनी प्रबल हो उठती है कि उसके वेग में वृत्ति भी बह जाती है । जहाँ ज्ञान तथा योग भी काम नहीं दे पाते हैं वहाँ हृदय का भाव काम कर जाता है ।

"कुछ लोग पहले प्रयत्न का सहारा लेते हैं, जब सफल नहीं होते तो भगवान को पुकारते हैं । कुछ का प्रयत्न का अभिमान समाप्त हो चुका होता है, वह सीधे प्रभु के ही शरणापन्न होते हैं । यह स्थिति तभी आ पाती है जब कुछ आचार-संहिता अभिमुख हो । अतः वृत्ति-निरोध का अभ्यास करने के लिए कुछ न कुछ नियमों का पालन करना आवश्यक है, अन्यथा जीवन उच्छृंखल हो जाता है ।"

प्रश्न– किन्तु शक्तिपात् के साधन में ऐसे किसी अभ्यास की आंवश्यकता नहीं । उसका आधार समर्पण है ।

उत्तर– मैंने तुम्हें कई बार बताया है कि समर्पण केवल बातों से नहीं होता । साधन में जिस समर्पण की आवश्यकता है वह किसी साधक में देखने को मिला है क्या ? किसी न किसी रूप में सब अभिमान लिए बैठे हैं । जब तक अभिमान है तब तक तो अपने आप को संभाल कर रखना ही पड़ेगा ।

प्रश्न– एक शंका और है । हमारी भावना के अनुसार आप अभ्यास की सीमा से ऊपर उठ चुके हैं । आप को नियम बनाने-पालने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर– मुझे आवश्यकता है कि नहीं, यह बात अलग है । आप लोग अपनी भावना के अनुसार कुछ भी सोच सकते हैं, किन्तु साधक को सर्वसिद्धि प्राप्त करने के पश्चात् भी आचार-संहिता का पालन करते रहना चाहिए, अन्यथा उसकी देखा-देखी अन्य लोग भी सभी प्रकार के नियमों तथा धार्मिक आचारों का उल्लंघन कर, अपने आप को मुक्त कर लेंगे ।

(२४) क्रियाओं में भ्रान्ति

एक दम्पति महाराजश्री के दर्शन करने आए तथा बातचीत में उन्होंने कहा, "मेरी पत्नी के ध्यान में उसके गुरु महाराज आते हैं तथा कुछ अनुचित व्यवहार करते हैं।" महाराजश्री ने पूछा कि गुरु महाराज को मिले हुए कितना समय हो गया है । तो उत्तर मिला कि शादी के पश्चात् तो मिले ही नहीं । अब तो उनका शरीर भी शान्त हो चुका है ।

तब महाराजश्री ने कहा, "देखो, यह आप लोगों की भ्रांत धारणा है कि गुरु महाराज ध्यान में आते हैं । इसके कुछ पुराने, जाने कौनसे जन्म के संचित संस्कार साधन में उभरते हैं, स्मृति-वृत्ति को उदय करते हैं, चित्रवत् आकार धारण करते हैं जिससे इस प्रकार की अनुभूति होती है । कई प्रकार के संस्कार मिल कर, एक साथ भी उदय हो जाते हैं जिससे कई बार अन्तर्दृश्य उलझन भरा बन जाता है । यह शक्ति के द्वारा शुद्धिकरण की क्रिया के अन्तर्गत ही होता है, इसलिए साधक को घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है । एक समय ऐसा आ जाएगा जब संस्कार इस प्रकार का अनुभव करवाते हुए अपने वेग को समाप्त कर लेंगे, तब यह अनुभव होना भी बंद हो जाएगा । यदि इस अनुभव से भयभीत हुआ जाएगा, तो उतना ही संस्कारों के क्षय में विलम्ब होगा तथा उतने ही अधिक समय तक यह अनुभव घटित होता रहेगा । अत: निश्चिंत होकर द्रष्टाभाव से इस अनुभव को देखते रहो ।"

उस महिला ने कहा कि हमारे गुरु महाराज परम दयालु थे । हमें अपने बच्चों की तरह समझते थे । हर समय हमारे कल्याण के लिए प्रयासरत् रहते थे । उनसे इस प्रकार के व्यवहार की कल्पना भी नहीं की जा सकती, फिर उनके रूप में इस प्रकार अनुभव क्यों होता है ?

महाराजश्री ने कहा, "देखो बेटी, शक्ति के रहस्यों को समझ पाना जीव के वश की बात नहीं । कौन-कौन से संस्कार कैसे मिलकर, किस रूप में, कैसी क्रिया प्रकट करते हैं, उस क्रिया का क्या उद्देश्य है, कब तथा क्यों क्रिया को परिवर्तित कर देती है, यह वही जाने । कब, किसे, किस रूप में अन्तर में प्रकट कर देती है, यह जीव भला कैसे समझ सकता है ? जीव अल्पज्ञ है, शक्ति सर्वज्ञ है । साधक के अन्दर जो-जो कुछ भरा है, जो वासनाएँ गहरी जमीं हैं शक्ति सब से अवगत है । किस को कैसी, कितनी तीव्र क्रिया की आवश्यकता है, सब जानती है । उसके काम में हस्तक्षेप न करना ही साधक का कर्तव्य है ।"

महिला ने कहा, "मैं क्रिया में हस्तक्षेप नहीं कर रही हूँ । केवल समझने का प्रयत्न कर रही हूँ ।"

उत्तर– घबराना तथा इस प्रकार के अनुभव न होने की कामना, हस्तक्षेप नहीं तो क्या है ? रही समझने की बात, तो यदि शक्ति आप को समझाना आवश्यक समझेगी, तो बिना आप के कहे आप को समझा देगी । यह समझना-समझाना अन्दर की ही क्रिया है, बाहर तो

केवल बौद्धिक उपदेश मात्र होता है । आपको मैं इतना ही कह सकता हूँ कि इसमें चिन्तित होने की कोई बात नहीं । जब तक चित्त में संस्कार हैं, शक्ति आवश्यकतानुसार अनुभूति कराती रहेगी । संस्कार क्षय हो जाने पर अनुभूतियों का स्वरूप भी बदल जाएगा। समर्पण-भाव से देखते रहना, यही कर्त्तव्य है ।

उनके चले जाने के पश्चात् महाराजश्री ने कहा, "हम को ऐसे अनुभव बहुत हुए, ऊटपटांग, बेढंगे से, भ्रांति में डालने वाले तथा चित्त को विक्षिप्त कर देने वाले । कई बार हम भ्रांति में पड़ भी गए, किन्तु गुरु-कृपा से शीघ्र ही सँभल गए । साधक को बड़ी सावधानी की आवश्यकता है । हम भूत-योनि में विश्वास रखते हैं तथा ऐसे कुछ अनुभव भी हुए हैं, किन्तु मन सब से बड़ा भूत है । यह तरह-तरह के स्वांग रचने, डराने- धमकाने तथा कभी हितैषी बन जाने में निपुण है । बिगड़ा हुआ मन, जीव का सबसे बड़ा शत्रु है । सब दाँव-पेंच इसे वासनाएँ सिखाती हैं । भोला-भाला बेचारा जीव भ्रमित हो जाता है । जब मन अपनी स्वाभाविक अवस्था में आ जाता है, तो उसके समान कोई मित्र नहीं ।

मैंने कहा, "महाराजजी, मुझे जीवन की एक पूर्व घटना याद आ गई है । तब मैंने जवानी में अभी पाँव रखा ही था तथा एक आफिस में काम करने लग गया था । आफिस छूटने का समय हुआ तो साथियों ने सिनेमा चलने का प्रस्ताव रखा तथा सभी ने सहर्ष स्वीकार भी कर लिया किन्तु मैंने कहा कि घर के लोग परेशान होंगे, क्योंकि वापिस पहुँचते-पहुँचते दस बज जाएँगे । पिताजी के आफिस में टेलीफोन किया तो वह भी जा चुके थे । सब के जोर देने पर मैं साथ हो लिया ।

"वही बात हुई । वापिस पहुँचा तो रात के दस बज चुके थे । मैं बहुत डरा हुआ था कि आज खूब डाँट पड़ेगी । दरवाजा खटखटाने के लिए बार-बार हाथ बढ़ाता, किन्तु हिम्मत नहीं हो रही थी । अन्दर से पिताजी के जोर-जोर से नाराज होने की आवाज आ रही थी, जिन को सुनकर रही- सही हिम्मत भी जवाब दे रही थी । मैं वापिस लौट पड़ा । गली के मोड़ पर खड़ा होकर सोचने लगा कि आज डाँट से बचना मुश्किल है । पिताजी से मुझे बहुत डर लगता था, किन्तु फिर भी घर तो जाना ही पड़ेगा । जितनी अधिक देर होगी, उतनी ही समस्या अधिक विकट होती जाएगी । यह सोचकर लौट पड़ा । दरवाजा खटखटाने के लिए हाथ बढ़ाया तो वह खुला ही था । अन्दर जा कर देखा तो पिताजी अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में थे । मुझे देखते ही कहने लगे, " आ गया, आ गया, जल्दी से भोजन लगाओ ।" फिर मेरी ओर मुड़ कर बोले, "तुम यह नौकरी छोड़ दो । इतना काम करोगे तो स्वास्थ्य बिगड़ जायेगा । वापिस आने का कुछ तो समय होना चाहिए ।" अब मैं आश्चर्यचकित, पाषाण मूर्ति बना सोच रहा था कि अभी कुछ ही देर पहले, पिताजी को, जोर-जोर से नाराज होते स्वयं मैंने सुना था, किन्तु अभी नाराजगी का कोई निशान तक न था । भोजन भी अनमने मन से किया ।

"बाद में मैंने माताजी से पूछा कि क्या पिताजी नाराज़ हो रहे थे तो उन्होंने कहा, "नहीं तो । वह तो यह कह रहे थे कि यह नौकरी छुड़वा देंगे क्योंकि इसमें काफी देर तक काम करना पड़ता है । स्वास्थ्य के लिए यह ठीक नहीं ।" पिताजी को मैंने देर से आने का वास्तविक कारण बताया तो बड़े प्रसन्न हुए बोले - "अच्छा है तुम को अपनी गलती का एहसास तो है । यही बहुत है ।"

"इस प्रकार पिताजी का एक भयानक स्वरूप मेरे अन्दर उभरा, जबकि वास्तविकता ठीक इस के विपरीत थी । इस का तात्कालिक कारण तो था ही, कुछ पूर्व संस्कारों का भी हाथ रहा होगा ।" महाराजश्री बोले, "अवश्य होगा । संस्कार हमारे जीवन में घटित होने वाली घटनाओं में मुख्य भूमिका लिए होते हैं । तात्कालिक घटनाएँ हमारे सामने प्रत्यक्ष होती हैं, तो संस्कार अप्रकट, किन्तु यह भूमिगत् नदी के समान हैं जो कहीं भी बाहर फूट पड़ती हैं । हम बाहर प्रकट स्रोत को देखते हैं, भूमि के अन्दर निरन्तर प्रवाहित होने वाली नदी को नहीं ।

(२५) स्वार्थ विवेचन

आज शरद् पूर्णिमा थी । एक काफी बड़े बर्तन में दूध, चन्द्रमा की ज्योत्सना को आत्मसात् करने के लिए प्रांगण में रखा था । सिर पर टेकड़ी मानो सुसज्जित नर्तकी की भाँति, चन्द्रकिरणों की चमक से सुशोभित, मधुर नृत्य कर रही थी । चारों ओर भाँति-भाँति के पुष्प अलग छटा बिखेर रहे थे। सारा वातावरण आनन्द से भरा था। कुछ देर भजन-कीर्तन होता रहा । महाराजश्री भी खुले में ही एक कुर्सी पर विराजमान थे । चारों ओर से भक्त जन घेरे बैठे थे । आध्यात्मिक चर्चा आरंभ हो गई थी । महाराजश्री कह रहे थे-

"पुरुषार्थ की भाँति ही, व्यवहार तथा साहित्य ने भी स्वार्थ का अर्थ कुछ का कुछ तथा भाँति मूलक कर दिया है । जिस प्रकार पुरुषार्थ का अर्थ, पुरुष अर्थात् आत्मा के अर्थ है, उसी प्रकार स्वार्थ का अर्थ स्व अर्थात् अपने आप के अर्थ है । अब प्रश्न यह है कि हम स्व किसे मानते हैं । प्राय: अपने शरीर को ही अपना-आप माना जाता है ।

"शरीर के सुख-भोग के लिए, शरीर के रिश्ते-नातों के लिए, सुख-सुविधाएँ जुटाने की लोभ वृत्ति स्वार्थ है । स्वार्थी अपने स्वार्थ का ही हित-चिन्तन करता है । एक चोर या जेब कतरा कभी यह नहीं सोचेगा कि दूसरे व्यक्ति को कितनी असुविधा होगी । वह येन-केन प्रकारेण दूसरे का माल हड़प कर लेना चाहता है । जगत में प्राय: स्वार्थी, शरीफ लोगों की तरह रहते हैं तथा स्वार्थ-सिद्धि के लिए चालें चलते रहते हैं । कहने को सभी स्वार्थ की निन्दा करते हैं जब कि स्वयं आकण्ठ स्वार्थ में डूबे हैं । अध्यात्म तथा भक्ति की दृष्टि से स्वार्थ बहुत बड़ा अवगुण है । लोभ-वृत्ति का निम्नतम स्तर ही स्वार्थ कहा जाता है । स्वार्थी अपने एक रुपए के लोभ में, दूसरे का सौ रूपए का नुकसान करने में भी नहीं हिचकता ।

"यह आवश्यक नहीं कि स्वार्थ केवल धन का ही हो । सत्ता प्राप्ति, यश-प्राप्ति, विषय भोग, शरीर रक्षा आदि स्वार्थ के विषय हो सकते हैं । कलाकार, खिलाड़ी या विद्वान बनने का स्वार्थ भी हो सकता है । ईर्ष्या- द्वेष तथा घृणा आदि स्वार्थ की ही सहायक वृत्तियाँ हैं । एक बार यदि कोई स्वार्थ में धँस जाए तो धँसता ही चला जाता है । स्वार्थी को कभी भी संतोष नहीं होता । चाहे जगत की सारी सुविधाएँ उसके अधीन कर दी जाएँ फिर भी और-और की रट लगाए रहता है । अपने लिए तो स्वार्थी होना फिर भी समझ में आता है, किन्तु जब दूसरों के स्वार्थ पर कुठाराघात किया जाता है, तो स्वार्थ का कुत्सिततम रूप देखने को मिलता है ।

"जिनके पास अधिक सुख-सुविधाएँ होती हैं, उनसे स्वार्थी द्वेष करता है । जिनके पास अभाव होता है, उनसे घृणा करता है । जिनसे स्वार्थ सिद्धि की आशा होती है, उनके तलुए चाटता है । जिनसे सुख-साधन छिन जाने की संभावना होती है, उनसे भयभीत रहता है । वे लोग जो स्वार्थ सिद्धि में सहायक हो सकते हैं, उसके मित्र होते हैं । सारांश यह कि स्वार्थी का मन कभी शान्त नहीं रहता । सदैव किसी न किसी उधेड़बुन में ही लगा रहता है । इतने दुःख क्लेश तथा चंचलता होने पर भी, जगत स्वार्थियों से ही भरा है ।

"स्वार्थ एक ऐसी नदी के समान है जो किसी भी मौसम में सदा बाढ़ग्रस्त ही रहती है, एक ऐसा कुआँ है जो कभी भरने में नहीं आता, एक ऐसी भूख है जो कभी शान्त नहीं होती, एक ऐसी उजाड़ है जिसमें सदैव ही उल्लू बसे रहते हैं । मरुस्थल में खड़ी एक ऐसी सूखी झाड़ी के समान है, जिसके काँटे आने जाने वाले यात्रियों को चुभते रहते हैं । एक ऐसा लोटा है जिसके पेंदे में छेद है तथा जल सदैव बाहर रिसता रहता है । अधिक क्या कहा जाय, स्वार्थ एक ऐसा भँवर है जो कई नावों को अपने पेट में समा चुका है । स्वार्थ की आँधी का वेग इतना तीव्र है कि जो लोग इसके साथ उड़ना चाहते हैं, वह तो उड़ ही रहे हैं, जो नहीं उड़ना चाहते उनके लिए भी संभल पाना कठिन है । सारा संसार ही स्वार्थ रूपी अग्नि में झुलस रहा है ।"

प्रश्न– जगत निस्वार्थ-भाव का आदर नहीं करता । सामान्यत: यही मान्यता है कि आज कोई निस्वार्थी हो ही नहीं सकता । सेवा-धर्म अत्यन्त कठिन हो गया है ।

उत्तर– सेवा-धर्म हर युग में ही कठिन रहा है, किन्तु साधक के समक्ष जगत आदर्श नहीं होता वरन् अन्तर जाग्रत शक्ति होती है जो पूर्णतया निस्वार्थ है । किन्तु साधक को आदर्श सामने रखकर, व्यवहार तो जगत में ही करना होता है । जिस प्रकार दो विपरीत बिन्दुओं का मेल नहीं हो सकता, उसी प्रकार स्वार्थ भाव तथा निस्वार्थ भाव का भी एक स्थान पर रह पाना असंभव है । या तो किसी चित्त में स्वार्थ भाव होगा, या निस्वार्थ भाव । निस्वार्थ भावी सेवक के मार्ग में कितनी भी कठिनाइयाँ तथा अवरोध उत्पन्न हों, किन्तु उसके

भाव को प्रभावित कर पाना सरल नहीं । हाँ, यदि किसी ने निस्वार्थ-भाव का मिथ्या आवरण ओढ़ रखा हो तो बात दूसरी है । फिर तो निस्वार्थता का ढोंग ही है ।

प्रश्न– जब प्रवाह ही स्वार्थमय है तो निस्वार्थता कैसे संभव है ?

उत्तर– कठिन तो है पर असंभव नहीं । इसके लिए उदारता तथा सहनशीलता की नितान्त आवश्यकता है । साधकों का मार्ग कष्टपूर्ण तो है ही । निस्वार्थ साधक तथा सेवक को चाहे कितनी भी समस्याओं का सामना करना पड़े किन्तु उसका मन शान्त तथा आनन्दित रहता है । लोग उसका अपमान करते हैं, तरह-तरह के नाम रखते हैं, निस्वार्थ भाव से डिगाने का प्रयत्न करते हैं किन्तु साधक सभी बातों को समुद्र की लहरों की भाँति निहारता रहता है तथा उदारमन से सब को क्षमा करता है । जगत में रहकर, जगत से अलग रहने का यही तो मार्ग है । कमल की उपमा तो सभी देते हैं किन्तु इस बात का रहस्य कोई निस्वार्थी ही जान पाता है ।

प्रश्न– जब चैतन्य में स्वार्थ नहीं है तथा जीव का वास्तविक स्वरूप चैतन्य है, तो यह स्वार्थपरता कैसे आ गई ?

उत्तर– भ्रम से, आसक्ति से, संस्कारों से । वास्तविक स्वरूप तो निस्वार्थमय ही है पर निज स्वभाव तथा स्वरूप को भूलकर, जीव स्वार्थपरायण हो गया है । आसक्ति रूपी क्लेश तथा संस्कार रूपी आवरण इस भ्रम को और भी अधिक घनीभूत कर देते हैं । तब जीव का स्वरूप स्वार्थमय दिखाई देने लगता है ।

संतों के स्वभाव में सर्वथा स्वार्थ का अभाव होता है । कबीर, मीरा, सूर, तुका, ज्ञानेश्वर किसमें स्वार्थ था ? सभी का जीवन परमार्थमय तथा परार्थमय था । यदि कहा जाय तो संत वही है जिसमें स्वार्थ नहीं हो ।

निस्वार्थी का निज-स्वरूप अथवा अपना आप, आत्मोन्मुखी होता है । इसलिए उसका स्वार्थ भी निज-स्वरूप की प्राप्ति ही होता है । जहाँ जगत, स्वार्थ का अर्थ शरीर के लिए करता है, अध्यात्म, परमार्थ को ही स्वार्थ कहता है । शब्द एक होते हुए भी भाव में कितना अन्तर आ गया है । इस प्रकार क्रम से स्वार्थ के अर्थ इस प्रकार हुए-

(१) जगत का स्वार्थ- शरीर को लक्ष्य करके

(२) निंस्वार्थ— शरीर के स्वार्थ को हटाने का प्रयत्न

(३) अध्यात्म का स्वार्थ— आत्म-प्राप्ति की जिज्ञासा, परमार्थ ही सच्चा स्वार्थ ।

जगत् का स्वार्थ यदि वासना की उष्णता है, तो निस्वार्थता उससे बचने का प्रयास, जब कि अध्यात्म का स्वार्थ उस शीतल छाया के समान है, जिसमें आते ही यात्री सुख तथा शान्ति का अनुभव करता है । निस्वार्थ भाव तथा समर्पण, यदि देखा जाए तो एक ही सिक्के

के दो पक्ष हैं, केवल भाव का ही अन्तर है । पुरुषार्थ को भी इसी कोटि में लिया जा सकता है क्योंकि वास्तव में समर्पण तथा निस्वार्थता ही पुरुषार्थ है । इन सब का लक्ष्य एक ही है, आत्मस्थिति, इसीलिए स्व तथा पर उपसर्गों का प्रयोग है ।

सच्चा स्वार्थ ही साधक का धन है । सच्चा स्वार्थ ही वह शस्त्र है जिससे अन्तर-रिपुओं का संहार संभव है । सच्चा स्वार्थ ही वह औषधि है जो भवरोग को जड़-मूल से नष्ट कर देती है । सच्चा स्वार्थ ही वह फुलवाड़ी है जिसमें भाँति-भाँति के पुष्पों की सुगंध व्याप्त है । सच्चा स्वार्थ गंगा की पवित्र धारा है जिसमें सब पाप धुल जाते हैं । सच्चा स्वार्थ ही साधन का वह स्तर है, जहाँ से लौट कर दोबारा जगत में नहीं आना पड़ता ।

किन्तु अन्त में फिर से मैं याद करवा दूँ कि सच्चा स्वार्थ कोई विरला ही पा सकता है । शरीर का स्वार्थ इतना प्रभावशील हो गया है कि उसके वेग में मनुष्य का सारा विवेक बह जाता है ।

प्रश्न– इसका अर्थ यह हुआ कि इस दिशा में मनुष्य का सारा श्रम बेकार है क्योंकि प्राप्त तो कोई विरला ही कर सकता है ।

उत्तर– नहीं । इसका यह अर्थ नहीं । जो मैंने यह कहा कि कोई विरला ही इसको प्राप्त करता है, वह सच्चे स्वार्थ की पूर्ण अवस्था को ध्यान में रखकर कहा गया । ज्यों-ज्यों मनुष्य इस अवस्था की दिशा में आगे बढ़ता जाता है, उसका मन शान्त तथा दु:खानुभूति से दूर होता जाता है । आत्म स्थिति प्राप्त करना सब के लिए सरल नहीं, किन्तु चित्त की ऐसी निस्वार्थ अवस्था भी कोई प्राप्त कर ले तथा थोड़ी सी बात में उसका मन विचलित नहीं हो जाए, तो वह बहुत बड़े दु:ख से मुक्त हो सकता है ।

(२६) शुद्ध तथा अशुद्ध स्वार्थ

अगले दिन प्रात: भ्रमण के समय मैंने महाराजश्री से उसी विषय पर प्रश्न किया, "जगत् की स्वार्थ-वृत्ति तथा आत्मिक स्वार्थ-सिद्धि में शक्ति की क्या भूमिका है ?"

महाराजश्री बोले, "शक्ति जगत स्वार्थ को ही नहीं, उसके कारण को ही समाप्त कर देती है । जाग्रति के पश्चात् उस के समक्ष संस्कार आते हैं, स्वार्थ का कारण भी संस्कार ही हैं । संस्कार ही वासना का रूप ग्रहण कर चित्त -वृत्ति को तरंगित करते हैं, संकल्पात्मक मन को उदय करते रहते हैं । अत: स्वार्थ-निवृत्ति के क्रम में संस्कार-क्षय ही समस्या होती है । कोई इसे वासना क्षय कहता है तो कोई संस्कारों का शुद्धिकरण । वैसे देखा जाय तो वासना संस्कारों का ही परिणाम है । इसलिए वासनाक्षय में संस्कारों का शुद्धिकरण भी सम्मिलित है ।

अब स्वार्थ को एक अन्य दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हैं, अशुद्ध स्वार्थ तथा शुद्ध स्वार्थ । अशुद्ध स्वार्थ जगत का स्वार्थ है जिसमें मन जगत के प्रति वासनाओं, राग-द्वेष तथा ईर्ष्या, प्रतिशोधात्मक भावनाओं, मद, क्रोध तथा अभिमान से भरा होता है । किसी का बुरा करने में मन संकोचहीन होता है । धन, यौवन तथा सत्ता का गर्व होता है । यह सभी अशुद्ध स्वार्थ के लक्षण हैं । इसके विपरीत शुद्ध-स्वार्थ में जगत के प्रति वासनाएँ, राग-द्वेष, ईर्ष्या, प्रतिशोध की भावनाएँ इत्यादि निवृत्त हो जाती हैं । उसके स्थान पर आत्म-प्राप्ति की जिज्ञासा, जगत के प्रति वैराग्य, प्रभु प्रेम तथा विरह की तड़प, सहनशीलता, क्षमाशीलता, दयाभाव, निर्वैरता आदि सद्गुण प्रकट हो जाते हैं । अशुभ स्वार्थ सदा-सदा के लिए जीव को जलाता रहता है तथा शुभ स्वार्थ आत्म-स्थिति उपलब्ध हो जाने पर, सद्गुणों को भी साथ लेकर, आत्मतत्व में विलीन हो जाता है ।

शक्ति की क्रियाओं तथा सेवा-कर्म के आश्रय से, अशुद्ध स्वार्थ के संस्कार क्षीण होकर पहले शुद्ध संस्कारों की वृद्धि करते हैं, जिससे उपरोक्त सद्गुण प्रकट होते हैं । फिर शक्ति अपनी क्रियाओं से ही, इन सद्गुणों का भी भक्षण करती है तथा अन्त में अपने आप को आत्मतत्व में विलीन कर देती है ।

प्रश्न– किन्तु व्यावहारिक तथा क्रियात्मक दृष्टि से ऐसा परिणाम कम ही देखने को मिलता है । संसारियों की तो बात छोड़िये, साधक वर्ग भी जो नित्य प्रति साधन करते हैं, उनके कहे अनुसार उन्हें उच्च अनुभूतियाँ भी होती हैं, किन्तु उनके चित्त की अवस्था ठीक इसके विपरीत होती है । क्रोध, अभिमान राग, द्वेष, घृणा आदि कुवृत्तियों से मन पूरी तरह आच्छादित होता है । सहनशीलता, क्षमाशीलता तथा उदारता नाम को भी नहीं होती । छोटी सी बात में ही रुष्ट हो जाते हैं । घटनाएँ पत्थर पर पड़ी रेखा की तरह उन के चित्त पर अमिट छाप छोड़ जाती है । बात कुछ समझ में नहीं आती । एक ओर तो साधन का आनन्द दूसरी ओर चित्त की यह अवस्था ?

उत्तर– यह तो मैं कह ही चुका हूँ कि कोई विरला ही प्रभु के प्रेम-नगर में प्रवेश कर पाता है । अन्तर यात्रा का आरंभ तो कई करते हैं किन्तु पहुँच कोई भाग्यशाली ही पाता है । अधिकांश तो पहुँचने से पहले ही मिट्टी में मिल जाते हैं । मैंने जो बातें कहीं वह शक्ति का सामान्य विकास क्रम है । उसे क्रिया रूप में परिणित होने का अवसर प्रदान करना, साधक का कर्तव्य है, उत्तरदायित्व है । यह भी कहा जा चुका है कि वासनाएँ, संस्कार तथा स्वार्थ, एकदम पीछा छोड़ने वाले नहीं हैं, वह मर-मर कर फिर जी उठते हैं । अदृश्य होकर फिर प्रकट हो जाते हैं । माया का यही तो खेल है । सूखे रेगिस्तान में विकारों की फसल एकदम लहरा उठती है । साधक, अपने साधन में तल्लीन होता है, किन्तु स्वार्थ, अन्दर ही अन्दर उसकी जड़ खोखली करने में लगा होता है । पर साधक की, यह असावधानी ही होती है ।

गीता में कहा गया है कि भक्त दक्ष होता है । दक्षता यही है कि साधन-पथ पर आगे भी बढ़ा जाए तथा अन्तर रिपुओं से सावधान भी रहा जाये । प्राय: साधक इधर से असावधान हो जाते हैं ।

साधन-यात्रा के समानान्तर एक दूसरी यात्रा और होती है जो कि वास्तव में साधन यात्रा का ही एक अंग है, उसका नाम है प्रारब्ध यात्रा । साधक का एक पाँव साधन यात्रा में होता है तो दूसरा प्रारब्ध यात्रा में । जब तक दोनों पाँव एक साथ क्रम-क्रम से आगे नहीं बढ़ते तब तक अध्यात्म यात्रा की दूरी तय नहीं हो सकती । प्राय: साधक, साधन यात्रा में रुचि रखते हैं किन्तु प्रारब्ध यात्रा की ओर से उदासीन बने रहते हैं । एक पाँव आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है, किन्तु दूसरा वासना तथा स्वार्थ रूपी पत्थर से बँधा ऊपर उठना ही नहीं चाहता । परिणाम होता है कि चित्त की स्थिति विकारमय बनी रहती है ।

यदि देखा जाए तो प्रारब्ध यात्रा दूसरी साधन-यात्रा से भी कहीं कठिन है, क्योंकि इसमें पाँव बार-बार यात्रा पथ बदलने का प्रयत्न करता रहता है । यदि पाँव थोड़ा भी दूर हो जाता है तो उसी अनुपात से, साधन यात्रा वाला पाँव भी पथ से खिसक जाता है । जितना साधन यात्रा का प्रभाव प्रारब्ध यात्रा पर पड़ता है, उससे भी कहीं अधिक प्रभाव प्रारब्ध यात्रा का साधन-यात्रा पर होता है । प्रारब्ध यात्रा में मार्ग में पड़े पत्थरों को साफ भी करना है तथा नए गिरने वाले पत्थरों को गिरने से रोकना भी है । यह कार्य सहज नहीं, किन्तु अध्यात्म पथ में आगे बढ़ने के लिए यह परम आवश्यक है । प्राय: साधक इस महत्वपूर्ण कार्य की उपेक्षा कर जाते हैं या लाख प्रयत्न करने पर भी कर नहीं पाते ।

मैं बार-बार इस बात को समझाने का प्रयत्न करता हूँ कि अध्यात्म पथ पर चल पाना सरल कार्य नहीं है । कोई वीर पुरुष ही, जिसने सिर-धड़ की बाजी लगा रखी हो, इस पर बढ़ सकता है, अन्यथा छोटा सा व्यवधान उपस्थित होने पर ही चित हो जाते हैं । मुझे कितनी कठिनाइयाँ आईं तथा उनका सामना करने के लिए कैसी-कैसी मुश्किलों से होकर निकलना पड़ा, यह मैं ही जानता हूँ । उनका बखान करना आत्मश्लाघा प्रतीत होता है, अत: उन का वर्णन नहीं करना ही ठीक है ।

महाराजश्री बोले जा रहे थे, मैं दत्तचित्त उनकी बातें सुन रहा था कि सहसा पूर्व आश्रम की एक घटना मेरे चित्त में उभर कर प्रकट हो गई । उसने मुझे स्मरण करवा दिया कि जीवन यदि आध्यात्मिक हो तो कितना कठिन होता है ।" यह घटना भी हिमाचल प्रदेश में मार्ग भटक जाने की है । हम पाँच- छ: लोग एक सड़क पर चले जा रहे थे । वह लोग कुछ ऐसी बातें कर रहे थे, जिसमें मुझे कोई रुचि नहीं थी । इसलिए मैं उन लोगों से काफी पीछे, मन ही मन जप करता चल रहा था । जप में कुछ ऐसा मन लग गया था कि और किसी बात का ध्यान ही न रहा । उधर बाकी के लोग भी अपनी बातों में इतने तल्लीन थे कि वे पीछे

मुड़कर, मेरी ओर देख ही नहीं रहे थे । एक जगह सड़क छोड़कर, पहाड़ी पगडण्डी पर घूम जाना था । सब लोग तो पगडण्डी के रास्ते मुड़ गए किन्तु मेरा ध्यान जप में लगा रहा तथा पगडण्डी पर घूम जाना छूट गया । मैं सड़क पर सीधा चलता गया । कोई घण्टे भर बाद होश आया तो मैं तीन-चार मील आगे जा चुका था । अँधेरा होने को आ गया था । वापिस लौटने का समय नहीं था । एक व्यक्ति मिला तो उसे बताया कि मैं रास्ता भटक कर, यहाँ आ गया हूँ, अमुक गाँव जाना है । उसने बताया कि यदि रास्ते-रास्ते जाओगे, तो यहाँ से पाँच- छः मील है, किन्तु रात होने को है, जंगल में रात्रि-यात्रा उचित नहीं । वैसे सामने जो पहाड़ खड़ा है, उसके दूसरी ओर वह गाँव है । यदि पहाड़ लाँघने की हिम्मत जुटा सको तो कुछ दूर नहीं ।

"मैंने थोड़ी देर विचार किया, अपने साहस को टटोला तथा पहाड़ चढ़ जाने का निर्णय लिया । उस समय युवावस्था थी, शरीर में शक्ति एवं स्फूर्ति थी, किन्तु फिर भी चढ़ाई एकदम सीधी, वृक्षों-झाड़ियों से ढकी हुई, अंधेरा घुप, साँप बिच्छू का भय, कोई रास्ता नहीं । काम तो कठिन था, किन्तु मैंने चढ़ना आरंभ कर ही दिया । उन दिनों मैं पैंट तथा बुशर्ट पहना करता था, पाँवों में बूट । बस एक ही धुन पहाड़ चढ़ने की । पेड़ों को पकड़ता हुआ, बन्दर की तरह एक डाल से दूसरी पर, संभलता गिरता-पड़ता चढ़ता ही गया । जंगल घना होने से चंद्रमा की एक भी किरण पेडों को चीरती हुई, पृथ्वी पर नहीं पड़ रही थी । गहन अन्धकार में ही यह प्रयत्न चल रहा था । कोई आधा घण्टा चढ़ाई चढ़ने के पश्चात् मैं चोटी पर पहुँचा तो चन्द्र दर्शन हुआ । चन्द्रमा की ज्योत्सना में दूसरी ओर का दृश्य भी स्पष्ट दिखाई दे रहा था । नीचे कहीं-कहीं लैम्प टिमटिमा रहे थे । धान की क्यारियाँ, चन्द्रमा के दूधिया प्रकाश में स्नान किए हुए प्रकाशित हो रही थीं । यह मनोहरी दृश्य देखकर सारी थकावट दूर हो गई । दस-पाँच मिनिट तक मैंने उस दृश्य का आनन्द लिया, फिर उतरना शुरू कर दिया किन्तु उतरना चढ़ने से भी कठिन प्रतीत हुआ । किसी प्रकार उतर तो गया परन्तु मेरा पाँव धान की क्यारी में चले जाने से फिसल गया । आप जानते हैं कि धान के खेत में कीचड़ होता है । मैं कीचड़ से लथपथ एक भूत की तरह दिखाई दे रहा था । किसी तरह उस गाँव पहुँच गया ।

"साधन भी ऐसे ही अंधकार में पहाड़ चढ़ने के समान है । भ्रांति, अभिमान, काम, क्रोध, लोभ तथा स्वार्थ का गहन अंधकार, वासनाओं के रूप में हिंसक पशु, रास्ता कहीं दिखाई नहीं देता । कभी जप रूपी डाल को पकड़कर, कभी अध्ययन, भजन- कीर्तनादि का सहारा लेकर सीधी चढ़ाई चढ़ना होती है । पाँव फिसला कि हजारों फुट नीचे । कितनी कठिन चढ़ाई है साधन करना । जाग्रति के उपरान्त कुछ सुविधा अवश्य हो जाती है किन्तु संकट तथा कठिनाई तो फिर भी बने ही रहते हैं ।

महाराजश्री बोले, "ठीक कहा तुमने । साधना ऐसी ही संकट भरी यात्रा है । कोई ही इधर ध्यान देता है, उन में से भी कोई ही चढ़ाई शुरू करता है तथा कोई एकाध ही चोटी पर

चढ़ पाने में सफलता पाता है । इस यात्रा में सब से बड़ी बाधा प्रारब्ध है । साधक ने चढ़ना शुरू किया कि प्रारब्ध ने टाँग खेंची । एक आश्रम में मैं ठहरा हुआ था, तब देवास का आश्रम नहीं बना था । जहाँ कोई साधु होता है, लोग उसके पास आते ही हैं । उस आश्रम के महाराज को लोगों का मेरे पास आना अच्छा नहीं लगा । रात के समय उन्होंने मुझे आश्रम से चला जाने को कह दिया । बड़ा क्रोध आया । तुम जानते ही हो, क्रोध कितना बड़ा विघ्न है किन्तु मैंने इसे प्रारब्ध का खेल समझ कर मान लिया, मन को समझा लिया । यदि मैं क्रोध के वशीभूत हो जाता तो उसके संस्कार तो संचय हो ही जाते, कई दिनों के लिए साधन का क्रम भी रुक जाता । ऐसी घटनाएँ जीवन में पग-पग पर आती हैं । साधक उनमें बह जाता है । उसे ध्यान भी नहीं रहता कि वह साधक है । व्यवहार में, खान-पान में, आने-जाने में, उसका साधक का स्वरूप सदैव बना रहना चाहिए, जिसको साधक प्रायः नहीं रख पाते । कई लोग क्रोध को साधकों का आभूषण कहते हैं वह आभूषण किस काम का, जो रूप को ही बिगाड़ कर रख दे ।

यदि कोई सफाई करने वाला आए तथा आप बैठे ही रहें तो वह आपके नीचे की जगह की सफाई कैसे करेगा ? उठकर आपको जाना ही पड़ेगा । जगह को सफाई के लिए खाली कर जाना ही समर्पण है । साधक का चित्त अभिमान तथा स्वार्थ से आच्छादित है । अपने अभिमान को थोड़ी देर के लिए द्रष्टाभाव में स्थित कर देना, मन को अभिमान रहित करना, तभी शक्ति आपके चित्त की सफाई कर पाएगी । केवल इतना ही नहीं, आप के चित्त को अनुभव का धरातल भी प्रदान करेगी । यही साधन है ।

जब साधक, साधन से उतर कर व्यवहार में आता है तो वही गलती कर जाता है । उसका अभिमान, कर्त्ताभाव तथा स्वार्थ पुनः उग्र रूप धारण कर खड़े हो जाते हैं तथा उसके व्यवहार तथा दृष्टिकोण में उनकी छाप स्पष्टतया देखी जा सकती है । वह पुनः अपने कर्म-फल का स्वयं उत्तरदायी बन जाता है । फिर से संस्कार संचय होने लगते हैं । साधन-समय का कमाया, सब चौपट हो जाता है । इस प्रकार उसका अर्जित आध्यात्मिक विशेषत्व समाप्त हो जाता है । मानो साधक का दोहरा व्यक्तित्व हो- एक साधक का, एक संसारी का । साधन समय वह देवत्व धारण किए होता है तो साधन से इतर समय में उसका राक्षस रूप प्रकट हो जाता है । साधन समय वह मन में पड़ी गाँठें खोलता है, दूसरे समय कसता है ।

इस दोहरे व्यक्तित्व के कारण ही साधन-अध्यात्म में उन्नति नहीं होती । फिर साधक उन्नति न हो पाने की शिकायत करता है तथा उसका कारण साधन में किसी कमी को खोजता है । जब तक जीवन का प्रत्येक क्षण तथा किया जाने वाला प्रत्येक कर्म, उदय होने वाला प्रत्येक भाव, साधनामय नहीं होगा, तब तक उन्नति की कल्पना दिवा-स्वप्न-मात्र है ।

(२७) परिवर्तनशील जगत

महाराजश्री आजकल प्रातः भ्रमण के लिए टेकड़ी पर जा रहे थे। उन दिनों की टेकड़ी आज से बहुत भिन्न थी। न कोई सड़क, न वृक्ष और न ही बिजली। देवास ही भारत का एकमात्र ऐसा नगर था जहाँ दो राजाओं का निवास था। बड़ी पाती तथा छोटी पाती के नाम से नगर के दो भाग कर दिए गए थे। टेकड़ी आधी-आधी बँटी हुई थी। छोटी माता का मन्दिर बड़ी पाती में था, तो बड़ी माता का मन्दिर छोटी पाती में। टेकड़ी पर ऊपर जाने का सीढ़ियों का रास्ता बड़ी पाती में था तो सड़कनुमा मार्ग छोटी पाती में किन्तु रियासतों के विलीनीकरण के साथ, हाल ही में यह विभाजन भी समाप्त हो गया था तथा देवास एक जिला बन चुका था। उस समय का नगर एक बड़े गाँव जैसा था जिसकी जनसंख्या लगभग बारह- चौदह हजार थी।

हम टेकड़ी के ऊपर पहुँच चुके थे। महाराजश्री देवास नगर की ओर मुँह किए खड़े थे। बोले, "जगत कितना परिवर्तनशील है। कभी यहाँ दो रियासतें थीं, आज एक जिला है। नई-नई सीमाएँ बनती हैं, टूटती हैं। जगत में कोई सीमा नहीं, सभी काल्पनिक है। कल्पना के साथ सीमाएँ भी बदल जाती हैं। नए-नए देश उभरते हैं, विलीन हो जाते हैं। नए-नए सम्प्रदाय पैदा होते हैं, समाप्त हो जाते हैं। नए-नए सिद्धान्त, परम्पराएँ तथा भाषाएँ प्रकट होती हैं तथा कुछ समय के पश्चात् उनका अस्तित्व इतिहास के पन्नों में ही रह जाता है। एक रेखा खेंच दी जाती है, देश घोषित कर दिया जाता है। उसे पवित्र मान कर लोग, देशभक्ति की भावना से उस पर अपने प्राण न्यौछावर करने के लिए तैयार हो जाते हैं। एक सिद्धान्त घड़ कर, उसके नियम तथा व्यवस्था बनाकर धर्म का नाम दे दिया जाता है। लोग उस पर आसक्त हो जाते हैं, मर मिटने को उद्यत हो जाते हैं। किन्तु एक समय ऐसा आता है जब वह देश तथा धर्म, वह भाषा तथा संस्कृति, सब समाप्त हो जाते हैं। काल-चक्र घूमते रहने से उसमें से नए-नए देश, भाषाएँ, धर्म, परम्पराएँ, सिद्धान्त तथा विचार धाराएँ, कलाएँ एवं संस्कृतियों का उदयास्त होता रहता है लोग अपना-अपना देश, भाषा, धर्म सब कुछ बाँट लेते हैं। धर्मग्रन्थों तथा महापुरुषों का भी विभाजन हो जाता है। कालचक्र घूमता है, न वह लोग रहते हैं, न वह श्रद्धा तथा मान्यताएँ। सब कुछ बदल जाता है। इसीलिए संभवतः जगत को एक नाटक की उपमा दी जाती है। नए-नए कलाकार आते हैं, अपना अभिनय दिखाते हैं, फिर नेपथ्य में चले जाते हैं। बाकी रह जाती है क्षण भर के लिए तालियों की गड़गड़ाहट, वह भी वायु-मण्डल में विलीन हो जाती है।

"जब यहाँ रियासतें थीं तो राज परिवारों का वर्चस्व था। उनकी भाषा राजभाषा थी। उनकी सभ्यता जन समाज की सभ्यता थी। उनके खान-पान तथा पहरावे का जनता पर प्रभाव था, उनके पास सत्ता थी, विशेष स्थान था। आज वह सामान्य व्यक्ति की पंक्ति में

आकर खड़े हो गए हैं । हिटलर का भी एक युग था । दुनिया उसके नाम से काँपती थी । जिस देश की ओर उंगली उठा देता था, वह देश उसके आगे समर्पित हो जाता था । फिर वह दिन भी आया जब हिटलर की लाश भी नहीं मिली । व्यक्ति, देश, भाषा तथा कलाकार बदलते रहते हैं । जगत चलता रहता है । कभी समय था जब अंग्रेजी राज्य में कभी सूर्यास्त नहीं होता था ।

"कहते हैं कभी सारी पृथ्वी एक ही भूखण्ड थी । धीरे-धीरे एशिया, अफ्रीका, अमेरिका आदि खण्डों में विभक्त हो गई । अनेक टापू समुद्र-तल से प्रकट हो गए । यह भी कहते हैं कि जहाँ आज हिमालय सिर ऊँचा किए खड़ा है, वहाँ कभी संसार का सबसे गहरा समुद्र हिलोरें लेता था । कभी दक्षिण ध्रुव की बर्फ पिघल जाती है तो कभी उत्तरी ध्रुव की । किसी समय गंगाजी पानीपत के समीप समुद्र में गिरती थी । सारा राजस्थान समुद्र था । जगत परिवर्तनशील है । कोई बड़ा परिवर्तन अकस्मात् घट जाता है तो दिखाई दे जाता है, अन्यथा परिवर्तन प्रतिक्षण हो रहा है ।

"परिवर्तनशीलता प्रकृति का गुण है । जगत की भाँति ही शरीर में भी परिवर्तन होता रहता है । पहले तो मनुष्य में ही कई रंग, आकार, कद, भाषा आदि देखने में आते हैं । कोई बरफानी प्रदेशों में रहने के अभ्यस्त हैं जो गरमी में नहीं रह सकते । कई गरम प्रदेश के वासी हैं जो ठण्ड सहन नहीं कर सकते । फिर मनुष्य के अपने शरीर में भी परिवर्तन होता रहता है । बच्चा, जो पता नहीं कहाँ से आकर प्रकट हो जाता है, एक ही दिन में युवक नही बन जाता । बच्चे से युवक बनने की प्रक्रिया धीरे-धीरे घटित होती है । नित्य प्रति घटित होने वाला परिवर्तन हमारी दृष्टि में नहीं आता । युवक भी एक दिन में वृद्ध नहीं हो जाता । हाँ, मृत्यु कभी भी आ सकती है । जैसे कोई अपनी कला का प्रदर्शन कर एकदम नेपथ्य में चला जाता है । मृत्यु स्वयं में एक परिवर्तन होते हुए भी, जीवन में घटित होने वाली परिवर्तनशीलता का पटाक्षेप है । इसके अतिरिक्त भी शरीर में कभी अधिक शक्ति, कभी शक्तिहीनता, कभी रोग तो कभी निरोगता, कभी भूख तो कभी नीद, कभी आलस्य तो कभी स्फूर्ति । इस प्रकार शरीर की दशा भी एक समान नहीं रहती ।

"जगत तथा शरीर की भाँति चित्त भी प्रकृति का ही अंग है । शरीर जगत का संक्षिप्त स्वरूप है । चित्त ही फैलकर स्थूल शरीर के रूप में सामने आता है । अन्तर केवल इतना है कि जगत तथा शरीर स्थूल होने से दिखाई देते हैं, जबकि चित्त सूक्ष्म होने से दृष्टिगोचर नहीं होता । जहाँ तक परिवर्तनों का प्रश्न है, वह जगत तथा शरीर की ही भाँति चित्त में भी घटित होते रहते हैं । चित्त-स्थिति सदैव बदलती ही रहती है । कभी तमोगुण प्रभावी हो जाता है तो कभी, प्रमाद, आलस्य, काम, क्रोध, निद्रा आदि का प्रकोप बढ़ जाता है । कभी रजोगुण की वृद्धि हो जाती है तो जगत में भागदौड़ आरंभ हो जाती है । कभी सत्वगुण का आधिपत्य

स्थापित हो जाता है तो पूजा-पाठ तथा सद्कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है । तब चित्त में शान्तता, दयाभाव, सहनशीलता, उदारता तथा गम्भीरता आदि सद्लक्षण प्रकट हो जाते हैं । जगत तथा शरीर की भाँति ही चित्त में भी गुणों की अवस्था सदैव बदलती रहती है । कभी समावस्था नहीं आती । यदि कभी ऐसी अवस्था आ जाए तो शरीर, जगत तथा चित्त का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है ।

"चित्त की अवस्था-परिवर्तन में वासनाओं तथा संस्कारों का बड़ा हाथ है । वैसे शक्ति, चित्त के आधार पर सदा स्पंदनशील बनी रहती है, किन्तु स्पंदनशीलता को तीव्रता प्रदान करना अर्थात् आन्दोलित कर देना तथा उसे एक दिशा में मोड़ देना वासनाओं का काम है । शक्ति का यह आन्दोलन, वृत्तियों के रूप में प्रकट होता है । वृत्तियों के असंख्य प्रकार, रूप तथा स्तर हैं । काम, क्रोध, लोभ तथा ईर्ष्या, द्वेष आदि अनेक प्रकार की वृत्तियाँ हैं । प्रेम-वृत्ति के विभिन्न स्तर हैं । यह वृत्ति यथार्थ ज्ञान उदय होने पर होती है, गलत धारणा होने पर भी तथा आधारहीन भ्रान्तिवश भी । जब चित्त में एक भाव उदय होता है तो अन्य भाव दब जाते हैं । चित्त जितनी शीघ्रतापूर्वक भाव तथा अभिमुख विषय परिवर्तित करता रहेगा उतना ही अधिक चंचल कहा जाता है । चंचलता का अर्थ है परिवर्तनशीलता पर लक्ष्य स्थिर करने का प्रयत्न । शक्ति-आन्दोलन का प्रकट स्वरूप जगत तथा शरीर है, जितना इन पर लक्ष्य अधिक होगा उतना ही चित्त अधिक चंचल होगा ।

"चित्त में क्रोध का परिणाम होने पर प्रायः क्रोध के लक्षण चेहरे पर उभर आते हैं । कुछ लोग क्रोध को अन्दर ही अन्दर दबा देते हैं, किन्तु फिर भी चित्त में परिवर्तन तो होता ही है । यही बात अन्य वृत्तियों, भावों तथा चित्त-परिणामों के विषय में भी कही जा सकती है । चित्त-परिणाम से जगत प्रभावित होता है तथा शरीर प्रभाव के अनुसार इन्द्रियाँ जगत में क्रियाशील हो जाती हैं । कभी चित्त-परिणाम जगत को प्रभावित करते हैं, तो कभी जगत, चित्त में व्याप्त वासना को उभार कर चित्त को प्रभावित करता है । शरीर ही जगत को चित्त से जोड़ने वाली कड़ी है ।

"जगत, शरीर तथा चित्त लहरों के समान हैं । लहर उठती है, आकृति बनती है, विलीन हो जाती है । शरीर जगत में प्रकट होता है, कभी शिशु, युवा तथा वृद्ध आकार धारण करता है तथा विलीन हो जाता है । चित्त में वृत्तियाँ, भाव, विचार, संकल्प, उदय होते हैं, विलीन हो जाते हैं । अध्यात्म इन परिणामों, परिवर्तनों तथा लहरों से अपने-आप को हटा लेने का नाम है । लहरों में उलझा जीव, लहरों के साथ ही ऊपर- नीचे होता रहता है तथा लहरों के अनुरूप रूप धारण करता रहता है । जब एक लहर हटती है तो दूसरी उभर आती है तथा जीव उसमें उलझ जाता है । जगत शक्ति का आन्दोलन तथा तीनों गुणों की विषमता का परिणाम तो है, किन्तु जीव की मुख्य समस्या जगत नहीं, चित्त का आन्दोलन तथा

विषमता है । उसी के कारण जीव जगत को पकड़े बैठा है । उसी के कारण जगत की लहरों में उलझता है, उसी के कारण अपनी यथार्थ स्थिति से पतित हो गया है ।

"रामायण में काक-भुषुण्डी जी का प्रसंग आता है । वह जगत से अतीत रहकर, जगत के आन्दोलनों-परिवर्तनों को भगवान की लीला मान कर देखते रहते थे । उन पर माया का, या यूँ कहो कि इन परिवर्तनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था । काक-भुषुण्डी जी अध्यात्म के आदर्श हैं, यद्यपि आदर्श इसके आगे भी हैं किन्तु सामान्य साधक के लिए तो यही बहुत बड़ा आदर्श है । इस लक्ष्य तक पहुँच पाना ही बहुत कठिन है । हम तो जगत लहरियों के साथ एकता स्थापित किए बैठे हैं । काक-भुषुण्डी जी ने यह अवस्था कोई एक जन्म के साधन से ही प्राप्त नहीं कर ली । कई बार गिरे, कई बार उठे । जन्म-जन्मान्तर तक अध्यात्म-पथ पर आरूढ़ रहे, तब कहीं भगवद्-कृपा से यह स्थिति प्राप्त हुई ।

"शक्ति जाग्रत होकर यही तो करती है । जीव को थोड़ी देर के लिए ही सही, काक-भुषुण्डी बनाकर, एक ओर द्रष्टा के रूप में खड़ा कर देती है तथा उसे अपनी लीलाओं के अवलोकन का अभ्यास कराती है । यद्यपि यह स्थिति काक-भुषुण्डी जी की तरह स्थाई नहीं होती, उसका एक नमूना-मात्र होता है । साधक उसी तरह थोड़ी देर के लिए माया से अतीत होकर, अपने चित्त रूपी रंग-मंच पर शक्ति की क्रियाओं को अपने से भिन्न देखता है । उसे समझ आ जाती है कि भविष्य में उसे क्या करना है तथा कहाँ जाना है । जो संस्कार अब तक उसके सुख-दुःख का कारण बन रहे थे, वह अब शक्ति की लीलाओं का आधार बन जाते हैं । जो चित्त अब तक वासनाओं में रँगा था, अब द्रष्टा-जीव के समक्ष लीलाओं के माध्यम के रूप में उपस्थित हो जाता है । यदि साधक विचार करे तो यह कितनी बड़ी उपलब्धि है । अंधकार में भटकते जीव को आशा की सशक्त किरण है । निराधार के लिए आधार है तथा भटके जीव के लिए एक मार्गदर्शन । यह एक ऐसी डोरी के समान है, जिसे पकड़कर जीव आत्म-तत्त्व तक पहुँच सकता है ।

"जीव का कर्त्तव्य है कि इस अभ्यास को, अभ्यास के स्तर से उठाकर स्वाभाविक स्तर तक लाने का उपाय करे । यदि साधक, अपने साधन के प्रति गंभीर एवं ईमानदार हो तो शक्ति की उसे पूरी सहायता प्राप्त होती है । जो द्रष्टाभाव उसे साधनावस्था में प्राप्त होता है, उसे शारीरिक एवं जागतिक स्तर पर उतारने का प्रयास करे । वैसे यह केवल साधक के प्रयास का विषय भी नहीं । शक्ति की भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु फिर भी साधक का प्रयास भी महत्त्व रखता है तथा समर्पण भी । प्रयास तथा समर्पण में सामंजस्य साधक का उत्तरदायित्व है ।

"जिन सस्कारों को शक्ति, वासना का रूप ग्रहण करने से पूर्व ही क्रियाओं में परिणत कर देती है, वहाँ क्रियाओं का आधार वासना नहीं, संस्कार हो जाते हैं । क्रियाएँ वासना या

संस्कारों के अनुरूप होती हैं । संस्कारों को मन तथा इन्द्रियों के माध्यम से कर्म का रूप ग्रहण करने का अवसर प्राप्त नहीं होता । इसी को योगाग्नि में संस्कारों का जल जाना कहा जाता है, जिसमें संस्कार भविष्य में अंकुरित होने की अपनी क्षमता खो देते हैं । जले हुए संस्कार, व्यवहार में भी अंकुरित नहीं हो पाते । इस प्रकार चित्त-शुद्धि का क्रम आगे बढ़ने लगता है । धीरे-धीरे चित्त की वह अवस्था आ जाती है, जब काकभुषुण्डी जी की तरह, जगत, शरीर तथा चित्त की परिवर्तनशीलता को साधक अपने से भिन्न, चलचित्र की भाँति द्रष्टाभाव में स्थित होकर निहारता रहता है ।

प्रायः साधक, साधन में इतनी सावधानी बरत पाने में असमर्थ होते हैं । उनके अन्दर का अभिमान, आसक्ति तथा स्वार्थ उन्हें समर्पण भाव में स्थित होने से वंचित किए रहते हैं । उन्हें क्रियाओं में भी अभिमान तथा आसक्ति उदय हो जाती है, जिससे संस्कार दग्ध-बीज होने के स्थान पर अंकुरित होने लगते हैं तथा उन्नति-क्रम रुक जाता है ।"

(२८) परस्पर रागद्वेष

दो आश्रमवासियों में कुछ मन मुटाव चल रहा था । जब भी वह किसी के पास बैठते तो एक-दूसरे की निन्दा ही करते । उनका अपना मन भी द्वेषाग्नि में जलता रहता था तथा दूसरों का मन भी दूषित करते रहते थे । वे आपस में या तो बात ही कम करते थे और करते भी, तो उखड़ी-उखड़ी सी । उनके कारण आश्रम में विष का संचार होता जा रहा था । जब महाराजश्री तक बात पहुँची तो उन्होंने दोनों को बुलवाया तथा बोले—

"हमने आप दोनों को अध्यात्म लाभ के लिए दीक्षा दी । दीक्षा-समय दोनों के मंगल की कामना-भावना की । किन्तु आप दोनों अमंगल के मार्ग पर चल रहे हो । आपका परस्पर वैमनस्य अमंगल का ही मार्ग है । इससे द्वेष, घृणा तथा शत्रुता के संस्कारों का संचय होता है, जिससे चित्त की मलीनता बढ़ती है । इस प्रकार आपका आचरण हमारी भावना के विपरीत है । गुरु की भावना के विपरीत आचरण कर, मंगल की कामना कैसे की जा सकती है ?

"आप दोनों के अन्दर शंकर विराजमान हैं किन्तु आप लोग राग-द्वेष तथा ईर्ष्या-घृणा के आवरणों से उसे ढँक देने में लगे हो । शंकर का स्वाभाविक गुण प्रेम तथा वैराग्य है, जबकि आप लोग जगदाभिमुख बने, शंकर के स्वाभाविक गुणों से बहुत दूर होते जा रहे हो । आपके साधन का आधार परस्पर प्रेम है, जबकि आप परस्पर घृणा की दलदल में फँसते जा रहे हो । अपने पथ को जानो, अपने कर्त्तव्य को पहचानो । यदि आपने अपने अन्दर परस्पर प्रेम का विकास कर लिया तो आप की शक्ति कई गुना बढ़ जाएगी, अन्यथा आपस में ही टकरा कर क्षीण होती रहेगी ।

"प्रेम ही जगत का सार है, प्रेम ही प्रभु का विधान है, प्रेम ही मनुष्य का कर्त्तव्य है । प्रेम एक ऐसी नौका है जो जीव को भव के पार लगा देती है । प्रेम एक ऐसी औषधि है जो जीव

के राग-द्वेष से जलते चित्त को शान्ति प्रदान करती है । प्रेम वायु का एक ऐसा झोंका है जो जीवन में सर्वत्र सुगंध बिखेर देता है । प्रेम एक ऐसा उच्च शिखर है जहाँ से जगत की सारता-असारता स्पष्ट दिखाई देती है । प्रेम एक ऐसा साधन है जो जगदाग्नि में जलते जीव को, प्रभु नाम के मधुर तथा अमृतमय रस का पान कराता है । ऐसे अमूल्य तथा मंगलमय रत्न को छोड़कर, तुम लोग क्यों विष भरी गागर का पान करने की होड़ में एक-दूसरे से झगड़ रहे हो ।

"सर्वप्रथम आप दोनों के मन, एक- दूसरे के प्रति शुद्ध होने चाहिए । भूलें दोनों ओर होती हैं । दूसरे की भूलें देखने के स्थान पर, अपनी भूलें देखने की आदत डालो । तभी फिर से आप लोगों में प्रेम पनप पाएगा । तब आप का चित्त विशाल तथा उदार बनता जाएगा । आप के हृदय के प्रेम का भी विस्तार होगा । आप लोग मनुष्यों से ही नहीं, पशु-पक्षियों से भी, पृथ्वी पर रेंगने वाले तथा जल में विहार करने वाले जीवों से भी प्रेम करने लगोगे । जड़-प्रकृति अर्थात् पर्वतों, रेगिस्तानों, नदियों तथा समुद्रों के प्रति भी आप का हृदय प्रेम से भर जाएगा । आप के अन्दर में शंकर भी प्रत्यक्ष हो जाएँगे, प्रत्येक जीव में भी तथा प्रकृति के कण-कण में भी ।

"इसके विपरीत यदि राग-द्वेष तथा ईर्ष्या-घृणा की कालिमा में गुम होते जाने का क्रम चलता रहा तो कालिमा बढ़ती जाएगी । अँधेरे में आप किस का गला काट रहे हो, पता भी नहीं चलेगा । अँधेरे का काम ही आपको लड़वाना है, अपनों से भी, परायों से भी । अँधेरा आपके मित्र-शत्रु का विवेक हर लेता है जो भी सामने आया, मारो । अँधेरे में न कुछ अपना पता चल पाता है, न रास्ता ही दिखाई देता है, न मंजिल सुझाई देती है । जीव अँधेरे के अथाह सागर में डूबता चला जाता है । जीव यही सोचता है कि शान्ति तथा चैन अँधेरे में ही कहीं छुपे हैं । यदि उसे कोई प्रकाश की ओर ले जाना भी चाहे तो उसे वह अपना अहितकर ही समझता है ।

"जिस चित्त में प्रेम का प्रकाश होता है, उसमें घृणा तथा द्वेष का अंधकार नहीं ठहर सकता । जिसमें घृणा-द्वेष का अंधकार होता है, उसे प्रेम-प्रकाश की एक किरण भी दिखाई नहीं देती । फिर भी प्रेम आपका अपना स्वरूप है तथा द्वेष-घृणा केवल ओढ़े हुए आवरण । इन आवरणों ने प्रेम को ढक रखा है किन्तु प्रेम आप से विलग नहीं हो सकता । कब तक भूले रहोगे निज स्वभाव को । कब तक धँसे रहोगे अस्वाभाविक कचरे के ढेर में । कब तक जलते रहोगे इस भ्रम रूपी अग्नि में । प्रेम की मशाल को थाम लो, आगे बढ़ो । अपने मार्ग पर कब तक भटके रहोगे ।।

"जब तक तुम्हारे मन में घृणा बनी रहेगी, तुम प्रेम का आनन्द उठा पाने में असमर्थ बने रहोगे । तुम्हें प्रेम की एक झलक भी दिखाई नहीं देगी । इसलिए मन में प्रेम के प्रकाश

को इतना बढ़ाओ कि घृणा का अंधकार विलीन हो जाए, या घृणा के अंधकार को ऐसा हटाओ कि अन्दर का छुपा प्रेम प्रकट हो जाए। प्रेम-प्रकाश का अर्थ है घृणा के अंधकार का न होना। घृणा के अंधकार का अर्थ है प्रेम—प्रकाश का न होना। प्रेम अध्यात्म है तो घृणा जगत। यदि तुम बात तो अध्यात्म की करो, किन्तु घृणा के अंधकार में ले जाने वाली सीढ़ियाँ उतरते जाओ तो अध्यात्म प्रकाशित हो ही नहीं सकता।

"प्रेम हृदय का स्वाभाविक भाव है, उसका देश या काल से कोई संबंध नहीं। जो आज प्रेमी है, वह कल भी प्रेमी है। जो भारत में प्रेमी है वह अमेरिका में भी प्रेमी है। यही हाल घृणा का भी है। घृणा का भाव भी देश-काल की सीमाओं में बँधा नहीं है। तुम यदि आश्रम में रहकर एक- दूसरे से घृणा या प्रेम करते हो तो आश्रम से बाहर जाने पर भी वह भाव वैसा ही बना रहेगा। यदि कोई एक भाव मन में लेकर सो जाए तो उठने पर भी वही भाव बना रहेगा। जब तक चित्त स्थिति नहीं बदल जाती, भाव नहीं बदलता। जो भाव चित्त स्थिति पर आधारित है वह चित्त स्थिति बदल जाने पर बदल जाता है। जो प्रेम चित्त-स्थिति पर आधारित होता है वह प्रेम नहीं, वास्तविक प्रेम आत्मा का स्वाभाविक गुण है।"

दोनों आश्रमवासियों में से एक ने कहा, "महाराजजी ! हम लोग अपनी भूल स्वीकार करते हैं। हम पूरा प्रयत्न करेंगे कि मन साफ हो जाए। अभी तक तो प्रतिशोध की ज्वाला हृदय में धधकती थी। आपके सदुपदेश से कुछ शान्ति हुई। आपकी कृपा से वैमनस्य के स्थान पर प्रेम हृदय में प्रभावी हो जाएगा। एक प्रश्न मन में उभरता है कि प्रेम-साधना का शक्तिपात् से तो कोई संबंध नहीं। प्रेम-साधना हृदय में प्रेम के भाव को बढ़ाते जाने की साधना है।"

उत्तर– तुम वही भूल फिर कर रहे हो। शक्ति अपनी क्रियाशीलता से केवल मल तथा आवरण को हटा देती है, जिससे पहले से विद्यमान प्रेम, उदारता, स्वाभाविक त्याग के सद्‌गुण प्रकट हो जाते हैं। तब तक जो प्रयत्नपूर्ण साधना की जाती है वह शक्ति की क्रिया में सहायक होती है।

उस दिन के पश्चात् उन दोनों आश्रमवासियों में आश्चर्यजनक परिवर्तन दिखाई देने लगा। उनके परस्पर व्यवहार को देखकर अन्य आश्रमवासी भी प्रसन्न थे, तो कुछ विघ्नसंतोषी अप्रसन्न भी। इस परिवर्तन से उनके साधन में भी अन्तर आ गया।

(२९) आमरस तथा आनन्दरस

मन्दिर के पिछवाड़े आम के दो पेड़ थ। आश्रम-विकास के लिए अब दोनों पेड़ कट चुके हैं। महाराजश्री उनमें से एक के नीचे कुर्सी डाले विराजमान थे। कुछ भक्त ज़मीन पर दरी बिछाए बैठे थे। वृक्षों में पके आम लटक रहे थे। सायंकाल का सुहाना समय था। महाराजश्री पके आमों को देख रहे थे तथा न जाने क्या सोच रहे थे कि सहसा बोल उठे—

के राग-द्वेष में जलते चित्त को शान्ति प्रदान करती है । प्रेम वायु का एक ऐसा झोंका है जो जीवन में सर्वत्र सुगंध बिखेर देता है । प्रेम एक ऐसा उच्च शिखर है जहाँ से जगत की सारता-असारता स्पष्ट दिखाई देती है । प्रेम एक ऐसा साधन है जो जगदाग्नि में जलते जीव को, प्रभु नाम के मधुर तथा अमृतमय रस का पान कराता है । ऐसे अमूल्य तथा मंगलमय रत्न को छोड़कर, तुम लोग क्यों विष भरी गागर का पान करने की होड़ में एक-दूसरे से झगड़ रहे हो ।

"सर्वप्रथम आप दोनों के मन, एक- दूसरे के प्रति शुद्ध होने चाहिए । भूलें दोनों ओर होती हैं । दूसरे की भूलें देखने के स्थान पर, अपनी भूलें देखने की आदत डालो । तभी फिर से आप लोगों में प्रेम पनप पाएगा । तब आप का चित्त विशाल तथा उदार बनता जाएगा । आप के हृदय के प्रेम का भी विस्तार होगा । आप लोग मनुष्यों से ही नहीं, पशु-पक्षियों से भी, पृथ्वी पर रेंगने वाले तथा जल में विहार करने वाले जीवों से भी प्रेम करने लगोगे । जड़-प्रकृति अर्थात् पर्वतों, रेगिस्तानों, नदियों तथा समुद्रों के प्रति भी आप का हृदय प्रेम से भर जाएगा । आप के अन्तर में शंकर भी प्रत्यक्ष हो जाएँगे, प्रत्येक जीव में भी तथा प्रकृति के कण-कण में भी ।

"इसके विपरीत यदि राग-द्वेष तथा ईर्ष्या-घृणा की कालिमा में गुम होते जाने का क्रम चलता रहा तो कालिमा बढ़ती जाएगी । अँधेरे में आप किस का गला काट रहे हो, पता भी नहीं चलेगा । अँधेरे का काम ही आपको लड़वाना है, अपनों से भी, परायों से भी । अँधेरा आपके मित्र-शत्रु का विवेक हर लेता है जो भी सामने आया, मारो । अँधेरे में न कुछ अपना पता चल पाता है, न रास्ता ही दिखाई देता है, न मंजिल सुझाई देती है । जीव अँधेरे के अथाह सागर में डूबता चला जाता है । जीव यही सोचता है कि शान्ति तथा चैन अँधेरे में ही कहीं छुपे हैं । यदि उसे कोई प्रकाश की ओर ले जाना भी चाहे तो उसे वह अपना अहितकर ही समझता है ।

"जिस चित्त में प्रेम का प्रकाश होता है, उसमें घृणा तथा द्वेष का अंधकार नहीं ठहर सकता । जिसमें घृणा-द्वेष का अंधकार होता है, उसे प्रेम-प्रकाश की एक किरण भी दिखाई नहीं देती । फिर भी प्रेम आपका अपना स्वरूप है तथा द्वेष-घृणा केवल ओढ़े हुए आवरण । इन आवरणों ने प्रेम को ढँक रखा है किन्तु प्रेम आप से विलग नहीं हो सकता । कब तक भूले रहोगे निज स्वभाव को । कब तक धँसे रहोगे अस्वाभाविक कचरे के ढेर में । कब तक जलते रहोगे इस माया रूपी अग्नि में । प्रेम की मशाल को थाम लो, आगे बढ़ो । अपने मार्ग पर कब तक भटके रहोगे ।

"जब तक तुम्हारे मन में घृणा बनी रहेगी, तुम प्रेम का आनन्द उठा पाने में असमर्थ बने रहोगे । तुम्हें प्रेम की एक झलक भी दिखाई नहीं देगी । इसलिए या तो प्रेम के प्रकाश

को इतना बढ़ाओ कि घृणा का अंधकार विलीन हो जाए, या घृणा के अंधकार को ऐसा हटाओ कि अन्दर का छुपा प्रेम प्रकट हो जाए। प्रेम-प्रकाश का अर्थ है घृणा के अंधकार का न होना। घृणा के अंधकार का अर्थ है प्रेम--प्रकाश का न होना। प्रेम अध्यात्म है तो घृणा जगत। यदि तुम बात तो अध्यात्म की करो, किन्तु घृणा के अंधकार में ले जाने वाली सीढ़ियाँ उतरते जाओ तो अध्यात्म प्रकाशित हो ही नहीं सकता।

"प्रेम हृदय का स्वाभाविक भाव है, उसका देश या काल से कोई संबंध नहीं। जो आज प्रेमी है, वह कल भी प्रेमी है। जो भारत में प्रेमी है वह अमेरिका में भी प्रेमी है। यही हाल घृणा का भी है। घृणा का भाव भी देश-काल की सीमाओं में बँधा नहीं है। तुम यदि आश्रम में रहकर एक- दूसरे से घृणा या प्रेम करते हो तो आश्रम से बाहर जाने पर भी वह भाव वैसा ही बना रहेगा। यदि कोई एक भाव मन में लेकर सो जाए तो उठने पर भी वही भाव बना रहेगा। जब तक चित्त स्थिति नहीं बदल जाती, भाव नहीं बदलता। जो भाव चित्त स्थिति पर आधारित है वह चित्त स्थिति बदल जाने पर बदल जाता है। जो प्रेम चित्त-स्थिति पर आधारित होता है वह प्रेम नहीं, वास्तविक प्रेम आत्मा का स्वाभाविक गुण है।"

दोनों आश्रमवासियों में से एक ने कहा, "महाराजजी ! हम लोग अपनी भूल स्वीकार करते हैं। हम पूरा प्रयत्न करेंगे कि मन साफ हो जाए। अभी तक तो प्रतिशोध की ज्वाला हृदय में धधकती थी। आपके सदुपदेश से कुछ शान्ति हुई। आपकी कृपा से वैमनस्य के स्थान पर प्रेम हृदय में प्रभावी हो जाएगा। एक प्रश्न मन में उभरता है कि प्रेम-साधना का शक्तिपात् से तो कोई संबंध नहीं। प्रेम-साधना हृदय में प्रेम के भाव को बढ़ाते जाने की साधना है।"

उत्तर– तुम वही भूल फिर कर रहे हो। शक्ति अपनी क्रियाशीलता से केवल मल तथा आवरण को हटा देती है, जिससे पहले से विद्यमान प्रेम, उदारता, स्वाभाविक त्याग के सद्गुण प्रकट हो जाते हैं। तब तक जो प्रयत्नपूर्ण साधना की जाती है वह शक्ति की क्रिया में सहायक होती है।

उस दिन के पश्चात् उन दोनों आश्रमवासियों में आश्चर्यजनक परिवर्तन दिखाई देने लगा। उनके परस्पर व्यवहार को देखकर अन्य आश्रमवासी भी प्रसन्न थे, तो कुछ विघ्नसंतोषी अप्रसन्न भी। इस परिवर्तन से उनके साधन में भी अन्तर आ गया।

(२९) आमरस तथा आनन्दरस

मन्दिर के पिछवाड़े आम के दो पेड़ थ। आश्रम-विकास के लिए अब दोनों पेड़ कट चुके हैं। महाराजश्री उनमें से एक के नीचे कुर्सी डाले विराजमान थे। कुछ भक्त ज़मीन पर दरी बिछाए बैठे थे। वृक्षों में पके आम लटक रहे थे। सायंकाल का सुहाना समय था। महाराजश्री पके आमों को देख रहे थे तथा न जाने क्या सोच रहे थे कि सहसा बोल उठे—

"डाली पर पके आमों का मीठा रस, अभी तक वृक्षों पर लटक रहा है तथा लोग जगत के विषयों का कड़वा रस पीने में ही व्यस्त हैं, जबकि जगत का रस उन्हें कभी भी तृप्ति प्रदान नहीं कर सकता । भगवती शक्ति तो अपने बच्चों को सदैव ही बुलाती रहती हैं कि आओ ! मेरे प्रेमामृत रस का पान कर तृप्ति लाभ करो किन्तु लोग, चंचल बच्चों की तरह विषय रूपी खिलौनों के ही पीछे भागते रहते हैं । वे परम प्रेम रूपी मीठे प्राकृत आमों के रस से सदैव ही दूर रहते हैं । गुरु, संत तथा शास्त्र, ज्ञान के बोझ से इन वृक्षों की भाँति लदे तथा झुके जा रहे हैं, नाम रस पीने के लिए लोगों को निमन्त्रित कर रहे हैं, किन्तु लोग हैं कि दूसरे ही रस में लगे हैं ।

"क्या तुमने अपने चित्त में कभी भी झाँक कर देखा है कि कितना अनावश्यक घास, झाड़-झंकार ने अन्तर की आम्रवाटिका को, एक ऊबड़-खाबड़ जंगल का रूप दे रखा है । वह जंगल जैसा वातावरण अन्दर के आम्रवृक्षों के विकास में न केवल बाधक है, अपितु उनकी कोंपलों, फूलों तथा फलों को समय से पूर्व ही सुखा डालता है । इस गहन वन में भटक कर जीवन क्यों बरबाद करते हो ।"

प्रश्न– मनुष्य तो बाह्य वाटिका को सजाने-सँवारने में लगा है । अन्तर वाटिका की ओर देखने का उसके पास समय तथा वृत्ति ही नहीं है । उसकी अन्तर आम्र वाटिका उजाड़ पड़ी सूख रही है, उसे कीड़े खा रहे हैं, तेज हवाओं से शाखाएँ टूट-टूट कर गिर रही हैं, कँटीली अनावश्यक झाड़ियों ने आम्रवृक्षों को दबा रखा है ।

उत्तर– यही तो मनुष्य की विडम्बना है । आमों के दिव्य मीठे रस का अन्तर में भण्डार होते हुए भी, वह बाहर के भुलावे में अपने अन्दर विष उडेलता जा रहा है, अन्दर का आनन्द खो दिया है, काम, क्रोध तथा अभिमान के पीछे अंधा बना भागा जा रहा है । यह जो बाहर सुन्दर आम लटक रहे हैं यह स्वाभाविक आन्तरिक रस का प्रतीक हैं । आज का मानव इन्हें भी कच्चे तोड़-तोड़ कर तथा दवाइयों की सहायता से पकाकर इसकी मिठास कम करने पर तुला है ।

क्या तुमने कभी सोचा है कि आम चाकू से कटने के बदले तुम्हें क्या देता है ? मिठास । यह सहनशीलता तथा उदारता आम की साधना है, यह उसका परोपकार है । एक संत का सही उदाहरण आम ही प्रस्तुत करता है । अपना व्यक्तित्व गँवा कर जगत को आनन्द वितरित करता है । स्वार्थी जीव इस ज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाते । उनके समीप यह ज्ञान मूर्खता है क्योंकि उनको स्वार्थ में ही मिठास अनुभव होती है, यद्यपि यही मिठास कालान्तर में विष सिद्ध होती है । चाकू से कटने के बदले आम, किसी के पेट में छुरा नहीं घोंप देता, मारने वाले के पेट को मिठास से भर देता है । कोई प्रतिकार नहीं, कोई प्रतिशोध नहीं, केवल मिठास वितरण ! यह है उसका संतपना !

जब आम्रवृक्ष मुरझाने लगता है तो उसे जल की आवश्यकता होती है, उसके पत्ते पीले पड़ने लगते हैं, शाखाएँ सूखने लगती हैं । जल सींचते ही उसमें जान आ जाती है । पत्ते फिर से तन जाते हैं, शाखाएँ फिर सीधी हो जाती हैं । आप के जीवन को भी प्रेम-जल की आवश्यकता है । राग-द्वेष तथा स्वार्थ के सूखेपन ने आपका हुलिया बिगाड़ कर रख दिया है। जीवन हरा-भरा करने तथा उसमें मिठास भरने के लिए, आपको प्रेम-जल की आवश्यकता है ही । बाहर से देखने पर प्रेम भले ही आप को दुःखदायी प्रतीत हो, पर वह आपका अन्तर, आनन्द से भर देगा ।

जगत का प्रेम कोई प्रेम नहीं । वह मोह एवं वासना का ही नामान्तर है । वास्तविक प्रेम आत्म-प्रेम ही है । वह आन्तरिक आनन्द का प्रदाता है । वह जगत दुःख से छुटकारे का कारण है । वह आम-रस के समान मीठा है । आम-रस उसी आन्तरिक आनन्द का स्मरण कराता है, आम-रस की मिठास रोम-रोम में समा जाती है । प्रेम-रस भी अंग-अंग को, मन तथा वाणी को, हृदय तथा इन्द्रियों को प्रेम-रस में डुबो देता है । प्रेम-रस जब मन तथा शरीर में फैल जाता है तो छुपाए नहीं छुपता । वह पुष्प-गंध की भाँति, वायु रूपी घोड़े पर सवार होकर, चारों दिशाओं में प्रसारित हो जाता है । प्रेम, दृष्टि को बदल देता है । उसे जगत सुहावना दिखाई देने लगता है जिसमें सभी ही उसके प्रियजन वास करते हैं । प्रेम हृदय से राग, द्वेष, क्रोध, स्वार्थ, अभिमान तथा संकुचित भाव को भगा देता है ।

प्रेमी सारे जगत का प्रेमी होता है तथा सारा जगत उसकी प्रेमिका । उसका संबंध शारीरिक नहीं आत्मिक होता है । वह सभी जीवों में आत्मा के दर्शन करता है क्योंकि स्वयं उसके अन्तर में आत्म-तत्त्व अभिमुख होता है । वह प्रेम के रहस्य का जानकार है । वह जानता है कि घृणा आत्मा को विलुप्त कर देती है जबकि प्रेम आत्मा को उजागर करता है । जब तक एक भी मनुष्य से घृणा, द्वेष, ईर्ष्यादि का भाव रहता है तब तक मनुष्य से आत्म तत्त्व की पहचान दूर है । मन में द्वेष है तो कहीं न कहीं राग भी अवश्य छुपा बैठा है । अर्थात् वह व्यक्ति अभी राग-द्वेष की परिधि से दूर नहीं हुआ ।

अभिमान प्रेम का शत्रु है । मन का अभिमान प्रेम को प्रकट नहीं होने देता । अभिमान का आवरण चाहे अस्वाभाविक हो, किन्तु है तो आवरण ही, जो प्रेम की स्वाभाविकता को ढक लेता है । अभिमान केवल भ्रम है, मिथ्या है, छलावा है । अभिमान के गहरे गर्त में गिरा जीव भला प्रेम के मर्म को क्या जाने ?

आम, प्रेम तथा आनन्द का मूर्तिमान स्वरूप है । वह मनुष्य को ही नहीं, पक्षियों को भी आहार के लिए अपने आप को प्रस्तुत कर देता है । ऐसा त्याग किसी भगवद् प्रेमी में ही संभव है । जैसे राजा शिवि ने कबूतर को बचाने के लिए, अपने शरीर का अंग बलिदान कर दिया । स्वार्थ का मारा जीव, प्रेम के आनन्द से परिचित हो ही कैसे सकता है । किन्तु आप

लोग तो साधक हो, नित्य प्रति साधन करते हो, गुरु-कृपा प्राप्त है, दिव्य अनुभूतियों की बात करते हो, आपके पास प्रेम से बचने का कोई बहाना नहीं है । यदि बहाने बनाओगे तो साधक-कोटि से गिर जाओगे । एक बार मन में विचार कर लो, यदि संसारी बनना है तो मन में जो आए, करो । यदि साधक बनना है तो प्रेमी की तरह अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तैयार हो जाओ ।

आप केवल आम का रस चूसकर, उसकी गुठली फेंक देते हो, आम के गुणों को धारण नहीं करते । थोड़ी कठिनाई आ जाए तो चिल्लाने लगते हो । लोग आम के वृक्ष के पत्ते नोचते हैं, उस पर कुल्हाड़े चलाते हैं । वह सरदी, गरमी, वर्षा सहन करता है, किन्तु उफ तक नहीं निकालता । लोग बार-बार उसे मुँह में डालते-निकालते हैं, वह हर एक को रस ही देता है । उसकी गुठली फेंक दी जाती है तो फिर अंकुरित होकर, सेवा में उपस्थित हो जाता है । ऐसा त्यागमय जीवन होना चाहिए साधक का, तभी संसार में मिठास, प्रेम तथा आनन्द बिखेर सकेगा, तभी अन्तर में सुख पा सकेगा ।

(३०) स्वामी मुक्तानन्दजी

बम्बई में कुछ दीक्षित परिवार थे । उनका सदैव यह आग्रह बना रहता था कि एक बार महाराजश्री बम्बई पधारें, अतः उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली गई । उन लोगों ने महालक्ष्मी मन्दिर के पास, महाराजश्री के ठहरने की व्यवस्था कर दी । बम्बई के प्रवास में जो एक विशेष घटना घटी, उसकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ । बम्बई के पास उन दिनों, एक महात्मा स्वामी नित्यानन्दजी बड़े प्रख्यात थे । वह जन्म से तो दक्षिण भारतीय थे, किन्तु उनके भक्तों में सभी प्रान्तों के लोग थे । वह प्रायः अवधूत अवस्था में ही रहते थे । उनके दर्शनों के लिए जाने का महाराजश्री का भी कार्यक्रम बना ।

स्वामी नित्यानन्दजी के एक शिष्य स्वामी मुक्तानन्दजी थे जिन्होंने बाद में शक्तिपात् के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया तथा भारत के अतिरिक्त अमेरिका, योरप, आस्ट्रेलिया आदि देशों में भ्रमण कर, अनेक लोगों को शक्तिपात् की राह दिखाई तथा इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की । उन दिनों वह स्वामी नित्यानन्दजी के आश्रम से थोड़ी ही दूर पहले, दो कमरों की एक कुटिया में निवास करते थे । अब तो उस स्थान पर लम्बा-चौड़ा महलनुमा आश्रम बन चुका है, पर उस समय वह कुटिया ही थी । यह बात १९६२ की है ।

महाराजश्री के भक्तों में एक डॉक्टर साहिब थे जो नित्यानन्द आश्रम के ट्रस्टी भी थे तथा उनका परिचय स्वामी मुक्तानन्दजी से भी था । जब स्वामी मुक्तानन्दजी को ज्ञात हुआ कि महाराजश्री, नित्यानन्दजी के दर्शनों को आने वाले हैं तो उन्होंने डॉक्टर साहिब से आग्रह किया कि महाराजश्री को लेकर, थोड़ी देर के लिए ही सही मेरी कुटिया में अवश्य आएँ । अन्त में यही निर्णय हुआ कि मुक्तानन्दजी, कुटिया के सामने सड़क पर खड़े रहें, उनके इशारे

पर डॉक्टर साहिब गाड़ी रोक देंगे । तब मुक्तानन्दजी, महाराजश्री से कुटिया पर पधारने की प्रार्थना कर लें ।

दूसरे दिन नियत समय पर जब गाड़ी गणेशपुरी, जहाँ नित्यानन्दजी का आश्रम था, पहुँची, तो स्वामी मुक्तानन्दजी पूर्व योजनानुसार पहले से ही सड़क पर प्रतीक्षा कर रहे थे । उन्होंने गाड़ी दूर से ही आती देखी तो ठहरने का इशारा किया । गाड़ी तो डॉक्टर साहिब ही चला रहे थे । उन्होंने गाड़ी मुक्तानन्दजी के पास खड़ी कर दी । मुक्तानन्दजी ने महाराजश्री को प्रणाम किया तो डॉक्टर साहिब बोले, "यह स्वामी मुक्तानन्दजी हैं । सामने वाली कुटिया में रहते हैं, नित्यानन्दजी के शिष्य हैं । थोड़ी देर के लिए कुटिया में पधारने की प्रार्थना कर रहे हैं ।" महाराजश्री थोड़ी देर रुके, फिर कार से उतर कर कुटिया की ओर चल दिये ।

स्वामी मुक्तानन्दजी ने पूजा की व्यवस्था पहले से ही कर रखी थी । उचित स्थान पर आसन भी बिछा रखा था । महाराजश्री को आसन पर विराजमान कराया गया । स्वामी मुक्तानन्दजी ने महाराजश्री का पूजन किया । पूजन करते ही मुक्तानन्दजी, महाराजश्री की गोद में गिर गए । उनके नेत्र अर्धोन्मीलित थे । महाराजश्री की भी आँखें बंद थीं, हाथ मुक्तानन्दजी के सिर पर था । यह अलौकिक दृश्य कोई पन्द्रह मिनट तक रहा । सारा कमरा शक्ति से लबालब भरा प्रतीत हो रहा था जैसे शक्ति की तरंगें, मौन गति से कमरे में रखी प्रत्येक वस्तु से टकरा रही हों । महाराजश्री तथा मुक्तानन्दजी, दोनों की अन्तर्दशा क्या थी, यह तो वही दोनों जान सकते थे, परन्तु देखने वालों में एक अजीब सा नशा छा रहा था । कोई पन्द्रह मिनट के बाद मुक्तानन्दजी के नेत्र खुले । महाराजश्री का हाथ भी उनके सिर से हट गया । वह उठ बैठे । दोनों मौन थे पर एक- दूसरे को देखे जा रहे थे । न महाराजश्री ने कुछ कहा, न मुक्तानन्दजी कुछ बोले । मौन उपदेश । महाराजश्री चल दिए ।

सूक्ष्म स्तर पर घटित इस प्रक्रिया को कोई देख तो नहीं पाया किन्तु जो कार्य हजारों विद्वत्तापूर्ण प्रवचन तथा दीर्घकालीन साधना-आराधना से भी संभव नहीं हो पाता, वह कार्य बिना कुछ कहे-सुने, पलभर में सम्पादित हो चुका था । जिस अवस्था का अनुभव प्राप्त करने के लिए, तपस्वी लोग जंगलों में वर्षों तपस्या लीन रहते हैं, किन्तु फिर भी प्राप्त नहीं होता, वह अनुभव मुक्तानन्दजी को, महाराजश्री की गोद में पड़े-पड़े प्राप्त हो गया था । इस अनुभव के पश्चात् मुक्तानन्दजी के चेहरे पर एक अलौकिक तेज देखा जा सकता था तथा महाराजश्री के चेहरे पर अथाह गांभीर्य ।

संतों की महिमा संत ही जान सकते हैं । विषयों की घनी झाड़ियों में उलझा जीव, सूक्ष्म स्तरों के रहस्यों को समझने में कैसे समर्थ हो सकता है । संत कब क्या करते हैं, तथा कब किसको क्या कर देते हैं, यह संत ही जानते हैं । इसीलिये शास्त्रों में संतों का इतना विशद वर्णन किया गया है, ये वीतराग महात्मा जगत बंधन से अतीत होते हैं, जिन्हें किसी से

लोग तो साधक हो, नित्य प्रति साधन करते हो, गुरु-कृपा प्राप्त है, दिव्य अनुभूतियों की बात करते हो, आपके पास प्रेम से बचने का कोई बहाना नहीं है । यदि बहाने बनाओगे तो साधक-कोटि से गिर जाओगे । एक बार मन में विचार कर लो, यदि संसारी बनना है तो मन में जो आए, करो । यदि साधक बनना है तो प्रेमी की तरह अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तैयार हो जाओ ।

आप केवल आम का रस चूसकर, उसकी गुठली फेंक देते हो, आम के गुणों को धारण नहीं करते । थोड़ी कठिनाई आ जाए तो चिल्लाने लगते हो । लोग आम के वृक्ष के पत्ते नोचते हैं, उस पर कुल्हाड़े चलाते हैं । वह सरदी, गरमी, वर्षा सहन करता है, किन्तु उफ तक नहीं निकालता । लोग बार-बार उसे मुँह में डालते-निकालते हैं, वह हर एक को रस ही देता है । उसकी गुठली फेंक दी जाती है तो फिर अंकुरित होकर, सेवा में उपस्थित हो जाता है । ऐसा त्यागमय जीवन होना चाहिए साधक का, तभी संसार में मिठास, प्रेम तथा आनन्द बिखेर सकेगा, तभी अन्तर में सुख पा सकेगा ।

(३०) स्वामी मुक्तानन्दजी

बम्बई में कुछ दीक्षित परिवार थे । उनका सदैव यह आग्रह बना रहता था कि एक बार महाराजश्री बम्बई पधारें, अतः उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली गई । उन लोगों ने महालक्ष्मी मन्दिर के पास, महाराजश्री के ठहरने की व्यवस्था कर दी । बम्बई के प्रवास में जो एक विशेष घटना घटी, उसकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ । बम्बई के पास उन दिनों, एक महात्मा स्वामी नित्यानन्दजी बड़े प्रख्यात थे । वह जन्म से तो दक्षिण भारतीय थे, किन्तु उनके भक्तों में सभी प्रान्तों के लोग थे । वह प्रायः अवधूत अवस्था में ही रहते थे । उनके दर्शनों के लिए जाने का महाराजश्री का भी कार्यक्रम बना ।

स्वामी नित्यानन्दजी के एक शिष्य स्वामी मुक्तानन्दजी थे जिन्होंने बाद में शक्तिपात् के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया तथा भारत के अतिरिक्त अमेरिका, योरप, आस्ट्रेलिया आदि देशों में भ्रमण कर, अनेक लोगों को शक्तिपात् की राह दिखाई तथा इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की । उन दिनों वह स्वामी नित्यानन्दजी के आश्रम से थोड़ी ही दूर पहले, दो कमरों की एक कुटिया में निवास करते थे । अब तो उस स्थान पर लम्बा-चौड़ा महलनुमा आश्रम बन चुका है, पर उस समय वह कुटिया ही थी । यह बात १९६२ की है ।

महाराजश्री के भक्तों में एक डॉक्टर साहिब थे जो नित्यानन्द आश्रम के ट्रस्टी भी थे तथा उनका परिचय स्वामी मुक्तानन्दजी से भी था । जब स्वामी मुक्तानन्दजी को ज्ञात हुआ कि महाराजश्री, नित्यानन्दजी के दर्शनों को आने वाले हैं तो उन्होंने डॉक्टर साहिब से आग्रह किया कि महाराजश्री को लेकर, थोड़ी देर के लिए ही सही मेरी कुटिया में अवश्य आएँ । अन्त में यही निर्णय हुआ कि मुक्तानन्दजी, कुटिया के सामने सड़क पर खड़े रहें, उनके इशारे

पर डॉक्टर साहिब गाड़ी रोक देंगे । तब मुक्तानन्दजी, महाराजश्री से कुटिया पर पधारने की प्रार्थना कर लें ।

दूसरे दिन नियत समय पर जब गाड़ी गणेशपुरी, जहाँ नित्यानन्दजी का आश्रम था, पहुँची, तो स्वामी मुक्तानन्दजी पूर्व योजनानुसार पहले से ही सड़क पर प्रतीक्षा कर रहे थे । उन्होंने गाड़ी दूर से ही आती देखी तो ठहरने का इशारा किया । गाड़ी तो डॉक्टर साहिब ही चला रहे थे । उन्होंने गाड़ी मुक्तानन्दजी के पास खड़ी कर दी । मुक्तानन्दजी ने महाराजश्री को प्रणाम किया तो डॉक्टर साहिब बोले, "यह स्वामी मुक्तानन्दजी हैं । सामने वाली कुटिया में रहते हैं, नित्यानन्दजी के शिष्य हैं । थोड़ी देर के लिए कुटिया में पधारने की प्रार्थना कर रहे हैं ।" महाराजश्री थोड़ी देर रुके, फिर कार से उतर कर कुटिया की ओर चल दिये ।

स्वामी मुक्तानन्दजी ने पूजा की व्यवस्था पहले से ही कर रखी थी । उचित स्थान पर आसन भी बिछा रखा था । महाराजश्री को आसन पर विराजमान कराया गया । स्वामी मुक्तानन्दजी ने महाराजश्री का पूजन किया । पूजन करते ही मुक्तानन्दजी, महाराजश्री की गोद में गिर गए । उनके नेत्र अर्धोन्मीलित थे । महाराजश्री की भी आँखें बंद थीं, हाथ मुक्तानन्दजी के सिर पर था । यह अलौकिक दृश्य कोई पन्द्रह मिनट तक रहा । सारा कमरा शक्ति से लबालब भरा प्रतीत हो रहा था जैसे शक्ति की तरंगें, मौन गति से कमरे में रखी प्रत्येक वस्तु से टकरा रही हों । महाराजश्री तथा मुक्तानन्दजी, दोनों की अन्तर्दशा क्या थी, यह तो वही दोनों जान सकते थे, परन्तु देखने वालों में एक अजीब सा नशा छा रहा था । कोई पन्द्रह मिनट के बाद मुक्तानन्दजी के नेत्र खुले । महाराजश्री का हाथ भी उनके सिंर से हट गया । वह उठ बैठे । दोनों मौन थे पर एक- दूसरे को देखे जा रहे थे । न महाराजश्री ने कुछ कहा, न मुक्तानन्दजी कुछ बोले । मौन उपदेश । महाराजश्री चल दिए ।

सूक्ष्म स्तर पर घटित इस प्रक्रिया को कोई देख तो नहीं पाया किन्तु जो कार्य हजारों विद्वत्तापूर्ण प्रवचन तथा दीर्घकालीन साधना-आराधना से भी संभव नहीं हो पाता, वह कार्य बिना कुछ कहे-सुने, पलभर में सम्पादित हो चुका था । जिस अवस्था का अनुभव प्राप्त करने के लिए, तपस्वी लोग जंगलों में वर्षों तपस्या लीन रहते हैं, किन्तु फिर भी प्राप्त नहीं होता, वह अनुभव मुक्तानन्दजी को, महाराजश्री की गोद में पड़ें-पड़े प्राप्त हो गया था । इस अनुभव के पश्चात् मुक्तानन्दजी के चेहरे पर एक अलौकिक तेज देखा जा सकता था तथा महाराजश्री के चेहरे पर अथाह गांभीर्य ।

संतों की महिमा संत ही जान सकते हैं । विषयों की घनी झाड़ियों में उलझा जीव, सूक्ष्म स्तरों के रहस्यों को समझने में कैसे समर्थ हो सकता है । संत कब क्या करते हैं, तथा कब किसको क्या कर देते हैं, यह संत ही जानते हैं । इसीलिये शास्त्रों में संतों का इतना विशद वर्णन किया गया है, ये वीतराग महात्मा जगत बंधन से अतीत होते हैं, जिन्हें किसी से

व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं होता । उनकी जीवन-लीला केवल जगत के कल्याण के लिए ही होती है । संतों का भी अन्य जीवों के साथ पूर्व जन्म का लेन-देन होता है । जिनके भाग्य में लिखा होता है, वही लाभ उठा पाते हैं ।

महाराजश्री तो नित्यानन्दजी के दर्शन कर वापिस लौट आये । रास्ते में गाड़ी में उनके यह शब्द थे, "इस मुक्तानन्द ने बहुत ले लिया, हमारी आशा से भी अधिक ।" दूसरे दिन मुक्तानन्दजी, महाराजश्री के दर्शन करने उनके निवास पर पहुँच गए । उनसे पूछा गया कि आप को शक्तिपात् तथा महाराजश्री के बारे में जानकारी कैसे प्राप्त हुई । जो कुछ उन्होंने अपने मुख से कहा वह इस प्रकार है—

"उन दिनों मैं घुमक्कड़ साधु था । घूमते हुए महाराष्ट्र के एक गाँव में पहुँचा (गाँव का नाम अब याद नहीं) तथा गाँव के मुखिया के यहाँ रात बिताने के लिए ठहरा । उन्होंने मुझे मेहमानघर में ठहरा दिया । जहाँ मेरा आसन लगा था, उसके ऊपर दीवार में एक आलमारी थी । मैं अंधेरे में बैठा जप कर रहा था कि बार-बार मुझे, आलमारी में रखी पुस्तकों में से एक पुस्तक दिखाई देती थी । मैं अपना ध्यान जप पर केन्द्रित करने का प्रयत्न करता था किन्तु बार-बार लक्ष्य उसी पुस्तक पर चला जाता था । मैंने टार्च जला कर वह पुस्तक निकाल ली । वह श्री योगानन्दजी महाराज विरचित महायोग विज्ञान थी । मैंने टार्च के प्रकाश में ही कुछ पन्ने पढ़े । उसी रात, पुस्तक में पढ़ी सभी क्रियाएँ मुझे होने लगीं । इस प्रकार इस विद्या के बारे में मुझे परिचय प्राप्त हुआ । महाराजश्री का नाम मैंने सुन रखा था । यह भी जानता था कि वह श्री योगानन्दजी महाराज के अधिकारी शिष्य हैं । अतः उनसे मिलने की लालसा मन में थी । सो भगवान ने पूरी कर दी ।"

इसके पश्चात् महाराजश्री तथा मुक्तानन्दजी का मिलन तीन बार और हुआ, एक बार १९६६ में, जब महाराजश्री बम्बई पधारे तो मुक्तानन्दजी से मिलने उनके गणेशपुरी स्थित आश्रम में पधारे । तब तक दो कमरों की कुटिया एक बड़े आश्रम का आकार ग्रहण कर चुकी थी । मुक्तानन्दजी ने महाराजश्री से प्रार्थना की कि एक बार आप यहाँ रात्रि निवास के लिए पधारें । तीसरा मिलन १९६८ में हुआ जब महाराजश्री दिल्ली में अस्वस्थ थे । मुक्तानन्दजी दिल्ली आए तो महाराजश्री की अस्वस्थता का समाचार मिला, तो दर्शन के लिए चले आए । यह तीनों मिलन इस पुस्तक का विषय नहीं हैं । यदि भगवान ने कुछ और मोहलत दी तथा स्वास्थ्य भी इस योग्य रखा तो हृदय मंथन के तीसरे भाग में इन तीन मिलनों पर कुछ लिखने का उचित अवसर होगा । यह भाग तो १९६५ तक ही है ।

(३१) मीरदाद

महाराजश्री कई बार अपनी बातचीत में मीरदाद की पुस्तक (Book of Mirdad) की भी चर्चा किया करते थे । यह पुस्तक लेबनान निवासी एक ईसाई अरब ने सर्वप्रथम

अंग्रेजी भाषा में लिखी थी तथा जिसका बाद में अरबी तथा संसार की अनेक भाषाओं में अनुवाद भी प्रकाशित हुआ । अब तो राधास्वामी सत्संग व्यास (पंजाब) ने इसका हिन्दी तथा पंजाबी अनुवाद भी प्रकाशित कर दिया है । यह याद नहीं कि यह पुस्तक महाराजश्री के पास कैसे आई, किन्तु वह इससे प्रभावित अवश्य थे ।

पुस्तक के लेखक का नाम नईमी है जिसका जन्म १८८९ में तथा मृत्यु १९८८ में हुई तथा उसकी शिक्षा लेबनान, रूस तथा अमेरिका में हुई । उसने कई पुस्तकें लिखीं, किन्तु 'मीरदाद की पुस्तक' उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है ।

पौराणिक कथाओं के अनुसार प्रलय के समय, प्रभु के आदेशानुसार कुछ लोग एक नाव में सवार हो गए । सारी पृथ्वी जलमग्न हो गई । कई दिनों तक नाव समुद्र जल में हिचकोले खाती रही । समुद्र के शान्त हो जाने पर तथा जल-स्तर उतर जाने पर नाव किनारे लगी । जनसंख्या वृद्धि का क्रम फिर आरंभ हुआ । यह कथा थोड़े बहुत अंतर से सभी सम्प्रदायों में वर्णित है । ईसाई, मुसलमान, यहूदी धर्मों ने नाव के मुखिया को नूह नाम दिया तथा हिन्दूओं ने उसे मनु कहा । नूह के साथ जो अन्य आठ व्यक्ति सवार थे, मीरदाद उनमें से एक था । उसी मीरदाद के उपदेशों का संग्रह है, मीरदाद की पुस्तक ।

जब नूह काफी वृद्ध हो गया तथा उसे अपना अन्तिम समय निकट आता दिखाई दिया तो उसने अपने बेटे सैम को बुला कर कहा, "जीवन का कोई भरोसा नहीं तथा मैं तो वैसे भी अब वृद्ध हो चुका हूँ । तुम परिवार सहित प्रसन्न रहो, किन्तु आने वाला समय ऐसा होगा कि लोग जगत में ही उलझ कर रह जाएँगे तथा जगत को उत्पन्न करने वाले को भूल जाएँगे । इसलिए तुम इस पहाड़ की चोटी पर एक आश्रम का निर्माण करो तथा उसका नाम 'नूह की नाव' रखो । सदुपदेशों का प्रचार करो । हम लोग नाव पर नौ ही सवार थे । इसलिए आश्रमवासियों की संख्या भी नौ ही होनी चाहिए । किसी आश्रमवासी के मर जाने पर नया, अपने आप आ जाया करेगा । 'नूह की नाव' का निर्माण कर दिया गया । नूह ने शेष जीवन वहीं बताया ।

समय बीतता गया, जनसंख्या वृद्धि होती गई । नूह की नाव के आस—पास गाँव बसते चले गए । श्रद्धा के वशीभूत लोग आश्रम की सेवा भी खूब करते । आश्रम धनवान होता चला गया । जगत का प्रभाव आश्रम पर भी पड़ा । सुख-सुविधा के साधन जुट गए । ऐश्वर्य-वैभव का बोल-बाला हो गया । अभिमान, क्रोध, लोभ ने घर कर लिया ।

एक बार एक आश्रमवासी मर गया तो नया व्यक्ति उसका स्थान लेने आया । फटे कपड़े, उलझे बाल, शरीर से बदबू, खुले पाँव । आश्रम के मुखिया ने उसे स्वीकार करने से इनकार कर दिया किन्तु उसके बार-बार कहने पर, नौकर के रूप रखना मान लिया, परन्तु दूसरा कोई व्यक्ति आश्रमवासी बनने के लिए आया ही नही, अन्त में उसे ही रख लिया

गया । आठवें वर्ष उसने अपना भेद प्रकट किया कि वह नूह की नाव का एक यात्री मीरदाद है तब सभी आश्रमवासियों में उसे गुरु का स्थान प्राप्त हो गया .। आश्रम का मुखिया उससे जलता था । मीरदाद ने आश्रम की सारी सम्पत्ति बाँट दी । मुखिया को कहा कि लोभ तथा आसक्ति के कारण तुम्हारी आत्मा डेढ़ सौ वर्षों तक आश्रम के खंडहरों में भटकती रहेगी, तब जो व्यक्ति अमुक रास्ते से, भूखा-प्यासा, नंग-धड़ंग तुम्हारे पास आएगा उसे यह पुस्तक दे देना, तब तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी, पर तब तुम एक शिला के रूप परिवर्तित हो जाओगे । कब तक शिला बने रहोगे, अभी नहीं कह सकता ।

एक व्यक्ति उस मार्ग-विशेष से पहाड़ी पर चढ़ा, रास्ते में उसका भोजन छीन लिया गया । कपड़े उतार लिए गए तथा उसकी लाठी भी ले ली गई । मुखिया की आत्मा ने पुस्तक उसके हवाले कर दी तथा स्वयं शिला में परिवर्तित हो गया । वही है मीरदाद की पुस्तक । महाराजश्री कहते थे कि पुस्तक में वर्णित इतिहास तथा घटित घटनाओं में मत उलझो । उसका सार तत्व वह सन्देश है जो मीरदाद के नाम पर पुस्तक में दिया गया है ।

महाराजश्री ने कहा, "मीरदाद का कहना कितना सटीक है कि यह नाव अब नाव नहीं रह गई है । अब इस पर सोना, चाँदी, ऐश्वर्य तथा सुख के साधन के रूप में जड़ पदार्थ लद गए हैं जिसके बोझ से नाव डूबने को है । समुद्र उसे अपने पेट में समा लेने के लिए तैयार बैठा है । जो नाव नूह के समय त्याग, वैराग्य, उदारता, सहनशीलता का आश्रम थी अब स्वार्थ, अभिमान, क्रोध तथा प्रतिशोध का घर बन गई है, उसको नाव (आश्रम) कहेंगे क्या ? क्या यह नाव किसी को परले पार ले जाने में समर्थ हैं ?" फिर अपने साथियों से मीरदाद आगे कहता है, "तुमने नाव को चाहे कितना भी सोने-चाँदी से भर दिया हो, इसका साम्राज्य भी बढ़ा लिया हो, भक्त-मण्डल कितना भी बड़ा कर लिया हो, किन्तु यह नाव अब डूबने को है । यह भव्य भवन शीघ्र ही खण्डहर बनने जा रहे हैं । यह इतिहास की पुस्तकों में ही रह जाने वाला है । केवल किंवदंतियाँ ही शेष रह जाएँगी । इस नाव की आत्मा मर चुकी है । इसमें से त्याग, तपस्या, प्रेम तथा अध्यात्म का लोप हो चुका है ।"

मीरदाद यह भी कहता है कि जो बना सकता है उसे तोड़ देने में क्षण भर की भी देर नहीं लगती । जो ऊपर उठा सकता है, वह गिरा भी सकता है, अपितु किसी को वह उठाता ही गिराने के लिए है । वह अपने अन्तर में, अपने जैसे कईयों को पैदा कर सकता है, तथा जब चाहे अपने में समा भी लेता है । उसकी रचना न्यारी है । तुम्हारा अहम्, तुम्हारी चेतना का विस्तार मात्र है । तुम्हारे अहम् के अनुरूप ही, तुम्हारा जगत विस्तार पाता जाता है । यदि तुम चेतना के एकत्व में स्थित हो तो जगत में भी सर्वत्र एकत्व के ही दर्शन करोगे । यदि तुम्हारे अन्तर की चेतना में अनेकत्व समाया है तो बाहर भी सर्वत्र अनेकत्व ही दिखाई देगा । जैसा तुम्हारा अहम् होगा वैसा ही जगत का रूप भी अनुभूत होगा । यह जीवन अहम् पर ही टिका

हुआ है, अहम् का ही विस्तार है, यह जीवन अहम् ही है । यदि तुम्हारा अहम् भिन्न-सत्ता के भाव का त्याग कर दे, तो तुम ही समष्टि-चेतना हो ।

उपनिषद्-विचार-प्रणाली के कितने समीप हैं यह उद्गार । ऐसा प्रतीत होता है मानो किसी प्राचीन ऋषि की वाणी हो किन्तु हजारों वर्ष पूर्व गूँजी, यह एक अरब दार्शनिक की आवाज है । लगता है किसी समय एक ही विचारधारा सारे विश्व में व्याप्त थी ।

मीरदाद कहता है कि मनुष्य, मन की बात कितनी जल्दी मान लेता है । कितनी जल्दी इन्द्रियों के बहकावे में आ जाता है, जबकि वह जानता है कि मन धोखेबाज है, इन्द्रियाँ विषयों के छलावे में हैं, फिर भी उन पर कितनी सहजता से विश्वास कर लेता है । यह उस की मूर्खता नहीं तो और क्या है ? कहाँ चला जाता है उसका विवेक ? मनुष्य इस बात से भलीभाँति परिचित है कि जगत में उसे जो कुछ भी दिखाई देता है, सब मदारी का खेल है । फिर सुख की आशा से, उसके पीछे क्यों भागता है ? भाग-भाग कर थक जाता है, गिर पड़ता है, पर सुख नहीं मिलता, फिर भी विश्वास किए जाता है ।

मीरदाद आगे कहता है कि जगत में जो कुछ भी विकसित होता है, सब एक न एक दिन क्षय को प्राप्त होता है । जो कुछ भी बनता है, एक दिन बिगड़ जाता है । जों कुछ अस्तित्व में आता है, एक दिन अस्तित्व-विहीन हो जाता है, किन्तु जो शक्ति इस विकास तथा क्षय में, बनने तथा बिगड़ने में, अस्तित्व तथा अस्तित्वहीनता में कारण है, वह न विकसित होती है, न क्षय को प्राप्त होती है । यह सब लक्षण जगत की वस्तुओं-दृश्यों के हैं । शक्ति सदा ही एक रस, नित्य तथा सर्व परिवर्तनों से अतीत है ।

कैसी दार्शनिक बात मीरदाद कहता है ! ऐसा वही कोई व्यक्ति कह सकता है जिसके अन्दर पूर्ण प्रकाश हो । जिसके समक्ष चैतन्य का सार तत्त्व प्रत्यक्ष हो तथा जो दृश्यात्मक जगत के यथार्थ स्वरूप से परिचित हो । जो केवल शास्त्रीय विद्वान ही नहीं, प्रत्यक्ष तत्त्व का अनुभव भी कर चुका हो ।

मीरदाद फिर कहता है कि अध्यात्म कोई भवन या फुलवाड़ी नहीं, कोई वस्तु या पदार्थ नहीं, कोई मशीन या कुर्सी-मेज नहीं, जिसे खरीदा या बेचा जा सके । यह चित्त की एक अवस्था-विशेष है, जिसे आप जहाँ-जैसे हो, उसे प्राप्त किया जा सकता है । कोई यात्रा की आवश्यकता नहीं, कोई उपकरण नहीं, किसी के पीछे भागने की जरूरत नहीं । इसे इसी धरती पर, इसी आकाश के नीचे, इसी वायु में साँस लेते हुए, आसानी से प्राप्त किया जा सकता है ।

वास्तव में ही देखा जाये तो अध्यात्म बड़ा आसान है किन्तु मन तथा जगत ने मिलकर इसे जटिल बना दिया है । केवल मन को जगत की ओर से मोड़ना ही तो है । बुल्लेशाह ने यही बात जब अपने गुरुजी से पूछी तो उन्होंने कहा कि भगवान को प्राप्त करने

में क्या कठिनाई है ! मन को जगत से हटाना तथा भगवान में लगाना ही तो है । पर जीव इतना अशक्त हो चुका है कि उसके लिए, यह सरल काम कर पाना भी कठिन हो रहा है । इससे अधिक दयनीय स्थिति मनुष्य की और क्या हो सकती है ?

दूसरे दिन मैंने इसी बात को आरंभ करते हुए कहा, "क्या आगाशा की तरह कभी आप मीरदाद से भी मिले हैं ?" महाराजश्री बोले, "मीरदाद नूह के साथियों में से एक थे ! आगाशा तो एक पवित्रात्मा हैं किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मीरदाद की कभी मृत्यु नहीं हुई । उसे किसी से संपर्क साधने के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं । वह जब चाहे प्रकट हो सकता है । उसे छुआ जा सकता है तथा सामान्य व्यक्तियों की भाँति उसे काम करते देखा जा सकता है । वह नूह के समय में था तथा नूह के पश्चात् युगों बीत जाने पर भी, नूह की नाव नामक आश्रम में, आश्रम के मुखिया शमदाम के साथ भी । वह एक सामान्य आश्रमवासी की तरह खाता, सोता तथा चलता दिखाई देता था । जब भी कोई चाहे उससे मिल सकता था । इसका अर्थ यह है कि मीरदाद केवल आत्मा नहीं, शरीरधारी आत्मा है, जिसे अदृश्य हो जाने की शक्ति प्राप्त है, जैसे कि वह नूह तथा शमदाम के बीच की शताब्दियों तक रहा । उसकी मृत्यु का कहीं उल्लेख नहीं है । इसलिए सम्भवतः वह आज भी अदृश्यावस्था में विद्यमान है । हो सकता है कि कुछ साधकों को दिखाई भी देता हो या साधकों को उसके अनुभव होते हों । मुझे अभी तक किसी ने मीरदाद के रूप में अपना परिचय नहीं दिया ।

"इससे आगाशा की स्थिति भिन्न है जो सात हजार वर्ष पूर्व मिस्र देश में वर्तमान था । किन्तु आज भी किसी न किसी माध्यम से जीवों के कल्याण के पवित्र कार्य में लगा हुआ है । वह शरीरधारी नहीं है । इस जनसम्पर्क के लिए उसे अन्य किसी शरीर का सहारा लेना पड़ता है किन्तु किसी उच्च साधक से वह बिना किसी माध्यम के भी संपर्क स्थापित कर सकता है । जैसे उसका तथा मेरा संपर्क बिना किसी माध्यम के ही होता है, परन्तु ऐसा सूक्ष्म स्तर पर ही हो पाता है । जो साधक इतने सूक्ष्म स्तर तक जा सकते हैं, उन्हीं के साथ आगाशा का संपर्क संभव है ।

"भगवान की माया बड़ी विचित्र है । एक ओर उसने माया का जाल फैला रखा है, जीवों को तड़पाने की व्यवस्था की है, दूसरी ओर अनेक साधनाओं का विधान भी उपस्थित कर दिया है तथा कुछ पवित्र आत्माओं को, सशरीर अमरत्व प्रदान कर, जन-कल्याण के कार्य में भी लगा रखा है । ऐसे ही एक उदाहरण हनुमानजी हैं जो शरीर होते हुए भी अदृश्य रहते हैं तथा जहाँ उचित समझते हैं, प्रकट हो जाते हैं । संभवतया हनुमानजी के मन्दिरों की भारत में संख्या, रामचन्द्रजी के मंदिरों से भी अधिक है । ऐसा प्रतीत होता है कि मीरदाद भी ऐसे शरीरधारी, किन्तु अदृश्य, अमरत्व-प्राप्त पुण्यात्मा हैं जो साधकों-भक्तों के कल्याण के लिए सचेष्ट हैं ।

"अब रही बात मीरदाद से मिलने की, तो ऐसा प्रश्न न अभी तक किसी ने पूछा है, न ही मैंने किसी को कुछ कहा है । साधन के अनुभवों को गुप्त रखने का विधान तो है ही, क्योंकि एक तो इन्हें प्रकट कर देने पर अभिमान उभर आने की संभावना है तथा दूसरे, लोग अनावश्यक टिप्पणियाँ आरंभ कर देते हैं । वैसे तो संसार भर में अदृश्य आत्माएँ घूमती हैं, कई स्थानों पर वह स्थाई निवास भी बना लेती हैं, किन्तु कुछ क्षेत्रों में उनका आवागमन तथा स्थाई निवास अधिक है । मध्यप्रदेश का मालवा क्षेत्र ऐसी जगहों में से एक है । यहाँ स्थाई निवास करने वाले तथा इसी क्षेत्र में भ्रमणशील अदृश्य महापुरुषों की अधिकता है । कुछ लोगों को उनकी उपस्थिति का भान होने पर भूतात्मा की भ्रान्ति हो जाती है । वह भूत तथा अदृश्य-देहधारी पुण्यात्मा के अन्तर को नहीं समझ सकते ।

"इन पुण्यात्माओं का जनकल्याण कार्य प्रायः प्रातः समय होता है, जब अधिकांश साधक अपनी साधना में लगे होते हैं । कुछ पुण्यात्माएँ एक स्थान पर साधनारत रह कर, आध्यात्मिक तरंगें प्रसारित करती हैं, कुछ जब कोई साधना में होता है तो आशीर्वाद देकर आगे बढ़ जाती हैं । यदि कोई उस समय निद्रा का आनन्द ले रहा हो, तो वह आशीर्वाद से वंचित रह जाता है । कुछ पुण्यात्माएँ साधक को केवल उपस्थिति की प्रतीति करवाती हैं तथा अपनी बात साधक के हृदय में प्रस्फुटित कर देती हैं । कुछ दिखाई तो नहीं देतीं किन्तु उनकी आवाज अवश्य सुनाई पड़ती है, तो कुछ सशरीर प्रकट होकर साधक से बात करती हैं ।

"हमें भी साधन में सभी प्रकार की अनुभूतियाँ हुईं । पुण्यात्माओं की उपस्थिति से लेकर, प्रत्यक्ष दर्शन तक । कुछ पुण्यात्माओं ने अपना परिचय दिया तो कुछ ने परिचय देने से इनकार कर दिया, कारण वही जानें किन्तु बात प्रायः सभी हिन्दी में करते हैं । संभवतः वे संसार की प्रत्येक भाषा जानते हैं तथा साधक की ही भाषा में उससे बात करते हैं । सम्भव है कभी मीरदाद के भी दर्शन हुए हों किन्तु अपना परिचय नहीं दिया हो । कई देशों की वेषभूषाओं में पुण्यात्माओं के दर्शन हुए । मीरदाद की चिन्तन शैली का हमारे ऊपर बहुत प्रभाव है । एक बार एक पुण्यात्मा के बात करने के ढंग से ऐसा अवश्य लगा था कि यह मीरदाद है, किन्तु निश्चित कुछ नहीं कहा जा सकता ।"

प्रश्न– कुछ ने तो आप को अपना परिचय भी दिंया होगा ?

उत्तर– हाँ, एक महर्षि गालव ने अपना परिचय दिया तथा अश्वत्थामा ने भी ।

अश्वत्थामा की पहचान तो उनका घाव भी दे रहा था । तुम्हें हमारा यह आदेश है कि यह बातें हमारे जीवनकाल में किसी को नहीं बताना ।

प्रश्न– यह भी संभव हो सकता है कि साधक किसी की भावना करता रहे तथा कालान्तर में भावना साकार होकर सम्मुख आ जाय तथा उसे अदृश्य महापुरुष समझ ले ।

उत्तर– यह भी संभव है किन्तु हमारे उदाहरण में ऐसा नहीं है । देवताओं के दर्शन की हम बात नहीं करते, क्योंकि उनकी भावना करने की साधना करते रहे हैं, इसलिए संभव है कि भावना ही साकार हो उठती हो, किन्तु अदृश्य महापुरुषों के दर्शन केवल साधन-समय ही नहीं, इतर समय में भी हो जाते हैं । जब हम लोगों से बात कर रहे होते हैं तो कोई अदृश्य महापुरुष कई बार, प्रकट होकर हमसे बात करने लगता है तब हम थोड़ी देर के लिए चुप होकर उसे सुनने लगते हैं । तब लोग समझते हैं कि कुछ याद कर रहे हैं या सोच रहे हैं, किन्तु हम किसी अदृश्य आत्मा की बात सुनने में लगे होते हैं ।

प्रश्न– आगाशा से आपकी मुलाकात किस रूप में होती है ?

उत्तर– आगाशा एक परछाई के रूप में प्रकट होते हैं तथा अंग्रेजी में बात करते हैं । सात हजार वर्ष पूर्व उनके समय मिस्र की भाषा पता नहीं क्या थी ? किन्तु अभी तो वह अंग्रेजी ही बोलते हैं ।

प्रश्न– और मीरदाद ?

उत्तर– वह तो मैंने तुम्हें कहा न कि उनका दिखाई देना निश्चित नहीं है ।

प्रश्न– क्या इन दर्शनों से आप को कुछ आध्यात्मिक लाभ हुआ ।

उत्तर– निश्चय ही । कुछ तो मौखिक रूप से मेरी शंकाओं का समाधान करते हैं, तो कुछ अंतर में विचित्र प्रकार की अनुभूतियों का कारण बनते हैं । महर्षि गालव ने मुझे साधन में साथ बिठा लिया था जिसमें शक्ति के सूक्ष्म स्पन्दन के अतिरिक्त कुछ भी अनुभव नहीं होता था, मेरा अहम् भी उसमें विलीन हो गया ।

प्रश्न– फिर यह 'मैं' दोबारा कैसे खड़ा हो गया ?

उत्तर– यह औपचारिकता है । बात करने के लिए कुछ शब्दों का सहारा लेना ही पड़ता है ।

प्रश्न– क्या उसी समय आपको शक्ति का स्पन्दन अनुभव हुआ ?

उत्तर– अब भी हो रहा है । जगत एक खेल सा दिखाई दे रहा है । कण-कण में शक्ति का आन्दोलन ही दिखाई देता है । तुम जो बोल रहे हो, इसमें भी शक्ति ही क्रियाशील अनुभव हो रही है ।

प्रश्न– क्या गुरु शक्ति कुछ नहीं करती जो इन अदृश्य महापुरुषों की कृपा की आवश्यकता पड़ी ?

उत्तर– यह गुरु शक्ति की ही कृपा है जो इन महात्माओं के माध्यम से प्रकट होती है । यदि गुरु कृपा नहीं होती तो महात्मा भी प्रकट नहीं होते ।

प्रश्न– क्या सभी साधकों को अदृश्य महापुरुषों का कृपा लाभ होता है ?

उत्तर– नहीं । सभी साधकों की साधना का सीमा–स्तर यहाँ तक पहुँचता ही नहीं । जब साधक, साधन की चढ़ाई चढ़ता जाता है, तथा साधन कठिन से कठिनतर होता जाता है, अदृश्य महापुरुष ऊपर से साधक को संघर्ष करते देखते हैं, तो थोड़ा नीचे उतरकर सहायता के लिए आ जाते हैं । प्रायः साधक इतना ऊपर नहीं उठ पाता कि उनके दृष्टि-पथ में आ जाए ।

प्रश्न– क्या सभी साधकों के लिए अदृश्य-पुण्यात्माओं के दर्शन आवश्यक हैं ? सुना तो यह जाता है कि उच्च अवस्था प्राप्त होने तथा अकल्पिता सिद्धियों के उदय हो जाने पर देवता, कई प्रकार के प्रलोभन देकर गिराने का प्रयत्न करते हैं ।

उत्तर– इसीलिए तो सिद्ध, अदृश्य पुण्यात्मा महात्माओं की सहायता की आवश्यकता है । देवताओं तथा पुण्यात्माओं का यह अन्तर्-द्वन्द्व सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तरों पर घटित होता है । वैसे यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक साधक को ऐसा सुअवसर प्राप्त हो ही ।

यह सारी बातें सुनकर मुझे ऐसा लगा कि मैं तो अभी मरुस्थल में भटके एक राही के समान हूँ, जो अभी भी मार्ग खोजता फिर रहा है । जगत की स्थूल वासनाओं के रेत के कण आँखों में पड़ रहे हैं, विषयों तथा सुखों की प्यास गला सुखा रही है तथा भटकन की थकावट से शरीर दर्द कर रहा है । श्री गुरु-चरण-कृपा से, अब आकर आशा की धुंधली सी एक किरण दिखाई दी है, किन्तु दृष्टि–विकार से वह भी स्पष्ट नहीं दिख रही । गुरुदेव ही कृपा करें ।

(३२) मीरदाद का प्रभाव

महाराजश्री पर मीरदाद का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता था, जब वह इस शरीर को एक नाव की उपमा देते थे । एक ऐसी नाव जिस पर जीव को, विशाल, अनन्त तथा गहरा भव-सागर पार करना है । एक ऐसी नाव जो सब प्रकार के संकटों का सामना कर सकती है । एक ऐसी नाव जिस की पतवार प्रभु ने स्वयं थाम रखी है । पर जीव को क्या कहा जाए । उसने नाव की पतवार प्रभु से छीन कर, स्वयं थाम ली है । वह नाव का रखवाला आप बन बैठा है तथा उसने नाव को समुद्र की लहरों के थपेड़े खाने को छोड़ दिया है । पतवार जीव के हाथ से भी छूट चुकी है । अब वह बेसहारा अथाह सागर में हिचकोले खा रही है । लहरें उसे जिधर चाहे, बहाए लिए जा रही हैं । तूफान, वर्षा तथा समुद्री हिंसक पशुओं का संकट हर समय सिर पर मंडराता रहता है ।

वासनाओं, आकांक्षाओं तथा विकारों की तेज आँधी में उसकी नाव डगमगा रही है किन्तु नाविक बेसुध पड़ा है । कुछ करना भी चाहे तो क्या कर सकता है, जब पतवार ही उसके हाथ से छूटकर, समुद्र में जा गिरी है । उसका साथी मन भी उसको धोखा दे गया है

तथा वासनाओं की आँधी में उड़ गया है । उसकी इंद्रियाँ भी, जो कभी समर्पित सेवक की भाँति उसकी सेवा में लगी रहा करती थीं, उससे मुँह मोड़ चुकी हैं । अकेला बेसहारा जीव, पतवारहीन नाविक । कैसा हाल कर लिया है जीव ने अपना तथा अपनी नाव का ।

मीरदाद की चिन्तन शैली झलकती थी जब महाराजश्री कहते थे, "संसार के लोग अपने अन्तर में संस्कारों के पहाड़ खड़े करने में लगे हैं । उन पर दुःख भोगने का नशा ऐसा सवार हुआ है कि उतरने का नाम ही नहीं लेता, जैसे दुःख भोग में ही वह सुख का अनुभव कर रहे हों । दुःख भोग ही उनका जीवन बन गया है । उन्हें यह समझ ही नहीं आ रही कि वह कहाँ जा रहे हैं तथा उन्हें जाना कहाँ हैं ? उन्होंने ऐसा रास्ता पकड़ रखा है जिसकी कोई मंजिल ही नहीं है । भूल-भुलैयों की तरह एक ही जगह चक्कर काटे जा रहे हैं । उनका जीवन कोल्हू के बैल की तरह बनकर रह गया है । अपने अंदर टटोलने का किसी के पास समय ही नहीं । अन्दर कितनी फालतू घास उग गई है, कितनी काँटेदार झाड़ियाँ खड़ी हो गई हैं, कितनी विषैली बेलें फैल रही हैं तथा कैसा घना अंधकार छा गया है, इसको कौन देखता है ?"

यहाँ भी मीरदाद ही महाराजश्री के मुख से बोलता हुआ सा दिखाई देता है, "अपनी नाव में विषयों-वासनाओं के जल को मत भर जाने दो, नहीं तो जल नाव डुबो देगा । तब तुम, सामने खड़ी समुद्री यात्रा के अयोग्य हो जाओगे । जो जल आप की नाव में प्रवेश भी कर गया है, उसे समुद्र में ही उलीच दो, इससे तुम्हारी नाव हलकी हो जाएगी । किन्तु अपना सारा जीवन जल बाहर निकालने में ही व्यतीत न कर देना । तुम्हारा लक्ष्य जल निकालना नहीं, यात्रा करना है, यह तो केवल यात्रा की तैयारी ही है । नाव की रँगाई—पुताई में ही समय नष्ट मत करो । नाव की सुन्दरता पर नहीं, उपयोगिता पर ध्यान दो । नाव से जो काम लेना है, वही लो, नाव केवल यात्रा का माध्यम है । यह नहीं कि नाव की सेवा में ही लगे रहो ।"

प्रत्येक मनुष्य पर किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का प्रभाव पड़ता ही है । जैसे महाराजश्री के व्यक्तित्व पर आदि शंकराचार्य, तंत्राचार्य अभिनव गुप्त, अपनी गुरु परम्परा तथा भक्तों संतों का प्रभाव स्पष्ट था । इसी प्रकार उनकी चिन्तन शैली तथा सत्संग पर मीरदाद का प्रभाव भी स्पष्टतः परिलक्षित होता था । अदृश्य महात्माओं में उनका संपर्क किस-किस के साथ हुआ तथा उन्होंने किससे क्या ग्रहण किया, यह जानने का हमारे पास कोई उपाय नहीं । अन्य महापुरुषों के प्रभाव के अतिरिक्त, महाराजश्री के पास स्वतंत्र विचारधारा भी थी । अपने मन-बुद्धि को खुला रख कर, निष्पक्ष चिन्तन करते हुए ही कुछ अध्ययन करते या किसी का प्रभाव ग्रहण करते थे । यदि मन को भा गया तो अपना लेते थे, अन्यथा छोड़ देते थे । फिर साधन में अनुभव की कसौटी पर कसते थे । जब तक पूरा नहीं उतरे, अपनाते नहीं थे । मीरदाद के विचारों में इतनी स्पष्टता, सादगी, पुख्तगी तथा दार्शनिकता है कि महाराजश्री को उनकी चिन्तन शैली अपनाने में कठिनाई नहीं आई ।

(३३) दो शरीर का अनुभव

दोपहर का समय था । गरमी का मौसम था । मैं गुफा के पास वाले मकान में वराण्डे में रखे बैंच पर बैठा था, नेत्र खुले थे । मन में उस समय कुछ अजीब सी शान्ति व्याप्त थी । संसार मुझसे बहुत दूर चला गया हुआ प्रतीत हो रहा था । इतने में देखा कि मेरा ही शरीर, मेरी ही आँखों के सामने, किन्तु मुझ से अलग सामने के बगीचे में टहल रहा है । एक क्षण के लिए मैं सकते में आ गया । फिर अपने शरीर को चलते हुए देखने लगा । कभी सीढ़ियाँ उतर जाता, कभी ऊपर आ जाता । कभी सामने लगी चाँदनी के वृक्षों में से एक फूल तोड़ लेता । कभी बंदर की तरह उछलने—कूदने लगता । कुछ देर दृश्य आँखों के सामने रहा, फिर विलीन हो गया ।

मैं सोचने लगा, "यह क्या ? मेरे दो शरीर ! वही चेहरा-मोहरा, वही कद काठी वही वस्त्र, कहीं कुछ भी अन्तर नहीं । यह कैसे हो सकता है ? यह कैसी माया है ? मेरा यह शरीर वास्तविक है या वह ? मैं बैंच पर बैठा था या बगीचे में टहल रहा था ! कहीं मैं पागल तो नहीं हो रहा ? बड़ी देर तक इन्हीं उलझन भरे विचारों में खोया रहा ।

रात को महाराजश्री के आराम में चले जाने के पश्चात् साधन के लिए गुफा में गया । कुछ देर शारीरिक क्रियाएँ होती रहीं । साथ-साथ दिन में घटित अनुभूति के विषय में विचार भी उमड़ते रहे फिर एकाएक शारीरिक क्रियाएँ ठहर गईं, विचारों की आँधी रुक गई । मन की स्तब्ध, शान्त अवस्था उदय हो गई । कुछ ध्यान सा लग गया । ध्यान की अवस्था में ऐसा दृश्य दिखाई दिया कि मेरा मृत शरीर पृथ्वी पर पड़ा है । मैं पास खड़ा देख रहा हूँ । रिश्ते-नाते मृतक शरीर से लिपट कर रो रहे हैं । घर में सर्वत्र मातम छाया था । मैं खड़ा हँस रहा था । कभी रोने वालों की नासमझी पर रोना आता था । कितने मूर्ख हैं ! यह सब लोग जो इस शरीर को अपना मान रहे थे । इन लोगों के शरीरों का भी तो एक दिन यही हाल होने वाला है ।

भगवती क्रियाशक्ति ने यह कैसा अनुभव कराया । मैं एक ही समय में जीवित भी, तथा मृत भी ? द्रष्टा भी तथा दृश्य भी ? एक ही शरीर, दो शरीर कैसे बन गया ? मैं वह भी, जिसके लिए लोग रो रहे हैं, और मैं ही वह, जो उन्हें रोते हुए देख रहा है । चेतन तथा अचेतन अवस्थाओं का अद्‌भुत संगम । मैं फिर गहन विचार-सागर में डूब गया । मन में एक तरंग उठती, तो एक विलीन हो जाती । मैं तन्द्रावस्था में अपने बिस्तर पर पड़ा था, तो ऐसा प्रतीत हुआ जैसे मैं अपने ही शरीर में से, एक के दो होकर, शरीर से बाहर निकल रहा हूँ । धीरे-धीरे दूसरा शरीर बाहर निकल हवा में खड़ा हो गया । मेरा शरीर मेरे ही सामने बिस्तर पर मृतवत् पड़ा था, मैं थोड़ी देर अपने शरीर को देखता रहा, तत्पश्चात् उड़ चला । आकाश मण्डल में, नदियों, पहाड़ों, वनों, नगरों को लांघता हुआ, एक ऐसे प्रदेश में जा पहुँचा जहाँ हरियाली ही

हरियाली, पुष्प ही पुष्प, सुगंध ही सुगंध थी । कुछ देर उस प्रदेश में घूमने के पश्चात् वापिस आया तो मेरा शरीर वैसे ही अचेत पड़ा था । मैं अपने शरीर में दोबारा घुस गया । शरीर में पुन: चेतना जाग्रत हो गई । मेरी तन्द्रा टूट गई ।

मेरे सामने एक शरीर के दो शरीर हो जाने के तीन अनुभव थे, जो पिछले कुछ ही घण्टों में घटित हुए थे । इन अनुभवों ने मुझे गहरे सोच में डाल दिया था । क्रियाशक्ति मुझे क्या समझाना चाहती है, मैं समझ नहीं पा रहा था । कौनसे संस्कारों को क्षय करना चाहती है, कौनसे आवरण उतारना चाहती है ? मैं तो एक ही हूँ । जीवन भर एक ही रहा, अब दो कैसे अनुभव कर रहा हूँ ? इसमें क्या रहस्य है ? कहीं मेरा दोहरा व्यक्तित्व तो नहीं उभर रहा ? कई प्रकार की शंकाएँ- कुशंकाएँ मन में सिर उठाने लगीं । रात भर, इन्हीं विचारों में व्यतीत हो गई ।

प्रात:काल भ्रमण के समय, मैंने महाराजश्री के समक्ष अपनी समस्या कह सुनाई । तीनों अनुभवों का भी वर्णन किया तथा पूछा कि इन अनुभवों का क्या अर्थ है । महाराजश्री बोले, "ऐसे अनुभवों के बिना देहासक्ति नहीं जाती । चाहे कितना भी विचार-चिन्तन करो, स्वाध्याय या जप-पूजन करो, आराधना या प्राणायाम करो, किन्तु देहासक्ति का नाश नहीं होता । जब ऐसे अनुभव बार-बार होते हैं कि देह तो जीवन से भिन्न है तथा वह जीव को कभी भी छोड़ सकता है तो देहासक्ति के नाश की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है । केवल एक ही बार ऐसा अनुभव हो जाना काफी नहीं । अब सारा विषय क्रमिक समझाता हूँ ।

"तुम्हारा प्रथम अनुभव स्वरूप दर्शन, अपने ही रूप के अपने से भिन्न दर्शन कहा जाता है । जिसमें अपने शरीर का प्रतिबिम्ब उसी प्रकार दिखाई देता है जैसे दर्पण में शरीर का बिम्ब देखा जाता है । इससे शरीर दो नहीं होते, केवल दो हुए से दिखाई देते हैं । इस अनुभव में सूक्ष्म शरीर की कोई भूमिका नहीं होती, स्थूल शरीर ही मात्र प्रतिबिम्ब होता है । एक शरीर का दो शरीरों में प्रकट होने का अनुभव भी तभी होता है जब स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर पृथक हो जाता है, किन्तु स्वरूप दर्शन में ऐसा कुछ नहीं होता । यह अनुभव नहीं, अनुभव की प्रतीति है । इस प्रतीति से देहासक्ति का नाश होना भी आरंभ नहीं होता है किन्तु फिर भी उस दिशा में एक कदम अवश्य है । एक शरीर के दो हो जाने का भान तो आरंभ हो ही जाता है । तुम्हारे दूसरे शरीर की क्रियाएँ अवश्य, तुम्हारे स्थूल शरीर में संचित संस्कारों के अनुसार ही थीं किन्तु तुम्हारा अहंकार अभी बाहर नहीं आया था । अभी भी अहम् स्थूल शरीर में ही था ।

"तुमने दूसरे अनुभव में मृत शरीर को देखा, अर्थात् तुम्हारे स्थूल शरीर का अन्त वर्तमान में, तुम्हारे समक्ष उपस्थित हुआ । जब मृत्यु सामने दिखाई देने लगती है, तो देह में आसक्ति होने से भय भी लगता है तथा देहासक्ति का नाश भी होने लगता है किन्तु तुम्हारी

देहासक्ति का अभी नाश नहीं हुआ, क्योंकि तुम्हारा अहम् अभी भी स्थूल शरीर में ही है। अनुभव में तुम जिस मृत्यु को देख रहे हो वह तुम्हारे शरीर की नहीं, शरीर के बिम्ब की है। यह तो वही बात हुई जैसे कोई अभिनय करता है, अभिनय में मृत्यु दिखाई जाती है तथा फिर अभिनय में हुई मृत्यु का चित्र स्वयं ही देखता है किन्तु यह उदाहरण स्थूल स्तर का है जबकि यह अनुभव सूक्ष्म स्तर पर घटित हुआ है। इस अनुभव में भी सूक्ष्म शरीर, स्थूल से पृथक नहीं हुआ, यह भी मात्र प्रतीति ही है जिसमें अहम् स्थूल शरीर में ही बैठा है। इसका आधार भी संचित संस्कार ही है। इसलिए इसका महत्व तथा प्रभाव कहीं अधिक गहरा है, जगत की असारता का विचार पुष्ट होता है, जब तुम सगे- संबंधियों का रोना- धोना मूर्खता समझते हो। यह सब देहासक्ति से निवृत्त होने की एक यात्रा है।

"तुम्हारा तीसरा अनुभव अधिक स्पष्ट है क्योंकि उसमें तुम अपने स्थूल शरीर से अलग हटकर, अपने स्थूल शरीर को देखते हो। तुम्हारा स्थूल शरीर, प्रतिबिम्बित शरीर हो जाता है। द्रष्टाभाव अर्थात् अहंकार, सूक्ष्म शरीर सहित बाहर निकल जाता है तथा तुम्हारा स्थूल शरीर जड़वत् रह जाता है। यह प्रतीति नहीं अनुभव है। यद्यपि स्थूल शरीर में प्राण विद्यमान रहते हैं किन्तु उनकी सभी क्रियाएँ स्थगित हो जाती हैं। दोनों शरीर चेतना की पतली डोर से बँधे रहते हैं, जिसके माध्यम से प्राणशक्ति स्थूल शरीर में विद्यमान तो रहती है, किन्तु उसकी क्रियाशीलता प्रसारित सूक्ष्म शरीर में होती है। यही जीते जी मृत्यु का अनुभव है, जिसे सूक्ष्म शरीर स्थूल से पृथक होकर अनुभव करता है, यहीं से देहासक्ति का नाश भी आरंभ हो जाता है। यह नाश तब तक पूरी तरह नहीं होता, जब तक चित्त में इसके संस्कार रहते हैं। ऐसे अनुभवों के होते समय आसक्ति दब जाती है किन्तु अनुभव समाप्त हो जाने पर पुन: उभर आती है। इसीलिए ऐसे अनुभवों की बार-बार आवश्यकता है।

"एक बात और है। अभी यह अनुभव तुम्हारे मानसिक संकल्प के अधीन नहीं है। तुम्हारे संचित संस्कारों के आधार पर, क्रिया शक्ति की एक लीला है। इसी आधार पर यह अनुभव अनेक बार तुम्हें हो सकता है। फिर ऐसी स्थिति भी आ सकती है जब यह तुम्हारे संकल्प के अधीन हो जाए, अर्थात् तुम्हारे सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से निकलना, जब तक चाहो अलग बने रहना तथा जब चाहो वापिस लौट आना तुम्हारी मौज पर आधारित हो जाए। तब वास्तविक अर्थ में देहासक्ति का नाश आरंभ होगा। अभी तुम क्रिया के अधीन हो, तब क्रिया तुम्हारे अधीन हो जाएगी किन्तु इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए पहले अहम् का चित्त से ऊपर उठकर, चैतन्य के स्तर पर स्थापित होना आवश्यक है। इसी से संबंधित विद्या, परकाया प्रवेश है। यदि कभी तुम्हें इस विद्या में भी निपुणता प्राप्त हो गई तो तुम सूक्ष्म शरीर से, किसी भी मृत शरीर में प्रवेश पा सकोगे। तब शरीरों का महत्व गौण हो जाएगा एवं देहासक्ति समाप्त हो जाएगी।

"स्वप्न में भी ऐसा कई बार अनुभव होता है कि स्वप्न के हम स्वयं भी एक पात्र हैं जिसमें अपने जीवात्म प्रतिबिम्ब को, समग्र स्वप्न सहित द्रष्टाभाव से देखते हैं । अर्थात् हमारा एक स्वरूप स्वप्न में होता है तो दूसरा उस स्वप्न को देखने वाले के रूप में, किन्तु स्वप्न वाले स्वरूप में द्रष्टाभाव या अहंकार नहीं होता, इसलिए उससे देहासक्ति का नाश नहीं होता ।

"सूक्ष्म शरीर में स्थूल शरीर छुपा है । सूक्ष्म शरीर की सूक्ष्म इन्द्रियाँ प्रकट हो कर, स्थूल इंद्रियों का रूप ग्रहण करती हैं । कभी मनुष्य का आकार ले लेती हैं तो कभी किसी पशु या पक्षी का । फिर मृत्यु होने पर सूक्ष्म इंद्रियाँ, सूक्ष्म शरीर में समा जाती हैं । कुछ साधकों को साधन में ऐसी अनुभूति होती है कि जीवित अवस्था में ही, मन तथा अहंकार सहित सूक्ष्म इंद्रियाँ सूक्ष्म शरीर में विलीन होकर तथा स्थूल शरीर से अलग हटकर, शरीर की अचेतनता का अनुभव करवा देती हैं । सूक्ष्म शरीर ही जीव का वास्तविक व्यक्तित्व है । सूक्ष्म शरीर एक चेतन डोरी से स्थूल शरीर के साथ बँधा रहता है । उसी डोरी के माध्यम से सूक्ष्म इंद्रियाँ, स्थूल इंद्रियों के रूप में प्रकट होती हैं । उसी डोरी के माध्यम से चेतना, संकल्प, वासनाएँ, भाव तथा कुभाव इन्द्रियों तक पहुँचते हैं । सूक्ष्म शरीर तथा स्थूल शरीर को मिलाने वाली इस डोरी के टूट जाने का अर्थ है, मृत्यु । किन्तु जब सूक्ष्म शरीर अलग हट कर, स्थूल शरीर से दूर चला जाता है, किन्तु फिर भी डोरी के माध्यम से दोनों का संबंध बना रहता है तो उसे सूक्ष्म तथा स्थूल की पृथकता का अनुभव कहा जाता है ।"

उपरोक्त विवेचन से मुझे निम्न बातें स्पष्ट हो गईं—

(१) सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से पृथक होना एक अनुभव है ।

(२) संस्कारों के आधार पर यह अनुभव कई बार हो सकता है ।

(३) यह भी संभव है कि दोबारा यह अनुभव हो ही नहीं ।

(४) इस अनुभव का उद्देश्य देहासक्ति त्याग करना है ।

(५) इसे साधन में उदय होने वाली, एक सिद्धि भी समझा जा सकता है ।

प्रश्न– योग-दर्शन में तो इस विद्या का उल्लेख कहीं दिखाई नहीं देता ?

उत्तर– सूत्र रूप में, योग-दर्शन में, इसका उल्लेख है । जो चित्त निर्माण किया जाता है वह चित्त रहित होता है, उसमें कोई संस्कार संचय नहीं होता । यदि चित्त को साथ लेकर, अर्थात् सूक्ष्म शरीर सहित उसका कोई विशेष उपयोग किया जाए तो वह निर्माण चित्त नहीं, सिद्ध-चित्त होता है, जैसे आदि शंकराचार्य ने किया था । जब मण्डन मिश्र की पत्नी भारती ने कामशास्त्र विषयक विवाद आरंभ कर दिया, जिसका शंकराचार्य को कुछ भी अनुभव नहीं था, तो उन्होंने उत्तर देने के लिए एक महीने का समय माँग लिया । वहाँ का राजा उसी

समय शान्त हुआ था । शंकराचार्य ने अपने शरीर को एक गुफा में समाधिस्थ कर, सूक्ष्म शरीर सहित, स्थूल शरीर का त्याग कर दिया तथा राजा की मृत देह में प्रवेश कर गए । राजा पुनर्जीवित हो गया । अपने स्थूल शरीर की पवित्रता की रक्षा करते हुए, राजा के देह के माध्यम से कामशास्त्र का ज्ञान अर्जित किया । उनका सूक्ष्म शरीर उस समय राजा की देह में उपस्थित था, इसीलिए उसमें ज्ञान के संस्कार संचय हो सके, तथा उस ज्ञान की स्मृति भी बनी रह सकी । वह चित्त निर्माण-चित्त नहीं, सिद्ध चित्त था । किन्तु यदि अहंकार स्थूल शरीर में बना रहे तथा अहंकार विहीन चित्त का निर्माण किया जाए तो वह निर्माण चित्त है, यह आशय है । इस का उल्लेख योग दर्शन में इस प्रकार मिलता है । ध्यान रहे कि योगदर्शन सूत्रात्मक ग्रन्थ है जिसमें प्राय: बाते संकेत से ही कही गई हैं ।

प्रश्न– क्या इस अनुभव के बिना देहासक्ति त्याग का कोई उपाय नहीं ?

उत्तर– ऐसा नहीं है । सूक्ष्म शरीर द्वारा स्थूल देह के त्याग का अनुभव आवश्यक नहीं है । किन्तु किसी न किसी रूप में स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर की पृथकता का अनुभव अवश्य होना चाहिए, अन्यथा साधक कल्पनात्मक अथवा भावनात्मक स्तर पर ही, अपने आपको स्थूल देह से पृथक मानता रहेगा । शास्त्रीय ज्ञान केवल विचार दे सकता है, पाठक कल्पना लोक में विचर सकता है, किन्तु अनुभवयुक्त ज्ञान प्रदान नहीं कर सकता । इस अनुभव के प्रश्चात् साधक के वैराग्य में परिपक्वता आ जाती है । वैसे यह अनुभव भी प्रकृति के स्थूल तथा सूक्ष्म स्तरों का पृथकत्व ही है, जड़ तथा चेतना की भिन्नता नहीं किन्तु साधक को पहले इसे पार करना होता है ।

प्रश्न– किन्तु शक्तिपात् की साधना प्रणाली में तो चेतन का अनुभव आरंभ से ही होने लगता है, फिर प्रकृति के स्थूल तथा सूक्ष्म स्तरों के अनुभव की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर– शक्तिपात् में जिसे तुम चेतन का अनुभव कहते हो, वह संस्कारों के आधार पर चित्त तथा इन्द्रियों के माध्यम से, शक्ति का नहीं, शक्ति की क्रियाशीलता का अनुभव है, जिसमें साधक आरंभ से ही देह से ऊपर नहीं उठ जाता, न ही देह की अपने से भिन्नता अनुभव होने लगती है । स्थूल देह से सूक्ष्म का भिन्नत्व अनुभव करने से पहले चित्त पर सें आवरणों को हटाना आवश्यक है । शक्ति जाग्रति के पश्चात् सर्वप्रथम यही करती है । अनुभव कैसे भी तथा तीव्रता कितनी भी हो, किन्तु साधक की यह प्रारंभिक अवस्था ही होती है । अभी तक भी वह अपने आप को स्थूल जगत का अंग ही मानता रहता है । चित्त के आवरण उतर जाने के पश्चात् ही उसे पूरी तरह स्थूल तथा सूक्ष्म देहों की भिन्नता का ज्ञान हो पाता है ।

प्रश्न– तो क्या यह पठन-पाठन, पूजा-साधना, जप प्राणायामादि सब व्यर्थ हैं ?

उत्तर– नहीं, ये व्यर्थ नहीं । किन्तु ये ही सब कुछ नहीं । जाग्रति की अवस्था प्राप्त करने का साधक का प्रयत्न है । स्थूल-सूक्ष्म स्तरों की अनुभूति इन के अधीन नहीं है, शक्ति की क्रियाशीलता की अनुभूतियों पर निर्भर करती है । ये सब प्रयत्न उसी क्रियाशीलता का आरंभ करने के लिए हैं ।

प्रश्न– क्या एक बार स्थूल-सूक्ष्म देहों का भिन्नत्व अनुभव हो जाने पर देहासक्ति का नाश हो जाता है ?

उत्तर– नहीं । एक बार के अनुभव से ही देहासक्ति नहीं जाती । बार-बार इसका अनुभव करना होगा । प्रत्येक बार के अनुभव में कुछ संस्कार क्षीण होंगे, तब कहीं जाकर, पूर्ण वैराग्य एवं देह के प्रति आसक्ति का त्याग होगा ।

प्रश्न– इसका अर्थ यह हुआ कि अध्यात्म की यात्रा बहुत ही लम्बी है । साधक तो बड़ा शीघ्र ही उछलने लगता है तथा अपने आप को कृतकृत्य मान लेता है । जबकि वास्तविकता यह होती है कि न ही उसके चित्त से आवरण उतरे होते हैं तथा न ही उस की देहासक्ति का त्याग ही हुआ होता है । ऊपर के अनेक, आने तथा पार करने वाले पड़ावों का तो अभी प्रश्न ही नहीं उठता ।

उत्तर– यह निर्णय तो प्रत्येक साधक चित्त में झाँक कर ही कर सकता है। स्थूल-सूक्ष्म शरीरों की पृथकता का अनुभव काफी सूक्ष्म स्तर पर होता है । प्राय: साधक तो अभी स्थूलता के बाह्य लक्षणों काम, क्रोध अभिमान तथा स्वार्थ में ही उलझे होते हैं। इसलिए बार-बार यही कहा जाता है कि अध्यात्म केवल बातों का ही विषय नहीं है । माया का आवरण एक-एक ही उतरता है । उसमें समय तो लगता ही है । जन्म, जन्मान्तर की यात्रा है, वह भी यदि निरन्तर चलती रहे तो ।

(३४) स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज

उन दिनों मैं समय मिलने पर श्री नारायण उपदेशामृत पुस्तक लिखने का प्रयत्न कर रहा था । सामग्री जुटाना एक समस्या थी । महाराजश्री के गुरु बंधु स्वामी प्रणवानन्द जी महाराज, उन दिनों देवास आश्रम पर ही रह रहे थे । वह स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज के साथ, उनके आश्रम में कुछ दिन रहे थे । उनसे कई बातों की जानकारी मिली । कुछ दिनों बाद स्वामी प्रणवानन्दजी तो चले गए किन्तु पुस्तक लिखने की सामग्री पूरी न हो पाई । कोई तीस- चालीस पृष्ठ ही बन रहे थे । इतने में बंगला में लिखी स्वामी नारायण तीर्थ देवजी की एक पुस्तक कहीं से मिल गई । महाराजश्री को बंगला भाषा का थोड़ा अभ्यास था, जिससे वह अनुवाद कर के मुझे बताते थे । उसीके आधार पर मैं पुस्तक लिख सका । महाराजश्री ने स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज के बारे में जो विचार व्यक्त किए वह इस प्रकार हैं–

(१) श्री स्वामीजी महाराज ऐसे महापुरुष थे जिन पर उनके गुरुदेव ने विश्वास किया तथा वह उस पर खरे उतरे । उनके गुरुदेव त्यागी, तपस्वी, एकान्तप्रिय थे किन्तु जगत कल्याण का मन में भाव था । इसलिए ऐसे व्यक्ति की तलाश में थे जो त्यागी तपस्वी जीवन भी बिताए तथा जन-कल्याण का कार्य भी करे । अन्ततः स्वामीजी महाराज के रूप में उन्हें ऐसा व्यक्तित्व मिला । श्री स्वामीजी जीवन भर कभी धन के पीछे नहीं भागे । कभी लोभ में आकर दीक्षा नहीं दी । प्राचीन ऋषियों की भाँति भिक्षा पर रहकर आश्रम चलाया तथा अत्यन्त गरीबी में ही समय बिता दिया । कई राजा-जागीरदार दीक्षा के लिए आए परन्तु इंकार कर दिया । किसी धनिक पर विश्वास करने से पूर्व सौ बार सोचते थे । दूसरी ओर शक्ति प्रवाह की ऐसी गंगा बहाई कि आज सारा भारत उसमें स्नान कर रहा है । उनके शिष्यों में स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ महाराज, श्री योगानन्दजी महाराज, श्री अश्विनीकुमार भट्टाचार्य जैसे महारथी शक्तिपाताचार्य हुए, जिन्होंने उनके कार्य को आगे बढ़ाया । जिस प्रकार कमल कीचड़ में ही खिलता है, उसी प्रकार गरीबी, त्याग तथा तपस्यामय जीवन में ही अध्यात्म विद्याओं का विकास होता है । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण स्वामीजी महाराज थे ।

(२) दूसरा उदाहरण स्वामीजी महाराज ने धैर्य धारण करने का उपस्थित किया । उनके गुरुदेव ने आदेश दिया कि घर वापिस जाओ, अपने कर्त्तव्य पूरे करो, तब तक तुम्हारी शक्ति, क्रिया रहित अवस्था में रहेगी । जब तुम अपने कर्त्तव्यों से निवृत्त हो जाओगे, तो पुनः क्रियाशीलता प्रकट हो जाएगी । वापिस आकर आप ने नौकरी की । पारिवारिक कर्त्तव्यों का निर्वाह किया, किन्तु साधना को नहीं छोड़ा । लगभग बीस वर्ष तक शक्ति की क्रियाशीलता की प्रतीक्षा में जप, गीता पाठ, भजनादि का अभ्यास करते रहे अर्थात, कर्त्तव्य पालन के साथ अध्यात्म वृत्ति भी अपनाए रखी । यह एक ऐसा उदाहरण है जो सभी के लिए विचारणीय तथा अनुकरणीय है । इतना धैर्य, इतना उत्साह, ऐसी लगन, उनमें अध्यात्म के प्रति थी कि कोई कठिनाई या कर्त्तव्य, उनका मार्ग नहीं रोक पाए । वह प्रत्येक अवस्था में अध्यात्म पथ पर बढ़ते ही रहे । साढ़े उन्नीस वर्ष की सतत् साधना के पश्चात् वह समय आ गया जिसकी वह धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे । अर्थात् शक्ति की क्रियाशीलता प्रकट हो गई । जब प्रकट हुई तो ऐसी कि स्वामीजी महाराज साधन-गगन में एक उज्ज्वल सितारे की भाँति चमकने लगे ।

(३) उनका आश्रम क्या था ? फूस के दो टापरे तथा वट-वृक्ष के नीचे बनी काली माता की एक मढ़ैया । न कोई साधना कक्ष न सत्संग हाल, न लोगों के ठहरने के कमरे, न कोई बाथरूम । आश्रमवासियों तथा आगंतुकों का सीधा-सादा जीवन । न बिजली के पंखे न पानी के नल । तालाब पर नहाओ, पेड़ों के नीचे बैठकर भोजन करो तथा साधन करो । न कोई अनावश्यक बातचीत, न समय की बरबादी । कड़क अनुशासन किन्तु प्रेममय

आत्मस्मरण । राग-द्वेष, निन्दा, क्रोध के लिए कोई स्थान नहीं । आश्रम का कोना-कोना जैसे शांति की अनुभूतियों से लबालब भरा हो । जहाँ बैठो, वहीं साधन-कक्ष, जहाँ जाओ वहीं भगवान का मंदिर । हर स्थान पर श्री स्वामीजी महाराज की उपस्थिति अनुभव होती थी । ऐसा प्रतीत होता था मानो भक्ति तथा शांति आश्रम में सर्वत्र नाच रही है ॥

(४) पूर्वी बंगाल (वर्तमान बंगलादेश) बड़ा विचित्र देश है । वर्षा ऋतु में नदी-नाले उफन कर आकर सब एक हो जाते हैं । आसाम का जल उतर कर सारे देश में फैल जाता है । देश का अधिकांश भाग जलमग्न हो जाता है । खेतों में ही, खेत की मिट्टी एकत्रित कर, एक ऊँचे टीले का रूप दे दिया जाता है तथा उस पर घर बनाया जाता है । एक घर से दूसरे घर तक जाने के लिए नाव की आवश्यकता होती है । स्वामी जी महाराज ऐसी विकट परिस्थितियों में भिक्षा के लिये जाया करते थे । जलाने के लिए जंगल से लकड़ी, उपले इकट्ठे करते थे, लकड़ियाँ बीनकर लाते थे तथा साधन करते थे । कितना तपोमय जीवन तथा कैसा अध्यात्म भाव ! जब ब्रह्मचारी आत्मप्रकाश (स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ महाराज) आश्रम में रहने के लिए आ गए तो भिक्षा कार्य उन्होंने संभाल लिया । ब्रह्मचारीजी लगभग आठ वर्ष गुरुसेवा में रहे । तब तक दूसरे लोग भी आ गए थे । इस प्रकार धन के अभाव में साधक का जीवन यापन कैसे होता है, उसका एक क्रियात्मक उदाहरण स्वामीजी महाराज का आश्रम संचालन का ढंग था । स्वामीजी महाराज अध्यात्मियों को दीक्षा देने में अधिक रुचि रखते थे । इसलिए आश्रम की आर्थिक सेवा भी नगण्य ही थी ।

(५) आगंतुकों के लिए यह नियम था कि यदि वह कोई वस्तु खाने के लिए बाजार से मँगवाएँ तो सभी आश्रमवासियों के लिए मँगवाएँ । यदि सबके लिए नहीं, तो अपने लिए भी नहीं । समय व्यर्थ नहीं गँवा कर, साधन में लगाएँ या अध्ययन, जपादि करें । कभी कोई कुछ अनुचित बात कह दे या दुर्व्यवहार करे, तो सहन करें । साधक साधनों का दुरुपयोग नहीं करे । अध्यात्म का उदाहरण प्रस्तुत करना उनका कर्तव्य है इसलिए उनका जीवन दूसरों के लिए अनुकरणीय होना चाहिए । सहनशीलता, उदारता तथा तपोमय जीवन का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करें । जो लोग बाहर से आते हैं वह स्वार्थ, वासना तथा रागद्वेष की अग्नि में झुलस रहे होते हैं, उन्हें प्रेम तथा शान्त व्यवहार की नितान्त आवश्यकता होती है । यदि आश्रम में आकर भी उन्हें जगत जैसा व्यवहार ही सहन करना पड़े तो आश्रम निरर्थक हो जाता है ।

(६) स्वामीजी महाराज शक्तिपात के प्रवर्तक आचार्य थे । यद्यपि यह विद्या पूर्व में भी विद्यमान थी किन्तु रत्नों की [illegible] की भांति गुप्त रूप से ही [illegible] थी । उसे भूमि से, दबे धनागार की तरह, बाहर निकाल कर जन-जन तक पहुँचाने का गुरुतर कार्य आपने ही आरंभ किया । इसे शुद्ध स्वरूप में जगत के समक्ष प्रस्तुत करने का [illegible] भी आप

पर ही था । उन्होंने साधन में, इच्छाओं-कामनाओं का समावेश नहीं करने पर विशेष बल दिया । इस समावेश से साधन का रूप विकृत हो जाता है, यह आपने सभी शिष्यों को बार-बार समझाया । स्वयं अपने व्यवहार से भी यही दर्शाने का प्रयत्न किया कि कामना रहित जीवन कैसे व्यतीत किया जाता है तथा कठिनाइयों और प्रारब्ध जनित दु:खों को कैसे सहन किया जाता है । वह चाहते तो कितने भी सुख साधन जुटा सकते थे । उनसे दीक्षा लेने की प्रार्थना करने वालों में धनिकों की कमी नहीं थी, किन्तु आपने कभी उधर लक्ष्य नहीं दिया तथा दीक्षा के लिए चित्त-स्थिति को ही आधार बनाया ।

(७) स्वामीजी प्रात:काल तीन बजे उठ जाते थे । आश्रमवासियों तथा आंगतुकों को भी उठा दिया जाता था । इस नित्य नियम में अपवाद तभी होता था जबकि कोई अस्वस्थ हो जाए । चाय का रिवाज उस समय तक था ही नहीं । अत: नित्य कर्मों से निवृत्त होकर, साधन ही एकमात्र कार्य था ।

(८) स्वामीजी महाराज अपने गुरुदेव से केवल एक बार ही मिले थे, जब कि उन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी किन्तु गुरुदेव के आदेश का स्मरण सदैव बना रहता था । उन्होंने आजीवन, उसका पालन भी किया । घर लौटकर, नित्य प्रति पूजा अर्चा आरंभ करने से पूर्व गुरु महाराज का ध्यान करते तथा ऐसा करके ही कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त होते थे । कर्त्तव्य कार्य करते हुए भी, गुरुदेव को अपने समीप ही अनुभव करते थे । जब स्वामीजी महाराज स्वयं गुरु गादी पर आसीन हुए, तो भी गुरुसेवा का भाव ही मन में रखते थे । इस प्रकार शारीरिक रूप से गुरुदेव से दूर होते हुए भी, मानसिक रूप से सदा गुरुदेव के समीप ही थे ।

(९) स्वामीजी महाराज का प्रसंग तब तक अधूरा रहेगा जब तक ब्रह्मचारी आत्म प्रकाशजी की चर्चा नहीं की जाए । निरन्तर आठ वर्ष तक, श्री गुरुचरणों का आश्रय लेकर, गुरुसेवा का जो अद्वितीय उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किया, उसकी उपमा देना कठिन है । आप पर गुरुसेवा का ऐसा नशा चढ़ा था कि दूसरी कोई बात सूझती ही नहीं थी । पानी में तैर कर भिक्षा के लिए जाना, जलाने के लिए लकड़ी-कण्डे लाना, साग-पत्ती इकट्ठी करके लाना, झाड़ू लगाना तथा आश्रम के प्रत्येक कार्य के लिए हर समय प्रस्तुत रहना । प्रात: तीन बजे साधन को उठ जाना, फिर सेवा कार्य में जुट जाना । वह एक ऋषिकालीन ब्रह्मचारी थे, जो गुरुदेव को भगवान मानकर, उनकी सेवा को भी पूजा ही समझते थे । उनके द्वारा की गई सेवा के सामने अन्य सेवक बौने प्रतीत होते हैं ।

बाद में स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ महाराज के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के उपरान्त भी, उनका गुरु-सेवा का भाव वैसा ही बना रहा । उनके समीप, गुरु आश्रम में सेवा करना तथा गुरु बनकर स्वयं गुरु गादी पर बैठना, गुरुसेवा के ही दो रूप हैं । जो स्वयं गुरु होने का अभिमान पाल लेता है तो यह उसका पतन है ।

वातावरण । राग-द्वेष, निन्दा, क्रोध के लिए कोई स्थान नहीं । आश्रम का कोना-कोना जैसे शक्ति की अनुभूतियों से लबालब भरा हो । जहाँ बैठो, वहीं साधन-कक्ष, जहाँ जाओ वहीं भगवान का मंदिर । हर स्थान पर श्री स्वामीजी महाराज की उपस्थिति अनुभव होती थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो भक्ति तथा शक्ति आश्रम में सर्वत्र नाच रही है ।

(४) पूर्वी बंगाल (वर्तमान बंगलादेश) बड़ा विचित्र देश है । वर्षा ऋतु में नदी- नाले उफान पर आकर सब एक हो जाते हैं । आसाम का जल उतरकर सारे देश में फैल जाता है । देश का अधिकांश भाग जलमग्न हो जाता है । खेतों में ही, खेत की मिट्टी एकत्रित कर, एक ऊँचे टीले का रूप दे दिया जाता है तथा उस पर घर बनाया जाता है । एक घर से दूसरे घर तक जाने के लिए नाव की आवश्यकता होती है । स्वामी जी महाराज ऐसी विकट परिस्थितियों में भिक्षा के लिये जाया करते थे । जलाने के लिए जंगल से कण्डे, उपले इकट्ठे करते थे, लकड़ियाँ बीनकर लाते थे तथा साधन करते थे । कितना तपोमय जीवन तथा कैसा अध्यात्म भाव ! जब ब्रह्मचारी आत्मप्रकाश (स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ महाराज) आश्रम में रहने के लिए आ गए तो भिक्षा कार्य उन्होंने संभाल लिया । ब्रह्मचारीजी लगभग आठ वर्ष गुरुसेवा में रहे । तब तक दूसरे लोग भी आ गए थे । इस प्रकार धन के अभाव में साधक का जीवन यापन कैसे होता है, उसका एक क्रियात्मक उदाहरण स्वामीजी महाराज का आश्रम संचालन का ढंग था । स्वामीजी महाराज अभावग्रसितों को दीक्षा देने में अधिक रुचि रखते थे । इसलिए आश्रम की आर्थिक सेवा भी नगण्य ही थी ।

(५) आगंतुकों के लिए यह नियम था कि यदि वह कोई वस्तु खाने के लिए बाजार से मँगवाएँ तो सभी आश्रमवासियों के लिए मँगवाएँ । यदि सबके लिए नहीं, तो अपने लिए भी नहीं । समय व्यर्थ नहीं गँवा कर, साधन में लगाएँ या अध्ययन, जपादि करें । कभी कोई कुछ अनुचित बात कह दे या दुर्व्यवहार करे, तो सहन करें । प्राकृत साधनों का दुर्व्यय नहीं करे । अध्यात्म का उदाहरण प्रस्तुत करना उनका कर्त्तव्य है, इसलिए उनका जीवन दूसरों के लिए अनुकरणीय होना चाहिए । सहनशीलता, उदारता तथा तपोमय जीवन का ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करें । जो लोग बाहर से आते हैं वह स्वार्थ, वासना तथा रागद्वेष की अग्नि में झुलस रहे होते हैं, उन्हें प्रेम तथा शान्त व्यवहार की नितान्त आवश्यकता होती है । यदि आश्रम में आकर भी उन्हें जगत जैसा व्यवहार ही सहन करना पड़े तो आना निरर्थक हो जाता है ।

(६) स्वामीजी महाराज शक्तिपात् के प्रवर्तक आचार्य थे । यद्यपि यह विद्या पूर्व में भी विद्यमान थी किन्तु नदी की अन्तर्धारा की भाँति गुप्त रूप से ही वर्तमान थी । उसे भूमि से, दबे भण्डार की तरह, बाहर निकाल कर जन-जन तक पहुँचाने का गुरुतर कार्य आपने ही आरंभ किया । इसे शुद्ध-स्वरूप में जगत के समक्ष प्रस्तुत करने का उत्तरदायित्व भी आप

पर ही था । उन्होंने साधन में, इच्छाओं-कामनाओं का समावेश नहीं करने पर विशेष बल दिया । इस समावेश से साधन का रूप विकृत हो जाता है, यह आपने सभी शिष्यों को बार-बार समझाया । स्वयं अपने व्यवहार से भी यही दर्शाने का प्रयत्न किया कि कामना रहित जीवन कैसे व्यतीत किया जाता है तथा कठिनाइयों और प्रारब्ध जनित दुःखों को कैसे सहन किया जाता है । वह चाहते तो कितने भी सुख साधन जुटा सकते थे । उनसे दीक्षा लेने की प्रार्थना करने वालों में धनिकों की कमी नहीं थी, किन्तु आपने कभी उधर लक्ष्य नहीं दिया तथा दीक्षा के लिए चित्त-स्थिति को ही आधार बनाया ।

(७) स्वामीजी प्रातःकाल तीन बजे उठ जाते थे । आश्रमवासियों तथा आंगतुकों को भी उठा दिया जाता था । इस नित्य नियम में अपवाद तभी होता था जबकि कोई अस्वस्थ हो जाए । चाय का रिवाज उस समय तक था ही नहीं । अतः नित्य कर्मों से निवृत्त होकर, साधन ही एकमात्र कार्य था ।

(८) स्वामीजी महाराज अपने गुरुदेव से केवल एक बार ही मिले थे, जब कि उन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी किन्तु गुरुदेव के आदेश का स्मरण सदैव बना रहता था । उन्होंने आजीवन, उसका पालन भी किया । घर लौटकर, नित्य प्रति पूजा अर्चा आरंभ करने से पूर्व गुरु महाराज का ध्यान करते तथा ऐसा करके ही कर्त्तव्य कर्मों में प्रवृत्त होते थे । कर्त्तव्य कार्य करते हुए भी, गुरुदेव को अपने समीप ही अनुभव करते थे । जब स्वामीजी महाराज स्वयं गुरु गादी पर आसीन हुए, तो भी गुरुसेवा का भाव ही मन में रखते थे । इस प्रकार शारीरिक रूप से गुरुदेव से दूर होते हुए भी, मानसिक रूप से सदा गुरुदेव के समीप ही थे ।

(९) स्वामीजी महाराज का प्रसंग तब तक अधूरा रहेगा जब तक ब्रह्मचारी आत्म प्रकाशजी की चर्चा नहीं की जाए । निरन्तर आठ वर्ष तक, श्री गुरुचरणों का आश्रय लेकर, गुरुसेवा का जो अद्वितीय उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किया, उसकी उपमा देना कठिन है । आप पर गुरुसेवा का ऐसा नशा चढ़ा था कि दूसरी कोई बात सूझती ही नहीं थी । पानी में तैर कर भिक्षा के लिए जाना, जलाने के लिए लकड़ी-कण्डे लाना, साग-पत्ती इकट्ठी करके लाना, झाड़ू लगाना तथा आश्रम के प्रत्येक कार्य के लिए हर समय प्रस्तुत रहना । प्रातः तीन बजे साधन को उठ जाना, फिर सेवा कार्य में जुट जाना । वह एक ऋषिकालीन ब्रह्मचारी थे, जो गुरुदेव को भगवान मानकर, उनकी सेवा को भी पूजा ही समझते थे । उनके द्वारा की गई सेवा के सामने अन्य सेवक बौने प्रतीत होते हैं ।

बाद में स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ महाराज के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के उपरान्त भी, उनका गुरु-सेवा का भाव वैसा ही बना रहा । उनके समीप, गुरु आश्रम में सेवा करना तथा गुरु बनकर स्वयं गुरु गादी पर बैठना, गुरुसेवा के ही दो रूप हैं । जो स्वयं गुरु होने का अभिमान पाल लेता है तो यह उसका पतन है ।

(१०) आज हम स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज के दिखाए मार्ग से बहुत दूर चले गए हैं। सुविधा-संपन्न एवं वैभवयुक्त आश्रम खड़े हो गए हैं। सेवा-भाव लुप्त हो गया है। साधन के प्रति गंभीरता का अभाव बढ़ता जा रहा है। अनुशासन का ह्रास होता जा रहा है। दीक्षा देने में शिष्यों की संख्या बढ़ाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। अधिकारी- अनधिकारी का विवेक कहीं खोता जा रहा है। प्राय: लोभ-अभिमान की वृत्ति पराकाष्ठा पर है। साधन में सकामता के भाव का प्रवेश होने लगा है।

जब कोई सम्प्रदाय, विचारधारा या साधन-प्रणाली आरंभ होती है तो उसका स्वरूप कुछ दूसरा होता है। धीरे-धीरे उसमें विकार घर करते जाते हैं तथा कई विभाजन होते जाते हैं। कोई भी गुप्त विद्या किसी महापुरुष के द्वारा प्रकट की जाती है, तो कुछ समय तक उसका स्वरूप शुद्ध बना रहता है प्रचार-प्रसार होते जाने के साथ, अनुयायियों की संख्या में तो बहुत वृद्धि हो जाती है, किन्तु गुणवत्ता में कमी आती जाती है। यही हाल सभी विद्याओं का हुआ है, हो रहा है। विस्तार बढ़ते जाने के साथ, विद्या के स्वरूप तथा मूल उद्देश्य से दूरी बढ़ती जाती है। विद्या के उदय के साथ ही उसका अस्त होना आरंभ हो जाता है।

प्रश्न– आपको यदि इतने अदृश्य महात्माओं के दर्शन होते हैं तो नारायण तीर्थजी के भी अवश्य होते होंगे ?

उत्तर– हाँ, होते तो हैं। उनकी ही सारी कृपा का फल है। वह तो दर्शन देते ही हैं, अन्य सभी महात्माओं में भी उन्हीं के दर्शन होते हैं तथा दिखाई देता है उनके हृदय में गुरुदेव के प्रति विश्वास तथा समर्पण का भाव। पग—पग पर वहीं प्रेरणा के स्रोत हैं।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि सभी विद्याओं का यही हाल है कि प्रकटीकरण-अप्रकटीकरण चलता रहता है। शक्तिपात् भी इस दैवी नियम का अपवाद नहीं। जो ऊपर उठेगा, वह एक दिन गिरेगा ही। एक दिन शक्तिपात् का भी बाहरी शरीर ही रह जाएगा तथा आत्मा विलीन हो जायेगी। धीरे-धीरे लोग शक्तिपात् को भूल जाएंगे।

प्रश्न– किन्तु स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज के गुरुदेव स्वामी गंगाधर तीर्थ हाराज के उस संकल्प का क्या होगा कि कलियुग में साधन करना कठिन है इसलिए उन्हीं 5 माध्यम से, शक्तिपात् विद्या को प्रकट किया।

उत्तर– कोई भी संकल्प सदा के लिए प्रभावी नहीं बना रहता। भगवान का सृष्टि नेर्माण का संकल्प भी, प्रलय होने पर समाप्त हो जाता है। हर एक संकल्प उभरता है तथा वलीन हो जाता है। जो लोग वास्तव में ही साधन के प्रति गंभीर थे, उन्हें एक सहारा मिल गया। सदैव के लिए तो ऐसा नहीं हो सकता। कई महापुरुष आए तो उन्होंने लोगों को न्मार्ग पर लगाने का प्रयत्न किया किन्तु कुछ लोग ही सन्मार्ग को पकड़ पाए। जगत आज भी अपने पुराने मार्ग पर ही चल रहा है।

प्रश्न– अच्छा महाराजजी, एक बात बताइये, नारायण तीर्थ जी दोबारा अपने गुरुदेव से मिलने क्यों नहीं गए ?

उत्तर– वह समय आज के समय से बहुत भिन्न था । रेलगाड़ी तथा बसों, सड़कों का इतना विस्तार नहीं हुआ था । अधिकतर यात्रा पैदल, घोड़ों पर या बैलगाड़ी से की जाती थी । पूर्वी बंगाल के मदारीपुर तथा ओड़ीसा के जगन्नाथपुरी में अन्तर भी कोई कम न था । नारायण तीर्थजी गरीबी के कारण खर्च भी वहन नहीं कर सकते थे । यदि पैदल आते-जाते, तो कई महीने लग सकते थे किन्तु सब से मुख्य था वह कर्तव्य कार्य, जो गुरुदेव ने दिया था । गुरुसेवा मान कर कर्त्तव्य कर्म, गुरुदर्शन से भी अधिक महत्वपूर्ण है । गुरुदर्शन तो कभी भी अन्तर में किए जा सकते हैं, किन्तु सेवा-कार्य करने से ही होता है । एक बार कोई सज्जन जगन्नाथ की यात्रा पर पुरी गए तो उन्होंने लौटकर, गुरुदेव के ब्रह्मलीन हो जाने का समाचार सुनाया किन्तु स्वामीजी के अन्तर में गुरुदेव कभी भी अदृश्य नहीं हुए । संभवत: वह अपना उत्तरदायित्व नारायण तीर्थजी महाराज को सौंपकर इहलीला समेट गए थे ।

अब मेरा विचार किसी एकान्त स्थान पर ठहर कर पुस्तक पूरी कर देने का था । उन्हीं दिनों महाराजश्री के पास विलीनात्मा नामक एक महात्मा आया करते थे । उनके साथ जा कर, नासिक जिले के अन्तर्गत लासलगाँव के एक फार्म हाउस में पन्द्रह दिन ठहरा तथा पुस्तक पूरी कर के वापस लौट आया ।

(३५) उत्तराधिकार प्रकरण

एक दिन प्रात: भ्रमण में महाराजश्री ने मुझसे कहा, "मैं अब ७५ वर्ष का हो चुका हूँ । आगे, धीरे-धीरे स्वास्थ्य नीचे की ओर ही जायेगा । अब बाकी का समय सब ओर से निवृत्त होकर, शान्ति से बिताना चाहता हूँ । इसलिये मेरा सुझाव है कि मेरा उत्तराधिकार स्वीकार करके आश्रम का उत्तरदायित्व संभाल लो ।" मैं ऐसी किसी बात के लिए तैयार नहीं था । यह सुझाव अकस्मात् ही मेरे सामने आया था । कुछ देर मैं चुप रहा, फिर बोला, "महाराजजी ! एक तो मेरी वृत्ति मूल रूप से एकान्तप्रिय है, यह तो आपकी ही शक्ति है जो मेरे से सेवा कार्य करवा रही है, अन्यथा व्यवहार की दृष्टि से मैं शून्य हूँ । देवास आने से पूर्व भी मैं एकान्त में ही रहता था । दूसरे, मैं अभी शिष्य भी नहीं बन पाया तो गुरु तो क्या बनूँगा । इसीलिए अभी तक भी आप के दीक्षा देने के आदेश का भी पालन नहीं कर सका । तीसरे मैं सबसे छोटा हूँ । मेरे से कहीं पहले के तथा योग्य व्यक्ति उपलब्ध हैं । उनमें से जिसे आप उपयुक्त समझें, उत्तराधिकारी घोषित कर दें ।"

मेरी बात सुनकर उस समय तो महाराजश्री मौन हो गए किन्तु दो- तीन दिन के पश्चात् फिर वही बात उठाई, "फिर तुम ने उत्तराधिकार के विषय में क्या सोचा ?" मैंने

निवेदन किया कि मैंने अपना विचार उस दिन ही आपके समक्ष उपस्थित कर दिया था। महाराजश्री फिर मौन हो गए।

अब मैंने विचार करना शुरू कर दिया कि उत्तराधिकार की जो समस्या सामने आ खड़ी हुई है, उससे अपने आप को कैसे बचाया जाए। महाराजश्री के मन में जो बात एक बार आ गई है, उसे दो- चार दिन बाद फिर कहेंगे। बहुत विचार करने के बाद मैंने एक दिन महाराजश्री को एक ब्रह्मचारी जी का नाम सुझा दिया तथा जमकर उनकी वकालत की। महाराजश्री ने भी 'अच्छा' कह दिया। उन ब्रह्मचारी जी को पत्र लिखकर बुलवाया गया। जब उनके सामने उत्तराधिकार का प्रस्ताव रखा गया तो थोड़ी हाँ-- न करने के उपरान्त उन्होंने स्वीकार कर लिया तथा मैंने भी चैन की साँस ली। मैं तो अपने लिए ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकता था। कहाँ महाराजश्री का सिद्ध व्यक्तित्व, साधन, विद्वत्ता तथा व्यवहार कुशलता तथा कहाँ मैं!

सायंकाल जब कुछ लोग आश्रम में आए तो सब के सामने महाराजश्री ने ब्रह्मचारीजी के नाम की, उत्तराधिकारी के रूप में घोषणा कर दी।, "अमुक को हम ने अपना उत्तराधिकारी बनाया है जिसे उन्होंने भी सहर्ष स्वीकार कर लिया है। हम तो कुछ दिनों में ऋषिकेश चले जाएँगे। हमारी अनुपस्थिति में आश्रम का उत्तरदायित्व ब्रह्मचारीजी पर होगा। आशा है आप सब लोग इस काम में उनका सहयोग करेंगे।"

उस दिन के पश्चात् मैंने ब्रह्मचारीजी को आश्रम का काम समझाना आरंभ कर दिया। महाराजश्री ने भी मेरी अनुपस्थिति में कुछ समझाया। मैंने महाराजश्री से निवेदन किया कि अब जबकि उत्तराधिकार का निर्णय हो चुका है तो क्यों न उत्तराधिकार पत्र भी लिख दिया जाए। किन्तु उत्तर मिला कि क्या जल्दी है ? लिख देंगे।

हम लोग तो कुछ देवासवासियों के साथ ऋषिकेश चले गए तथा ब्रह्मचारीजी आश्रम का काम देखने लगे, सत्संग करते, व्यवस्था देखते किन्तु न जाने क्या हुआ कि कुछ दिनों के पश्चात् वह परेशान रहने लगे। संभवत: किसी से कुछ कहा-सुनी हो गई तथा उस व्यक्ति ने भी उन्हें कोई धमकी दे डाली, जिससे ब्रह्मचारीजी घबरा गए। आश्रमवासियों ने उन्हें समझाने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु वह नहीं माने तथा चले गए। ऋषिकेश में हमें पत्र द्वारा सूचना मिली तो महाराजश्री बोले, "देखा, तुम कहते थे कि उनके नाम उत्तराधिकार पत्र लिख दो। मैं जानता था कि ठहरने वाले नहीं हैं।"

(३६) ऋषिकेश निवास

१९६२ के अन्त में महाराजश्री ऋषिकेश पधारे। साथ में देवास के कुछ और लोग भी थे। महाराजश्री सरदी के मौसम में वहां जाना अधिक पसन्द करते थे। एक तो उस समय यात्री नगण्य हुआ करते थे दूसरे बहुत सारे महात्मा भी उस समय अन्यत्र भ्रमण के

लिए निकल जाते थे, जिससे वहाँ का वातावरण एकदम शान्त होता था । एक महात्मा, जिनकी कुटिया ठीक गंगाजी के किनारे त्रिवेणी घाट के पास थी, महाराजश्री के ठहरने के लिए उपलब्ध हो गई । हम सब उसी कुटिया में जाकर ठहरे । महाराजश्री नित्य प्रति स्नान गंगाजी में ही करते थे । पहले आठ दस डुबकियाँ, फिर शरीर मलते, फिर डुबकियाँ लगाते, फिर शरीर मलते । इस प्रकार हर मौसम में गंगा स्नान का आनन्द लेते थे ।

जब महाराजश्री ऋषिकेश जाया करते थे तो कम से कम एक बार गरुड़चट्टी अवश्य जाते थे । अब तो गंगाजी के इस पार मोटर मार्ग निर्माण हो चुका है, किन्तु जिस समय उत्तराखण्ड की यात्रा पैदल होती थी, उन दिनों ऋषिकेश से चलकर, पहला पड़ाव गरुड़चट्टी ही था । अब तो चट्टी का नाम ही रह गया है । केवल चाय की एक दुकान, खाली पड़ी तथा टूटी-फूटी काली-कमली की एक धर्मशाला, तथा वीरान पड़ा गरुड़जी का मंदिर । लक्ष्मण झूला से गंगाजी पार कर के, कोई चार एक मील की दूरी । हिमालय की छटा वहाँ पर मिल जाती है ।

मुझे अभी तक वह दृश्य याद है जब गरुड़जी के मन्दिर के प्रांगण में महाराजश्री विराजमान थे तथा भक्तजन उन्हें चारों ओर घेरे बैठे थे । आध्यात्मिक चर्चा चल रही थी । महाराजश्री कह रहे थे, "मनुष्य कितना भ्रम में है ? जगत को ही सुख दुःख का कारण समझे बैठा है । जगत सामने भी है तथा अन्दर भी समाया है । वह जगत में ही सोता-उठता है । जगत के अतिरिक्त न कुछ जानता है, न जानना चाहता है । हर क्षण इसी भ्रम में बीतता है, हर कदम इसी भ्रम में उठता है । वह यह भी भूल जाता है कि जगत तो केवल जड़ है तथा जड़ जगत में कार्यशीलता होना, किसी चेतन सत्ता के संयोग से ही संभव है । शरीर की जड़ता का अनुभव भी मृत्यु ही कराती है क्योंकि चेतन सत्ता, शरीर के माध्यम से कार्य करने से हट चुकी होती है । जीव का कर्म भी जड़ है, क्योंकि उसके समक्ष भोजन का थाल परोसा भी रखा हो, किन्तु अपने आप उठकर एक भी ग्रास मुँह में नहीं आ सकता, जब तक हाथ, जो कि चेतन सत्ता से परिचालित है, ग्रास को उठाकर मुंह में नहीं रखता । जीव के कर्म का फल भी जड़ है क्योंकि प्रारब्ध को फल में बदलने के लिए भी चेतना की आवश्यकता है तथा फल भोगने के लिए भी शरीर का चेतन-युक्त होना अनिवार्य है किन्तु जीव कितना नासमझ बना बैठा है कि उस चेतन सत्ता को भूलकर जगत को, अपने शरीर को, कर्म को तथा कर्म-फल को ही सब कुछ समझे बैठा है । सूर्य का प्रकाशित होना, बादलों का कड़कना-चमकना, बरसना, वृक्षों का बढ़ना-सूखना, जीव का कर्म, संकल्प, भाव इत्यादि, सभी कुछ चेतन सत्ता की ही क्रियाशीलता है । जीव कैसा भ्रमित है ? जेल क्या अपने आप किसी को पकड़ कर, अपने अन्दर कैद कर सकती है ? क्या चेतना की क्रियाशीलता के बिना जीव एक साँस भी ले सकता है ? क्या सभी सामग्री उपस्थित होने पर भी, भोजन अपने आप बन सकता है ? क्या

शरीर के गतिशील हुए बिना कहीं जाया जा सकता है ? उसी चेतन सत्ता की अनुभूति अध्यात्म है । इस भ्रम की निवृत्ति अध्यात्म है । यथार्थ का प्रकटीकरण अध्यात्म है ।

"जगत को वृथा दोष दिया जाता है कि बंधन का कारण है । जब जगत जड़ है तो वह बंधन या मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ? यदि यह मानना ही हो, तो ऐसे मानो कि जगत केवल बंधन का कारण ही नहीं, मोक्ष का कारण भी है । वास्तव में जगत नहीं, जगत में आसक्ति बंधन का कारण है तथा जगत के प्रति अनासक्ति मोक्ष का । यह आसक्ति ही जीव की मुख्य समस्या है । उदय होकर बंधन में डाल देती है तथा निवृत्त होकर मोक्ष प्रदाता बन जाती है । जगत तो केवल वह आधार है जिस पर आसक्ति उदयास्त होती रहती है किन्तु जगत भी केवल दृश्यमान आधार ही है । वास्तविक आधार तो चित्त है, जिस पर आसक्ति का नाटक चला ही करता है । इस नाटक ने जीव को ऐसा उलझा रखा है कि वह तन-मन की सुध खो बैठा है तथा जगतमय ही हो गया है ।

"ईश्वरीय चेतन-सत्ता जगत में सर्वव्यापक है, रोम-रोम तथा कण-कण में समाई है जीव के चित्त में घटित होने वाले प्रत्येक परिणाम की कर्त्ता, दाता एवं कारण है । जब जीव का चित्त, चेतन का आश्रय त्यागकर, अभिमान ग्रसित होता है तो जगत में भी ईश्वर की सर्वव्यापकता विलुप्त हो जाती है । जीव का चित्त, शरीर एवं जगत, सब जड़ हो जाते हैं । यह जड़ता जब विकसित हो जाती है तो जन्म-जन्मान्तर तक चलती है । जीव जड़ता में ही जन्म लेता है, जड़ता में ही जीवन व्यतीत करता है तथा जड़ता में ही मृत्यु को प्राप्त होता है । जड़ता और कुछ नहीं, यह भी चित्त का एक भाव-मात्र है किन्तु दीर्घकाल तक जीव का पीछा नहीं छोड़ती ।"

चारों ओर उच्च पर्वत शिखर मालाएँ, हरियाली से लदी खड़ी थीं । बीच में गंगाजी की मधुर ध्वनि, कानों को आनन्दित कर रही थी । कहीं झरने बह रहे थे, तो कहीं पक्षी कलरव कर रहे थे । ऐसे शान्त, प्राकृत सौन्दर्य संपन्न वातावरण में महाराजश्री कहते जा रहे थे । सब भक्तगण मन्त्र-मुग्ध बने, सुन रहे थे । चार- छः पहाड़ी देहाती भी आकर पीछे बैठ गए थे । उनकी समझ में कुछ आ रहा था या नहीं यह तो वहीं जाने, किन्तु वह भी शान्त स्तब्ध बैठे थे ।

"एक ही रेखा के दो विपरीत बिन्दुओं की तरह, जगत के एक छोर पर बंधन है तो दूसरे सिरे पर मोक्ष । चित्त में बंधन तथा मोक्ष का निवास एक साथ है, किन्तु मोक्ष किसी कोने में दबा पड़ा है तो बंधन उन्मुक्त दनदना रहा है । बंधन का साम्राज्य विशाल है, सेना सशक्त है, शत्रु से हर समय सावधान है । काम, क्रोध, लोभ तथा स्वार्थ जैसे महारथी उसके सेनापति हैं । जैसे इन्द्र को असुरों के भय से स्वर्ग छोड़कर भागना पड़ता था उसी प्रकार मोक्ष भी कहीं

,सिर छुपाए पड़ा है । मोक्ष नितान्त अकेला, न कोई सेना न साथी है । है तो अपार शक्ति का स्वामी, पर सारी शक्ति अन्दर ही सिमटी है । सारा साम्राज्य उसका होते हुए भी उसका कुछ नहीं । मोक्ष शंकर का स्वरूप है, जो जगत को सर्वस्व देते हुए भी, स्वयं शरीर पर भस्म रमा कर श्मशान में पड़ा है या कैलाश शिखर पर एकांत में समाधि लगाए बैठा है । वह असुरों को भी वरदान तथा शक्तियाँ प्रदान करता है तथा स्वयं ही कठिनाई में पड़ जाता है ।

"मोक्ष का अर्थ ही है जगत के सुख-दु:खादि द्वन्द्वों से छुटकारा, जबकि जगत में द्वन्द्व ही द्वन्द्व हैं । जगत का वैभव आया कि सुख-दु:ख साथ लाया किन्तु जब तक वैभव नहीं भी है तो भी जब तक जगत है तब तक द्वन्द्व भी हैं । जगत के वैभव तथा सुख-सुविधाएँ, द्वन्द्वों को बढ़ाती हैं किन्तु जब तक प्रारब्ध है, जगत भी कहाँ पीछा छोड़ता है ? वह एक ऐसे काले कम्बल की तरह है जिसे जीव छोड़ना भी चाहे तो भी क़म्बल नहीं छोड़ता । वास्तव में स्वयं ही जीव ने जगत को पकड़ रखा है तथा स्वयं ही चिल्ला भी रहा है । कितनी मूर्खता है, कैसी नासमझी है ? आग में जानबूझकर हाथ दे रहा है तथा फिर शोर भी मचा रहा है कि बचाओ ! मैं जल गया ।

"जगत एक अनबूझ पहेली है, क़ब बना ? कैसे बना ? क्यों बना ? पता नहीं भगवान भी इस को जानते हैं कि नहीं । भगवान ही जानें, किन्तु कहते हैं कि भगवान जानते हैं पर सामान्य जन इससे परेशान हैं । कहते हैं कि जगत केवल भासित है; होगा ! पर हमारे चित्त को तो यह प्रभावित करता है या हमारा चित्त इस का प्रभाव ग्रहण करता है । अध्यात्म कहता है कि आसक्ति ही इसका कारण है । आसक्ति ही अहंकार को अभिमान का रूप प्रदान करती है । आसक्ति ही प्रारब्ध का निर्माण करती है तथा आसक्ति ही दु:ख-सुख का अनुभव करवाती है अत: जीव का कर्त्तव्य है कि आसक्ति को त्याग दे ।

"भगवान् की बनाई हुई सृष्टि में, आसक्ति अपनी पृथक सृष्टि की कल्पना कर लेती है । मेरा परिवार, मेरी धन-सम्पत्ति, मेरा शरीर, मेरे कर्म तथा उनका फल । यह मेरा-मेरा सब आसक्ति ही है, जबकि जीव का कुछ है ही नहीं । उसे यह सब केवल भोगने तथा कर्त्तव्य पालन के लिए दिया गया है । जहाँ मेरे- तेरे का भाव उदय हुआ कि सुख-दु:ख आया । फिर मेरे-तेरे के फेर में काहे को पड़ा जाए ! क्यों न सब कुछ भगवान का समझकर भोगा जाए । यहाँ से अध्यात्म की यात्रा आरंभ हो जाती है । प्रारब्ध सुख-दु:ख उपस्थित करता है, तो साधक उसे प्रसाद मानता है । उसका यश -अपयश होता है तो उसे सहन करता है । इस प्रकार जीवन का पल-पल प्रभु-सेवा में ही व्यतीत करता है । सर्वप्रथम यही अध्यात्म है ।"

प्रश्न– हम जो देवास से यहाँ आए हैं तथा इस समय हिमालय के सुरम्य वातावरण में आप के वचनामृत का पान कर रहे हैं, क्या यह भी प्रारब्ध है ?

उत्तर– हाँ, यह भी प्रारब्ध है तथा मार्ग की यात्रा में आपने जो कष्ट उठाए वह भी प्रारब्ध ही था । प्रारब्ध ही परिस्थितियाँ उपस्थित करता है, उस पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है, वह आपका कर्म है ।

प्रश्न– क्या प्रारब्ध को सहनशीलता पूर्वक भोगना ही साधन है ?

उत्तर– सहनशीलता साधन तो अवश्य है किन्तु मुख्यत: यह प्रारब्ध क्षय तथा संस्कार संचय रोकने के लिए है । गंभीरता, उदारता तथा क्षमाशीलता में इसकी महती भूमिका है, किन्तु यदि यहीं तक साधन के स्वरूप को सीमित रखा जाये तो साधक अधिक समय तक अपने भाव में स्थिर नहीं रह पाता तथा भाव खण्डित हो जाने पर प्रारब्ध क्षय का भाव भी समाप्त हो जाता है । इसलिए इसके साथ-साथ ईश्वर की सर्वव्यापकता का भाव भी आवश्यक है । भाव तो भाव ही है, सदैव बदलता रहता है । उसे पकड़े रखने के लिए कुछ पूजा-पाठ, जपादि का कार्यक्रम भी चलते रहना चाहिए । जब ईश्वरीय शक्ति की अन्तर में अनुभूति आरंभ हो जाती है, तो भाव को अनुभव का आधार प्राप्त हो जाता है तथा जगत में भी उसकी सर्वव्यापकता की अनुभूति का मार्ग खुल जाता है ।

जगत, पुष्पों लताओं तथा वृक्षों से भरी एक सुन्दर वाटिका है, जिसमें आकर्षण है, सौंदर्य है तथा सुगंध है किन्तु इन सब का आधार ईश्वर की सर्वव्यापकता है, पर वाटिका के सौंदर्य एवं आकर्षण में यह सत्य छिप गया है । वाटिका एक न एक दिन उजड़ने वाली है । पुष्प खिलते हैं तथा मुरझा जाते हैं । वृक्ष- लताएँ फैलती हैं तथा सूख जाती हैं । यह वाटिका नश्वर है किन्तुं सर्वव्यापक शक्ति सत्य- नित्य है । जब तक जीव का मन जगत पर टिका रहेगा, तब तक खिलने-मुरझाने के साथ, मन भी खिलता-मुरझाता रहेगा, फैलता-सिकुड़ता रहेगा । यही सुख-दु:खात्मक अनुभूति है । इसीलिए ईश्वर की सर्वव्यापकता पर लक्ष्य रखते हुए त्यागपूर्वक जगत-भोग का उपदेश दिया जाता है ।

अब सायंकाल का समय सिर पर आ पहुँचा था । वापस चलना ही उचित था । पहाड़ी देहाती भी उटकर जाने को हो गए थे । सूर्य पहाड़ों के पीछे जा चुका था तथा वृक्षों की परछाइयाँ भी काफी लम्बी हो गई थीं । सब लोगों ने दुकान पर एक-एक कप चाय का पिया तथा ऋषिकेश की ओर बढ़ लिए किन्तु रास्ते में भी महाराजश्री की अध्यात्म चर्चा ही रही ।

"गरुड़जी विष्णु भगवान के वाहन माने जाते हैं जिनकी आकाश में उड़ने की गति अत्यन्त तीव्र है । उनकी गतिशीलता में कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती । दूसरे, गरुड़जी विषैले सर्पों के शत्रु हैं । उनका भक्षण कर जाते हैं । यात्रियों के समक्ष, पुराने समय से यही दो मुख्य समस्याएँ होती थीं । एक तो यात्रा में थकावट, दूसरे जंगलों में सर्पों का भय । इस प्रथम चट्टी पर गरुड़जी का मंदिर बनाया गया था, जहाँ यात्री भगवान गरुड़ की पूजा-अर्चा करके प्रार्थना करते थे, "हे गरुड़जी, जिस प्रकार आपकी गति अत्यन्त तीव्र है, उसी प्रकार

हमारी यात्रा भी हो । जिस प्रकार कितना भी उड़ते हुए आप कभी थकते नहीं, उसी प्रकार थकावट हमें भी नहीं छुए । हम आप की तरह उड़ते जाएँ । हे भगवान, मार्ग में विषैले सर्प घूमते हैं, उनसे हमारी रक्षा करना । हम भगवान् विष्णु के दर्शन करने इस यात्रा पर निकले हैं, इसलिए आप की शरण हैं ।

"अब हम अध्यात्म की दृष्टि से इस प्रतीक को समझने का प्रयास करेंगे । उत्तराखण्ड की यात्रा, साधक की आन्तरिक अध्यात्म यात्रा का ही बाह्य प्रतीक है । आन्तरिक यात्रा बहुत लम्बी, थका देने वाली, कठिन तथा उकताहट भरी भी है । बार-बार साधक निराश हो जाता है कि मैं यह यात्रा नहीं कर सकता । जगत विषयों के विषैले सर्प उसके आस-पास घूमते रहते हैं तथा बार-बार डँसते भी रहते हैं, जिसके नशे में कई बार यात्रा में विघ्न भी आ जाता है । गरुड़जी प्राण-शक्ति का प्रतीक हैं । प्राण शक्ति ही प्राण-वायु की संचालक है, अन्तर—बाह्य क्रियाओं की कर्त्ता है, शक्ति ही जगत विषयों की नाशक है । विष्णु भगवान शक्ति के माध्यम से ही जगत की पालना तथा भक्तों की सहायता करते हैं । इसीलिए भक्तों को विष्णु भगवान की ओर जाने के लिए, गरुड़ रूपी आन्तरिक शक्ति की शरण लेना पड़ती है । यही गरुड़ पूजा का रहस्य है ।

"भक्ति मार्ग में गरुड़ ही कुण्डलिनी है । भगवान् विष्णु अपने भक्तों को लिवा लाने के लिए अपना वाहन गरुड़ अर्थात् शक्ति भेज देते हैं, अर्थात् भक्त में शक्ति की जाग्रति उपलब्ध करवा कर, एक वाहन की व्यवस्था कर देते हैं । यह तो आप सब जानते ही हैं कि जाग्रति के पश्चात् साधन यात्रा रेलगाड़ी की यात्रा के समान हो जाती है । इसीलिए इसे शाक्तोपाय कहा जाता है । आणवोपाय पैदल चलने के समान है । गरुड़जी एक ऐसा वाहन हैं जो न केवल यात्रा ही शीघ्र पूरी करा देते हैं वरन् विघ्नों को हटाने का काम भी करते हैं । वैसे देखा जाए तो भगवान विष्णु को अपने लिए किसी वाहन की आवश्यकता ही नहीं क्योंकि वह हर जगह पर पहले से ही उपस्थित हैं । उनके नाम पर उनका वाहन भक्तों के ही काम आता है । विष्णु-शक्ति को ही कहीं गरुड़ कहा गया, तो कहीं महामाया ।"

अब तक हम लक्ष्मण झूला पहुँच चुके थे । गंगाजी की गहराइयों को देखते हुए, गंगाजी के पार आ चुके थे । वहां से ताँगे की सवारी उपलब्ध थी । अब तो गरुड़ चट्टी से भी आगे तक टैक्सी से जाया जा सकता है, लक्ष्मण-झूला तथा ऋषिकेश के बीच एक और पुल भी बन चुका है, किन्तु उस समय इतनी सुविधा नहीं थी ।

(३७) गंगा वर्णन

सायंकाल का समय, सूरज ढलने को आया, महाराजश्री गंगा किनारे रेत पर बैठे थे, निरन्तर गंगाजी को निहार रहे थे, फिर एकाएक बोल पड़े, "गंगाजी की भाँति ही अन्तर्गंगा भी अत्यन्त गहरी तथा वेगवान है । पता नहीं कब-कब के गहरे गड़े संस्कारों को उखाड़ने के

लिए चित्त रूपी पाताल तक, संभवतया उससे भी गहरी, बड़े वेग से उतर जाती है तथा अपनी अत्यन्त तीव्र गति से, उन संस्कारों को उठाकर, तल से जल तक ले आती है । यदि सच पूछा जाए तो अन्तर्गंगा कहीं अधिक गहरी है । उसकी कई क्रियाएँ इतने गुप्त रूप से चलती हैं कि स्वयं साधक को भी पता नहीं चल पाता । जिस प्रकार गंगाजी किसी बड़ी चट्टान से टकरा कर शोर करती है, ऐसे ही संस्कारों के उदार तथा प्रकट हो जाने पर, उन अवरोधों के कारण कई प्रकार की क्रियाएँ प्रकट करती हुई अन्तर्गंगा आगे बढ़ती है । गंगाजी तो चट्टान से टकराती रहती हैं, फिर भी चट्टान वहीं बनी रहती है, किन्तु अन्तर्गंगा अवरोध को हटा कर ही दम लेती है ।

"ऐसी पौराणिक कथा है कि जब भगीरथजी, गंगाजी को पृथ्वी पर लाए तो सर्वप्रथम वह शंकरजी की जटाओं में गिरी । तत्पश्चात् उसका प्रवाह आरंभ हुआ । दृश्यमान सारा संसार शंकरजी की जटाओं की भाँति फैला हुआ है । जड़- चेतन सारी प्रकृति, सभी प्राणी शंकरजी की जटाओं के समान ही विस्तार पाए हुए हैं । सारा संसार जिसमें मन, बुद्धि तथा सुषुम्ना के छहों चक्र भी सम्मिलित हैं, जटाओं का ही विस्तार है । पृथ्वी इन जटाओं का स्थूलतम स्वरूप है, जो मूलाधार का तत्व है । मूलाधार चक्र में ही गंगावतरण होता है । अर्थात् शक्ति की जाग्रति । पहले गंगाजी शंकरजी की जटाओं में घूमती हैं । कुण्डलिनी को पहले अपने कुण्डल खोलने के लिए घूमना पड़ता है, तत्पश्चात् उसका सुषुम्ना में प्रवाह आरंभ हो जाता है । एक-एक अवरोध को दूर करती हुई, विभिन्न भावनाओं तथा लीलाओं में तरंगित होती हुई, अपने प्रियतम आत्मरूपी समुद्र में विलीन होने के लिए, अन्तर्गंगा, आगे ही आगे बढ़ती जाती है । कभी उसकी धारा फटकर, एक से अधिक भी हो जाती है, किन्तु शीघ्र ही अलग हुई धारा लौटकर मूलधारा में आ मिलती है । कभी बाढ़ आ जाने पर, तटबंध तोड़कर इधर-उधर फैल भी जाती है, किन्तु फिर अपनी सीमाओं में रहकर, समुद्र मिलन की यात्रा पर चल पड़ती है । जैसे-जैसे समुद्र समीप आता जाता है उसका शोर तथा वेग शान्त भाव धारण करता जाता है, क्रिया में सौम्यता आती जाती है । गहरे उतरकर, संस्कार नाश का कार्य भी पूरा हो जाता है, किन्तु अन्तर्गंगा में प्रियतम मिलन की उत्कण्ठा तथा आनन्द बढ़ता जाता है । समुद्र में मिलकर व्यष्टि चेतना की अलग पहचान समाप्त हो जाती है ।"

प्रश्न– कल तो आपने शक्ति को गरुड़जी बनाकर आकाश में उड़ाया था, किन्तु आज उसे गंगाजी बनाकर पाताल तक गहराइयों में उतार दिया । दोनों में से कौन-सा भाव ठीक है ? थोड़ी दुविधा हो गई ।

उत्तर– एक ही विषय का विश्लेषण कई भावों, दृष्टिकोणों तथा ढंगों से भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जा सकता है । जितना चित्त में गहरे उतरते जाओगे उतना चित्त के अन्दर के

आकाश में ऊपर उठते जाओगे । कबीर ने कहा भी है कि डुबकी तो समुद्र में लगाई किन्तु आकाश में जा निकला । इसी प्रकार गरुड़जी जितनी ऊँची उड़ान भरेंगे उतना ही साधक गहराई में जाएगा तथा जितना गंगाजी का प्रवाह अधिक गहराइयों को छुएगा उतना ही साधक हृदय गगन में रमण करेगा । यह ऊपर-नीचे सब मन की कल्पना ही है । इस कल्पनालोक से ऊपर उठने के पश्चात् ही साधक दिशाओं से अतीत अवस्था प्राप्त करता है ।

अब अंधेरा होने को आ गया था, इसलिए सब लोग उठकर कुटिया में आ गए । मैं भोजन बनाने में लग गया था, किन्तु कान महाराजश्री की ओर ही लगे थे । गंगाजी का विषय ही आगे बढ़ाते हुए महाराजश्री कह रहे थे । "गंगाजी भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति के आधार-स्तंभ का रूप ग्रहण कर चुकी हैं । संन्यासी लोग मरणोपरान्त गंगाजी में प्रवाहित होने की कामना करते हैं । गृहस्थों का अस्थि प्रवाह गंगाजी में किया जाता है । यह सब भी अन्तर्गंगा में विलीन होने की इच्छा का बाह्य प्रतीक ही है । गंगाजी के किनारे, हजारों की संख्या में महात्माओं की कुटियाएँ तथा आश्रम हैं । हमारी शक्तिपात् दीक्षा भी गंगा किनारे ही हुई तथा संन्यास दीक्षा भी । हमारी यह भी इच्छा है कि हमारा अन्तिम श्वास भी गंगा किनारे ही निकले तथा शरीर को भी गंगा में ही प्रवाहित किया जाए । हम नहीं चाहते कि हमारे शरीर की समाधि बनाई जाए क्योंकि कालान्तर में समाधि धन कमाई का साधन बना ली जाती है ।

"हां, तो मैं गंगाजी की बात कर रहा था, भक्तों साधकों ने गंगाजी को लक्ष्य कर, कैसे-कैसे भाव मन में उदय किए । उन भावों से स्वयं भक्तों को भी तथा लोगों को भी लाभ हुआ । लोगों ने गंगाजी को एक नदी के रूप में नहीं, माता के रूप में देखा । फिर भक्तों को गंगाजी के रूप में वैसे अलौकिक अनुभव भी हुए । भगवान ने हमें देवास में सुन्दर आश्रम दिया, फिर भी गंगाजी का आकर्षण बार-बार यहाँ आने को विवश करता है ।"

(३८) वृन्दावन-साधन का स्वरूप

कुछ दिनों के पश्चात् एक ब्रह्मचारीजी, जो पिछले कई वर्षों से महाराजश्री के पास प्राय: आते रहते थे, महाराजश्री पर काफी श्रद्धाभाव रखते थे, महाराज श्री के स्वभाव तथा आवश्यकताओं की सारी जानकारी उन्हें थी, वह ऋषिकेश आ गए । उनके साथ मेरा भी बहुत प्रेम था तथा वह बहुत लगन से महाराजश्री की सेवा करते थे । कुछ दिनों के पश्चात् मैंने विचार किया कि क्यों न मैं कुछ दिनों के लिए उत्तरकाशी हो आऊँ, ब्रह्मचारीजी तो महाराजश्री की सेवा में हैं ही । यह भी मन में एक भाव था कि इसी बहाने ब्रह्मचारीजी को, महाराजश्री की पूरी सेवा का अवसर प्राप्त हो जाएगा । अत: मैं महाराजश्री की अनुमति लेकर उत्तरकाशी चल दिया । देवास से आए सभी लोग वापस जा चुके थे ।

उत्तरकाशी शंकर मठ में उन दिनों स्वामी प्रणवानन्दजी थे । मुझे देखकर बड़े प्रसन्न हुए । एक ब्रह्मचारीजी भी थे । उनसे जब परिचय हुआ तो पता चला कि यह वही ब्रह्मचारी है, जब चालीस के दशक में महाराजश्री उत्तरकाशी पधारे थे तो इसने महाराजजी के साथ दुर्व्यवहार किया था । उसे देखकर बड़ा क्रोध आया, किन्तु अन्दर ही अन्दर पी गया पर मैंने उससे फिर संपर्क नहीं रखा ।

कुछ दिनों के पश्चात् काशी से स्वामी नारायण तीर्थजी महाराज पधार आए। स्वामीजी बड़े उदार चित्त, मिलनसार तथा हँसमुख सादगी पसंद महात्मा हैं । उनकी मुझ पर बड़ी कृपा रही । बाद में आपने मुझे १९६५ में संन्यास दीक्षा से कृतार्थ किया । मैं कोई तीन महीने उत्तर काशी ठहरा । इस काल की, महाराजश्री के बारे में मुझे जानकारी नहीं । मेरे वापस ऋषिकेश पहुँचने के कुछ ही दिनों बाद महाराजश्री देवास लौट आए । रास्ते में दो तीन दिन दिल्ली रुके तथा तीन- चार दिन वृन्दावन ।

महाराजश्री ने बताया कि वृन्दावन में भगवान् कृष्ण की सभी लीलाओं की जानकारी लोगों को चैतन्य महाप्रभु ने दी थी । उन्होंने सभी स्थलियों को भावावेश में दिखाया । जिस किसी स्थान पर जाने से भगवान की जिस लीला की उन्हें अनुभूति हुई, वह स्थान उसी लीला से संबंधित कर दिया गया । चैतन्य महाप्रभु भावावेश में कीर्तन करते नाचते थे । वह बंगाल में कृष्ण-प्रेम-भक्ति के स्तंभ थे ।

प्रश्न– उससे पहले क्या वृन्दावन नहीं था ?

उत्तर– वृन्दावन भी था तथा एक तीर्थ के रूप में उसकी मान्यता भी थी । श्रीकृष्ण भगवान की लीला स्थलियों का प्रकाश तथा वर्त्तमान विस्तार उन्हीं के समय में हुआ। चैतन्य महाप्रभु के पश्चात् वृन्दावन में बंगाली भक्तों की संख्या में बहुत वृद्धि हो गई ।

प्रश्न– वैसे तो कृष्ण भक्तों की देश में आज भी कमी नहीं किन्तु ऐसा प्रतीत होता है जैसे किसी समय कृष्ण-भक्ति की बाढ़ सी आ गई थी । जहाँ एक ओर चैतन्य महाप्रभु, जयदेव तथा तुकाराम, ज्ञानेश्वर जैसे भक्त हुए वहीं दूसरी ओर सूरदास, मीरा तथा नरसी मेहता ने धूम मचा दी । सारा देश ही कृष्ण-भक्ति के प्रेम में रँग सा गया था ।

उत्तर– हाँ, किन्तु जैसा कि तुम जानते हो, हम विभिन्न मार्गों तथा साधन पद्धतियों को एक ही साधन-क्रम के विभिन्न स्वरूप तथा स्तर मानते हैं । किसी भक्त में किसी भाव विशेष की प्रबलता होती है, तो कोई भगवान् के स्वरूप-विशेष को इष्ट के रूप में ग्रहण करता है । कोई प्रेम को प्रधान मानकर चलता है, तो कोई सेवा भाव या समर्पण को । कोई विष्णु, शंकर या भगवती के रूप में भगवान के स्वरूप को अभिमुख रखता है तो कोई नानक, मुहम्मद, बुद्ध या ईसा के रूप में । भगवान का कोई रूप नहीं होते हुए भी, सभी रूप उसके हैं । उससे कोई नाता नहीं होते हुए भी, सभी नाते उसी से हैं तथा उसमें कोई भाव नहीं होते हुए भी, सभी

भाव उसे ही प्राप्त करने के लिए हैं । फिर भक्त के स्तर में भी अन्तर होता है तथा स्वरूप में भी । कोई प्रार्थना, जप प्रधान या पूजा प्रधान होता है, तो कोई योग, ज्ञान—ध्यान या कर्म प्रधान । किसी की साधना प्रयत्न के आधार पर होती है, तो किसी की स्वाभाविक अथवा स्वयं सिद्ध किन्तु यह सभी अध्यात्म पथ के ही पथिक होते हैं । इष्ट के अनुरूप ही साधन पद्धति का इतिहास, केन्द्र (तीर्थ), नियम, ग्रन्थ, सिद्धान्त आदि विकसित हो जाते हैं ।

जगत शक्ति की तरंगें हैं । जिस प्रकार संसारी भावनाओं की तरंगें उठती रहती हैं उसी प्रकार भक्ति भाव तथा उसके विभिन्न स्वरूपों की भी । एक समय राम—कृष्ण भक्ति की तरंगें भारत में उदय हुईं तो सारा देश राम-कृष्ण भक्ति में रँग गया । हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने उसे भक्ति-काल का नाम दिया । उससे पूर्व भारत में मार-काट मची थी, सब ओर युद्ध ही युद्ध । रणबाँकुरे अपनी-अपनी वीरता का प्रदर्शन कर रहे थे । वह भी एक तरंग ही थी । जिसे वीरगाथाकाल का नाम दिया गया । उन तरंगों में संसारी भी बह जाते हैं तथा भक्त भी । वास्तविक आध्यात्मिकता, इन तरंगों से पृथक रहकर तरंगों को देखना है पर उससे पूर्व, कुछ देर के लिए तरंग के साथ-साथ बहना पड़ता है । जो तैर कर किनारे आ लगता है, वही वीर पुरुष है ।

प्रश्न– तो साधन क्या है ?

उत्तर– साधन रूपी नदी के पार होना साधन है । भव नदिया की बात तो सभी करते हैं क्योंकि वही नदी जगत के अभिमुख है, इसलिए उसी की चर्चा होती है किन्तु उसके पश्चात् की साधन नदी भी, साधक को पार करना पड़ती है । वह नदी पार करना भी भव-नदिया पार करने के समान दुष्कर है । जिस प्रकार जगत में आसक्ति होती है, उसी तरह साधन में भी आसक्ति हो जाती है ।

प्रश्न– तब तो आसक्ति बड़ी दूर तक साधक का पीछा करती है ।

उत्तर– जब तक जीव पूर्णतया बंधन-मुक्त नहीं हो जाय, तब तक ।

प्रश्न– भक्तों की बंधन-मुक्त अवस्था ही वृन्दावन है ?

उत्तर– आध्यात्मिक दृष्टि से तो ऐसा ही है, किन्तु तो भी इसी वृन्दावन का आधार लेकर ही कृष्ण-भक्ति का भाव विकसित हो पाता है तथा कृष्ण की बाल लीलाएँ भक्तों के मन को उद्वेलित करती हैं । कृष्ण की लीलाओं के दीवाने, वृन्दावन के भी दीवाने हो जाते हैं । जब भाव -अभाव से ऊपर उठ जाते हैं तो मन तथा सारा जगत ही वृन्दावन हो जाता है । जिनका आदर्श गीता का उपदेश प्रदाता कृष्ण होता है तथा गीता के अनुरूप जीवन को ढालना चाहते हैं, उनके लक्ष्य का केन्द्र-बिन्दु गीता हो जाती है । थोड़ा समझने लगते हैं तो शरीर कुरुक्षेत्र हो जाता है । थोड़ा और आगे बढ़ते हैं तो चित्त ही युद्ध-क्षेत्र हो जाता है । इस प्रकार साधक उत्तरोत्तर उन्नति प्राप्त करता है ।

प्रश्न– किन्तु भक्ति के भी कई आचार्य हुए, जिन्होंने भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों की स्थापना की तथा अपने-अपने सम्प्रदाय चलाए, जैसे रामानुज, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य ।

उत्तर– भक्त इन विवादों में नहीं पड़ता । अपने भाव के अनुसार भक्ति ही कर्त्तव्य मानता है । जैसा भी है, प्रभु कृपा से समक्ष आ जाएगा । कुछ जानने से पहले ही, हृदयमें किसी सिद्धान्त को स्थापित कर लेना, फिर उसके प्रति आसक्त हो जाना उचित नहीं । भक्ति का लक्ष्य भगवान की कृपा प्राप्त करना है, सिद्धान्त घड़ना नहीं ।

प्रश्न– अच्छा महाराजजी, फिर शक्ति जाग्रति का क्या हुआ ?

उत्तर– उसके बिना तो भक्ति संभव ही नहीं । वह तो भक्ति जगाती तथा पुष्ट करती है । जाग्रति के उपरान्त ही भक्ति प्राप्त होती है ।

(३९) पुनः उत्तराधिकार का विषय उभरा

महाराजश्री की आन्तरिक इच्छा थी कि गंगाजी के किनारे ही उनकी नश्वर देह का त्याग हो । इस इच्छा को वह यदा-कदा व्यक्त भी करते रहते थे । यह भावना इसलिए भी उठती थी क्योंकि देवास में गंगाजी नहीं थीं । आश्रम में यह अभाव पुनः-पुनः खटकता था तथा उन्हें गंगाजी की याद सताने लगती थी । ऋषिकेश प्रवास में भी यह बात उठी थी । ऋषिकेश तथा हरिद्वार में कुछ स्थान भी देखे गए थे । ऋषिकेश में तो एक मकान का सौदा लगभग तय ही हो गया था, किन्तु किसी कारण सिरे न चढ़ सका । महाराजश्री का कहना था कि यहाँ आश्रम नहीं, हमारे आकर ठहरने के लिए केवल एक कमरा ही चाहिए जहाँ हम अन्तिम साँस ले सके ।

देवास आकर फिर यह चर्चा चली । उनके भक्तों-शिष्यों ने भी इस चर्चा को गंभीरता से लिया कि यदि महाराजजी इस चर्चा को बार-बार उठा रहे हैं तो वह समयं अब कोई अधिक दूर नहीं । वैसे महाराजश्री का स्वास्थ्य उत्तम था, अभी ऐसी कोई बात दिखाई नहीं दे रही थी, किन्तु महाराजश्री की चर्चा मन में संदेह उत्पन्न करती थी । गंगा-किनारे स्थान निर्माण के लिए, लोगों ने धन संग्रह आरंभ कर दिया । ऐसा सोचनें का, मेरे सामने एक दूसरा कारण भी था । बार-बार महाराजश्री का उत्तराधिकार की बात छेड़ देना । देवास वापस आ कर, फिरसे यह समस्या उठ खड़ी हुई थी । प्रातः भ्रमण के समय महाराजश्री ने फिर वह प्रश्न खड़ा कर दिया । "ब्रह्मचारी जी तो चले गए । अब तुम क्या सोचते हो ? किसी न किसी को तो यह बोझ उठाना ही पड़ेगा ।" मैंने निवेदन किया, "मैं समझता हूँ कि मेरे कंधे इतने सशक्त नहीं हैं कि इस बोझ को उठा सकें । अभी तो एक प्रकार से मेरी यात्रा आरंभ ही नहीं हुई । अभी तक चित्त में संचित कचरा ज्यों का त्यों रखा है तथा मैं गादी पर बैठकर लोगों को उपदेश देना आरंभ कर दूँ ? यह बात कुछ अटपटी सी लगती है । फिर मेरी मनःस्थिति भी

आश्रम चलाने के योग्य नहीं । मुझे अभी तक हिमाचल प्रदेश की घाटियाँ- नदियाँ याद आती हैं, सतलुज की शां-शां करती आवाजें कानों में गूंजती हैं । मैं आश्रम कैसे चला पाऊँगा ?" महाराजश्री ने कहा, "साधक को कई काम ऐसे करने पड़ते हैं जिन को वह करना नहीं चाहता, कुछ भावनावश कुछ कर्त्तव्य के वशीभूत होकर । यही साधक का जीवन होता है । यह भी ऐसा ही एक काम समझो । क्या मेरा कहना ही काफी नहीं है ? क्या गुरु की इच्छा तथा आदेश में तुम कुछ अन्तर समझते हो । जिस परम्परा से तुम्हें आध्यात्मिक लाभ हुआ है, उसके प्रति तुम्हारा कोई कर्त्तव्य नहीं है ? इन सारी बातों पर विचार करो, शान्त चित्त होकर ।"

महाराजश्री ने तो ऐसा कह दिया, किन्तु मैं दुविधा में पड़ गया था । एक ओर महाराजश्री की इच्छा थी, परम्परा के प्रति उत्तरदायित्व था तो दूसरी ओर मन इस उत्तरदायित्व के लिए तैयार नहीं हो पा रहा था । उन्मुक्त विहार करने वाला पंछी पिंजरे में कैद क्यों होना चाहेगा ? फिर मैं अपने को इसके योग्य भी नहीं समझता था । पिछले चार वर्षों में आश्रम का कुछ अनुभव ले ही चुका था । कितना बड़ा है यह प्रपंच, गृहस्थ से भी कहीं बड़ा । मुझे ऐसा लग रहा था कि आश्रम स्वीकार कर के, मुझे दोहरा व्यक्तित्व जीना पड़ेगा । एक आन्तरिक, जो मेरा सही स्वरूप है तथा जिसमें विकारों तथा दोषों का बाहुल्य है । दूसरा, बाहरी व्यक्तित्व जो कि केवल बनावट होगा, दिखावा होगा, लोगों के साथ छल होगा । अन्दर कुछ तथा बाहर कुछ वाले दोहरे व्यक्तित्व की कल्पना से ही मेरे अन्दर सिहरन पैदा हो गई तथा अकस्मात् मेरे मुंह से निकल गया, नहीं नहीं ।

मन में निश्चय तो कर लिया किन्तु महाराजश्री को कैसे समझाया जाए । सहसा मुझे एक सज्जन का ध्यान हो आया जो काफी पुराने दीक्षित थे, मुझ से कोई बीस पच्चीस वर्ष पहले के, तथा कुछ ही समय पूर्व सेवानिवृत्त हुए थे, अब आध्यात्मिक जीवन जीने की चेष्टा कर रहे थे । उनका ध्यान आते ही जैसे हृदय आशा की किरण से जगमगा उठा । दूसरे ही दिन महाराजश्री के समक्ष उनके नाम का प्रस्ताव किया । महाराजश्री मौन साधे सुनते रहे, फिर बोले, "तो क्या इसका अर्थ यह है कि तुम तैयार नहीं हो !" मैंने निवेदन किया, "मुझे यदि क्षमा ही कर दिया जाय तो बड़ी कृपा होगी ।" महाराजश्री ने थोड़ी देर सोचा, फिर बोले, "जैसी तुम्हारी इच्छा ।"

कुछ अन्य लोगों को भी मैंने इस विचार-विमर्श में सम्मिलित कर लिया तथा उन सज्जन से मिलकर, महाराजश्री के विचार की जानकारी दी । उनकी स्वीकृति लेकर, महाराजश्री को भी सूचित कर दिया । अब मैं बड़ा प्रसन्न था कि समक्ष आई, एक समस्या का समाधान हो गया । आश्रम का अर्थ है, राग—द्वेष तथा मन-मुटाव का एक बड़ा कारण । यह समस्या और भी अधिक विकट हो जाती है जब कोई आश्रम परम्परा से प्राप्त होता है । ठीक

है कि बना बनाया आश्रम, शिष्य मण्डल तथा साधन भी मिल जाते हैं किन्तु उसके साथ अनेक कठिनाइयाँ भी संलग्न रहती हैं ।

मैं निश्चिंत हो कर अपने गुरु-महाराज तथा आश्रम सेवा में लग गया । अब आश्रम में एक और ब्रह्मचारी जी भी स्थाई रूप से रहने लगे थे । उन्होंने मेरा काफी काम अपने कंधों पर ले लिया था जिससे मुझे भी सत्संग में उपस्थित रहने का अवसर मिलने लगा था। महाराजश्री की व्यक्तिगत सेवा के लिए भी पहले से अधिक समय मिलता था ।

सत्संग में महाराजश्री ने कहना आरंभ किया, "अध्यात्म तथा संसार कभी मिल नहीं सकते । यह दोनों पूर्व- पश्चिम की भाँति हैं, नदी के दो किनारों के समान हैं, जिनका कभी मिलाप नहीं हो सकता । चित्त में एक समय एक ही भाव रहेगा, या अध्यात्म या संसार । या भोग की कामना होगी या मोक्ष की ।

प्रश्न– यह बात कुछ समझ में नहीं आती क्योंकि अध्यात्म-विद्या का विकास भी इसी संसार में रहकर ही संभव है । साधन, भजन, अध्ययन, जपादि के लिए भगवान ने क्या कोई अलग जगत बनाया है ? भक्त साधक भी इसी जगत में जीवन जीते हैं, फिर जगत को अछूत भी कहते हैं ।

उत्तर– बात जगत में रहने की नहीं । शरीर जब तक जीवित है, जगत में ही रहेगा । बात मन को जगत में रखने या जगत को मन में रखने की है । शरीर संस्कार संचय नहीं करता, चित्त करता है । शरीर कहीं भी रहे, उससे अन्तर नहीं पड़ता । मन जहाँ रहेगा, उसके संस्कार संचय कर लेगा । जब हमने कहा कि संसार तथा अध्यात्म एक साथ नहीं रह सकते, तो शरीर को ध्यान में रख कर नहीं, मन को लक्ष्य करके ही कहा था । यह बात हम कई बार समझाने का प्रयत्न कर चुके हैं, किन्तु ऐसा लगता है कि अभी तक भी बात आप के मन में बैठी नहीं । यदि आप मंदिर या सत्संग में बैठे हैं किन्तु आप का मन कहीं अन्यत्र है तो आप का शरीर मंदिर में होते हुए भी, आप मंदिर में नहीं हैं । इसी प्रकार यदि आपका शरीर किसी ऐसी जगह पहुँच जाता है, जहाँ उसका होना आध्यात्मिक दृष्टि से उचित नहीं पर आपके मन में शुद्ध भाव हिलोरें ले रहे हैं, तो आप वहाँ होते हुए भी वहाँ नहीं हैं । कर्म देखने में चाहे अशुद्ध दिखाई दे, किन्तु वह शुद्ध ही है ।

शुद्ध-अशुद्ध, धर्म-अधर्म, संसार- अध्यात्म, श्रेय-प्रेय इनमें से एक ही, एक समय मन में रह सकता है । या संसार रहेगा या अध्यात्म । यदि आप दोनों को बनाकर रखना चाहें तो दोनों ही चले जाएँगे । जो व्यक्ति दुविधा में रहता है उसे न संसार प्राप्त होता है, न अध्यात्म । मन में या तो असुर राज्य होगा या देवराज्य, या मन प्रेय अभिमुख होगा या श्रेय के प्रति । जो मार्ग जगत की ओर जाता है, वह जगत की ओर ले जाएगा । जो अध्यात्म की दिशा में जाता है, वह अध्यात्म की प्राप्ति करायेगा । ऐसा कोई मार्ग नहीं जिससे दोनों प्राप्त

हों । इसीलिए संतों ने कहा है कि योगी तथा भोगी की मित्रता संभव नहीं । जिस मन में संसारी कामनाओं का आधिपत्य है वहाँ राम कैसे प्रकट हो सकता है ! जिस मन में राम प्रकाशित हो, उसमें संसारी कामनाएँ कैसे उभर सकती हैं ! यदि उभरती हैं तो अभी राम का प्रकाश नहीं हुआ ।

प्रश्न– किन्तु प्राय: उपदेश तो यही किया जाता है कि शुद्ध कर्म करो । कर्म तो इन्द्रियों के द्वारा ही किए जाते हैं । इसमें मन कहाँ से आ गया ?

उत्तर– शुभ तथा शुद्ध कर्म करने का उपदेश तो दिया जाता है किन्तु जब इसकी व्याख्या की जाती है कि शुभ कर्म क्या है, तो भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है । इस प्रश्न के पीछे तुम नहीं, तुम्हारे मन की अशुद्धि बोल रही है किन्तु निष्काम स्थिति को एकदम तो प्राप्त नहीं किया जा सकता । उसका विकास भी क्रमिक ही हो सकता है । मन में वासनाएँ तथा संस्कार चाहे रहें किन्तु उसकी ऐसी अवस्था हो जाए कि वह जगत भोगों से उपराम रहने लगे, उसमें दु:ख की प्रतीति होने लगे, अध्यात्म की भूख जाग उठे, तो समझो कि उस मनुष्य ने अध्यात्म में पाँव रख दिया है । जगत से हटने का यही आरंभ है । यह अवस्था आध्यात्मिक साधनाओं में चलने तथा दीक्षा का अधिकार प्रदान करती है ।

चित्त की यही स्थिति होने पर, वैराग्य का आरंभ हो जाता है । यद्यपि यह अवस्था पूर्ण-वैराग्य से अभी बहुत दूर होती है किन्तु फिर भी कदम वैराग्य की ओर बढ़ने लगता है । यही वह स्थिति है जब साधक को किसी सहारे अर्थात् सच्चे गुरु की आवश्यकता होती है । यही स्थिति आध्यात्मिक यात्रा का प्रथम पड़ाव है, जहाँ से विष्णु दर्शन के लिए गरुड़जी उड़ान भरते हैं । यही स्थिति साधन रूपी विशाल भवन की आधार शिला है क्योंकि यहीं से जगत के प्रति अरुचि का आरंभ होता है ।

श्रेय तथा प्रेय का विषय बड़ा सूक्ष्म है । बुद्धिमान व्यक्ति भी कई बार, किसी बात का ठीक-ठीक निर्णय कर जाने में चूक कर जाता है । मन के हथकण्डे ऐसे हैं कि उनकी उपमा नहीं । कई बार वह अकर्तव्य को, इतनी सफाई से कर्तव्य बनाकर जीव को पेश करता है कि वह भी धोखे में आ कर ठगा सा रह जाता है । बुद्धिमान वही है जो श्रेय और प्रेय के अन्तर को समझकर, उचित निर्णय ले सके । इसीलिए इस समय गुरु की आवश्यकता है । गुरु भी जब शिष्य की यह स्थिति देखते हैं तो उसकी सहायता करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं ।

प्रेय जगत की ओर जाने वाला मार्ग है तो श्रेय, आत्मा की ओर जाने वाला । जब दोनों की दिशाएँ ही भिन्न हैं तो दोनों का मिलन भी सम्भव नहीं । एक नीचे की ओर जाता है तो दूसरा ऊपर को । एक जगत के पीछे भागता है तो दूसरा जगत से मुँह मोड़ता है । एक अंधकार है तो दूसरा प्रकाश । एक बहिर्मुखी है तो दूसरा अन्तर्मुखी । एक में सदैव आशाएँ है तो दूसरा आप्तकाम । मनुष्य को इन दो मार्गों में से एक का चयन करना है । जो भाग तो

जगत के पीछे रहा है, किन्तु बात अध्यात्म की करता है,वह अपने आप को भी धोखा दे रहा है तथा जगत को भी । बुद्धिमान मनुष्य सदैव श्रेय का ही आश्रय ग्रहण करता है । प्राचीन भारतीय ऋषियों ने भौतिक विज्ञान की उन्नति में कभी रुचि नहीं दिखाई । उन पर यह बात एकदम स्पष्ट थी कि इससे न कभी जगत में सुख तथा शान्ति का वातावरण बन सकता है तथा न ही यह जगत की समस्याएँ हल कर सकता है । इसके विपरीत भौतिक विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ जगत में अशान्ति बढ़ती जाती है । परस्पर वैमनस्य, अविश्वास तथा आशंकाएँ बढ़ती हैं । सुख सुविधाओं के साथ ही विनाशकारी साधनों के विकास की भी होड़ लग जाती है । प्राकृतिक साधनों का अधिक से अधिक दोहन होने से, प्रकृति का संतुलन बिगड़ जाता है । वैज्ञानिक सुविधाओं के कारण, मनुष्य उनका कैदी बन कर रह जाता है । भौतिक विज्ञान प्रेयमुखी है ।

प्रश्न– क्या भौतिक विज्ञान का संबंध, जगत की जनसंख्या वृद्धि से नहीं ? क्योंकि संख्या बढ़ने से आवश्यकताएँ भी बढ़ती हैं, जिससे भौतिक विज्ञान का आश्रय लेना पड़ता है । इस प्रकार इस दिशा में उन्नति का मार्ग खुल जाता है ।

उत्तर– जनसंख्या वृद्धि भी, मनुष्य की प्रेय-वृत्ति की सूचक है । श्रेय-प्रिय व्यक्तियों का जीवन संयत हुआ करता था, जिससे यह समस्या खड़ी ही नहीं होती थी । पहले मनुष्य में प्रेय-वृत्ति का विकास हुआ, फिर भौतिक विज्ञान की उन्नति आरंभ हुई । परिणामस्वरूप मनुष्य में भोगों की लालसा, सुख-सुविधाओं में रहने की इच्छा भी उन्नत हो गई । साथ ही कई तरह की व्याधियाँ, चिन्ताएँ, समस्याएँ भी उठ खड़ी हुईं । आज मनुष्य जितना अशान्त, दुःखी एवं असुरक्षित अनुभव करता है, उतना इस उन्नति के अभाव में नहीं था ।

यह तो मनुष्य के आधिभौतिक वृत्ति प्रवाह की बात हुई । आधिभौतिक सकाम उपासनाएँ भी अध्यात्म प्रगति में कम बाधक नहीं । अपने दुःखों के निराकरण के लिए मनुष्य देवताओं के पीछे भागता फिरता है । यहाँ तक कि स्वर्ग सुखों की भी कामना करने लगता है । आसक्ति में कोई अन्तर नहीं आता, वरन् और भी अधिक हो जाती है । जो जगत सामने नहीं, उसकी भी कल्पना तथा उसमें सुख भोग की कामना । कैसा कल्पना लोक में विचरण !

जब तक व्यक्ति में स्वर्ग-सुख की कामना है, वह आसक्ति से ग्रसित है, तब तक वैराग्य की दिशा में कदम आगे नहीं बढ़ा । यदि स्वर्गलोक की प्राप्ति हो भी जाए तो भी बंधन उसी प्रकार रहता है, जैसे पहले था । अभी तक भी क्रोध, लोभ तथा अभिमान शान्त नहीं हुए, जीवत्व वैसा ही है, माया चित्त पर पूर्ववत् आच्छादित है । पुण्य क्षीण हो जाने पर उसे स्वर्ग से धकेलकर बाहर फेंक दिया जाएगा, जैसे वह कभी वहाँ का वासी था ही नहीं । स्वर्ग की कामना इसी समान है जैसे कोई राजा अपने ही महल में भिक्षा लेने जाए, राजा होकर भिखारी, कैसी विडम्बना ! कैसी दुर्गति है मनुष्य की !

अध्यात्म का अधिकारी वही है जो जगत की ओर से निष्काम वैराग्यवान हो तथा जिसके मन में अध्यात्म की भूख हो । जिन गुरुओं को अपने शिष्यों को भक्ति प्रदान करना हो, उन्हें उनका अधिकार निर्णय कर के दीक्षा देना उचित है, अन्यथा शिष्य का कामनाओं में उलझ जाना स्वाभाविक है । आणवी दीक्षा से अधिक सावधानी शक्ति दीक्षा देने में बरतने की आवश्यकता है ।

(४०) भगवान के अनेक स्वरूप

अगले दिन किसी ने प्रश्न किया कि विभिन्न साधनाओं में ईश्वर के इतने स्वरूप तथा कल्पनाएँ हैं कि सामान्य मनुष्य भ्रमित हो जाता है । इस पर महाराजश्री ने कहा–

"विभिन्न सिद्धान्तों के अनुरूप ईश्वर का स्वरूप भिन्न-भिन्न है । साधना के अनुरूप, जैसी ईश्वर की आवश्यकता होती है, कल्पना कर ली जाती है । जैसे सगुण भक्ति में ऐसे ईश्वर की आवश्यकता है जिसका प्रत्यक्ष अवलम्बन भक्त ले सके । जो भक्त की भाँति बोलता-चलता, प्रार्थना सुनता, दयावान तथा क्षमाशील हो । जो दुष्टों का संहार तथा भक्तों पर अनुग्रह कर सके । इसलिए उनका ईश्वर भी राम, कृष्ण, शंकर, भगवती जैसा मानव आकार का होता है । वह अपना निर्गुण स्वरूप अक्षुण्ण रखते हुए भी, माया में अवतरित होता है ।

"योगी ईश्वर का ध्यान अन्तर में करते हैं । उनका ध्यान अमूर्त होता है, अर्थात् कोई स्वरूप नहीं होता, केवल भाव होता है । योगी स्वयं कर्मों में जकड़ा होता है अत: ईश्वर, कर्त्ता होता हुआ भी, अकर्त्ता होना चाहिए । वह स्वयं संस्कार संचय करता है, उसका ईश्वर संस्काराशय रहित होता है । वह स्वयं फल भोगता है किन्तु ईश्वर का संस्काराशय ही नहीं तो फल काहे का । अर्थात् योगमार्गी जीवत्व में स्थित होता है, किन्तु उसका ईश्वर पुरुष विशेष होता है । उसमें जीवत्व का कोई लक्षण नहीं, यही उसका विशेषत्व है । योग साधन के लिए इतने ही ईश्वर की आवश्यकता है । नित्य, शुद्ध, बुद्ध आदि लक्षणों के विवाद में योगी पड़ता ही नहीं ।

"अब ज्ञानमार्गियों की बात सुनिए । उनकी चित्त भूमिका भक्तों तथा योगियों से भिन्न होती है । ब्रह्म निर्गुण, निराकार, स्पन्दन से अतीत तथा एक है । वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्त है, सत् चित्त तथा आनन्द स्वरूप है । मन की पहुँच से परे है, इन्द्रियों की वहाँ गति नहीं । विवेक के द्वारा जगत की असारता तथा क्षणभंगुरता उसके समक्ष स्पष्ट हो चुकी होती है । जगत का दु:खदायी स्वरूप भी प्रकट होता है । इसलिए उसे नित्य तत्व के रूप में ईश्वर की तलाश होती है, जो आनन्द स्वरूप हो । वह यह भी जानता है कि मन, इन्द्रियों तथा बुद्धि की उस तक पहुँच नहीं । अत: वह अपने आप को इन सब से ऊपर उठाने के लिए प्रयत्नशील रहता है ।

"भाव यह है कि साधक की चित्त-स्थिति, भावना, श्रद्धा तथा साधना के अनुरूप ही ईश्वर की कल्पना होती है । स्वामी विवेकानन्दजी से पूछा गया कि ईश्वर कितना बड़ा है ? उत्तर था कि जितना बड़ा साधक होता है उतना बड़ा ही उसका ईश्वर होता है । किसी व्यक्ति के लिए कोई वृक्ष, नदी, पर्वतादि ही ईश्वर है । साधक के चित्त के विकास के साथ-साथ उसकी ईश्वर विषयक कल्पना भी बढ़ती जाती है । पहले कोई देवालय ही ईश्वर का घर होता है । धीरे-धीरे साधक ईश्वर की सर्वव्यापकता तक बढ़ता जाता है । पहले कोई मंत्र विशेष ही ईश्वर प्राप्ति का साधन होता है । मनुष्य की यह धारणाएँ, उसके चित्त विकास के साथ-साथ बदलती रहती हैं । इसलिए सच्चा साधक किसी की धारणाओं को बदलने का प्रयत्न नहीं करता, ताकि कहीं ऐसा न हो कि जहाँ उसकी स्वाभाविक श्रद्धा है, वह भी टूट जाए तथा चित्त स्थिति अनुकूल नहीं होने से, अन्य ऊँची धारणा को भी धारण नहीं कर सके । ऐसे में वह व्यक्ति कहीं का भी नहीं रहेगा । इसके विपरीत वह साधक उस व्यक्ति की श्रद्धा को और भी अधिक पुष्ट करने का प्रयत्न करता है । जब विकास हो जाएगा तो धारणा भी अपने आप बदल जाएगी ।

"साधक का दृष्टिकोण जगत से एकदम विपरीत होता है । वह अपना तथा जगत दोनों का कल्याण चाहता है । दूसरों के कल्याण के लिए यदि उसे कुछ ठहर कर, प्रतीक्षा भी करना पड़े तो वह संकोच नहीं करता । किसी की भावना को ठेस नहीं पहुँचाता, किसी के अहम् पर आघात नहीं करता । यही बात ईश्वर के प्रति धारणा के विषय में भी है । किसी की धारणा के साथ खिलवाड़ नहीं करता, उसका उपहास नहीं करता । उसकी सहायता करता है ।

प्रश्न– आपने शक्ति साधकों के ईश्वर के बारे में कुछ नहीं कहा ?

उत्तर– शक्ति साधकों की ईश्वरीय कल्पना में, उसकी चित् स्वरूपता मुख्य होती है, अर्थात् उनका ईश्वर चैतन्य स्वरूप है । वास्तव में तो उन्हें कल्पना करने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती, क्योंकि चेतन की क्रियाशीलता अन्तर में प्रत्यक्ष होती है । चेतन-सत्ता इन्द्रियों से अतीत है किन्तु उसी की क्रिया मन तथा इन्द्रियों से अनुभवगम्य है । शक्ति साधन, शक्ति की क्रिया रूपी डोरी को पकड़कर शक्ति तक पहुँचने का मार्ग है । आनन्द का अनुभव तो क्रियाशीलता के अनुभव के साथ ही आरंभ हो जाता है किन्तु शक्ति की नित्यता, सर्वव्यापकता तथा एकत्व आदि की पहले कल्पना करना पड़ती है । शिव-शक्ति की अभिन्नता भी अविद्यानाश के पश्चात् का विषय है ।

शक्ति साधकों का ईश्वर, जीवों की इन्द्रियों को परिचालित करने के लिए शक्ति भी प्रदान करता है तथा जगत के रूप में, साधक के समक्ष भी प्रकट होता है । जगत में कोई क्रिया

ईश्वरीय शक्ति के बिना संभव नहीं । हर रूप में, हर भाव तथा संकल्प में शक्ति का स्पंदन ही कर्त्ता है । फिर भी वह अकर्त्ता है ।

ईश्वर के संबंध में विवाद निरर्थक है । आचार्यों को जैसा अनुभव हुआ, सिद्धान्त स्थापित कर दिया । उस आधार पर मत–मतान्तर खड़े होते चले गए तथा उन सम्प्रदायों के अनुयायियों ने, एक -दूसरे से झगड़ना आरंभ कर दिया । ईश्वर भी सोचता होगा कि यह मैंने कैसे जीव बना दिए ? कल्पना के आधार पर एक–दूसरे का गला काटने में लगे हैं । अनुभव कुछ है नहीं, अँधेरे में ही लट्ठ घुमा रहे हैं, किन्तु विचारवान तथा गंभीर साधक, इस वाद-विवाद में नहीं उलझता । वह जानता है कि दृष्टिकोणों तथा होने वाले अनुभव के अन्तर के कारण ही यह भेद है । अन्यथा ईश्वर को कोई भी किसी परिभाषा, व्याख्या या विश्लेषण में नहीं बाँध सकता । जिस प्रकार का साधक होता है वैसी ही ईश्वर की कल्पना कर लेता है ।

उदाहरण के लिए यदि आप उत्तरप्रदेश में जाएँ तो भगवान कृष्ण तथा राधाजी, आप को उत्तर भारतीय वेषभूषा में सुसज्जित दिखाई देंगे किन्तु आप महाराष्ट्र के मंदिरों में जाए तो उनके पहनावे पर महाराष्ट्र की छाप होगी । एक स्थान पर मैं ठहरा था, घर का स्वामी पूजा पाठी था । उसे हुक्का पीने की तलब लगी । उसने एक छोटा सा हुक्का तैयार किया, तम्बाकू रखा, आग रखी, फिर भगवान के सामने रख आया । फिर अपना हुक्का लेकर पीने लगा । मैंने पूछा तो उसने कहा, "हम हुक्का पिएँगे तो हमारे भगवान कैसे नहीं पिएँगे !"

एक पत्रकार अफगानिस्तान गया, उसे पता चला कि यहाँ एक राम मंदिर है । मन में उत्सुकता हुई, वह मंदिर देखने चल दिया । उसने देखा कि मंदिर का पुजारी भगवान को भोग लगाने के लिए, कपड़े से ढँक कर थाली ला रहा है । वह खड़ा होकर देखने लगा । पुजारी ने थाली पर से कपड़ा उठाया तो दंग रह गया । उसमें मांसाहार था । नैवेद्य लग गया तो उसने पुजारी से पूछा कि भगवान को मांसाहार ? पुजारी ने उत्तर दिया, "वाह, रामचन्द्रजी तो क्षत्रिय थे, शिकार खेलते थे तो मांसाहार भी अवश्य ही करते होंगे । इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?"

अब देखिए ! इसमें मुख्य कारण यह है कि अफगानिस्तान में सभी मांसाहारी हैं, इस लिए उनके भगवान् भी मांसाहारी हैं ।

मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि जो विषय उसकी पहुँच की सीमा से बाहर है, उसके संबंध में भी कल्पना करता है । जहाँ तक उसकी बुद्धि नहीं जा सकती, उस विषय में भी विचार करता, लेख लिखता, तथा वाद-विवाद करता है । वह जानता है कि उसके चित्त तथा इन्द्रियों की गति ईश्वर तक नहीं है फिर भी मंदिर, तीर्थ तथा स्थान निर्माण कर, उस तक पहुँच जाने का प्रयत्न करता है ।

मनुष्य में एक ओर शरीर के प्रति आसक्ति है तो दूसरी ओर वह ईश्वर को भी प्राप्त करना चाहता है । बात का सारांश यह निकला कि:-

(१) ईश्वर की परिभाषा हो ही नहीं सकती । उसे विचारों, भावों, आकारों तथा शब्दों में बाँधा ही नहीं जा सकता ।

(२) मनुष्य अपने स्वभाव से विवश है । फिर भी वह ईश्वर को समझने या समझाने की चेष्टा किया ही करता है ।

(३) साधक को ईश्वर की साधना-आराधना करने के लिए किसी आधार की आवश्यकता है, जब कि ईश्वर अव्यक्त निराकार तथा निर्गुण है । इसलिए वह किसी प्रतिमा, अग्नि, जल, सूर्य, विचार, भाव या पुस्तक आदि का सहारा लेकर, यह सब करने का प्रयास करता है ।

(४) जिसकी जैसी श्रद्धा या चित्त की स्थिति है, उसको वैसा करने दो । समय पर चित्त की अवस्था बदलने से उसकी, ईश्वर के प्रति धारणा भी बदल जाएगी ।

(४१) व्यावहारिक साधन

अब महाराजश्री कुछ व्यावहारिक किन्तु साधकों के लिए उपयोगी बातों पर आ गए थे । उन्होंने कहना आरंभ किया :-

"देखो ! मनुष्य सामाजिक प्राणी तो है ही । बिना लोगों से मिले-जुले न रह सकता है, न काम ही चलता है । बचपन से लेकर अन्त समय तक, उसका यह क्रम चलता ही रहता है किन्तु इस मेल-मिलाप में वह अति कर जाता हैं तो यह बुराई का कारण हो जाता है । साधक को न किसी का शत्रु होना है, न किसी से अधिक प्रेम बढ़ाना है । न राग, न द्वेष । यही जगत में रहकर, जगत से अछूता रहने का मार्ग है जिसको समझ पाने में मनुष्य भूल कर जाता है । तथा राग की सीमा तक मिलना-जुलना बढ़ा लेता है ।

"अधिक आने—जाने, मिलने, बातें करने से मोह तो बढ़ता ही है, मर्यादा का उल्लंघन भी आरंभ हो जाता है । फिर कभी कहा-सुनी तथा मनमुटाव हो जाता है । बोलचाल तक बंद हो जाती है । लोग कहते हैं, "इनको क्या हो गया, इनमें तो बड़ा प्रेम था, पर कारण होता है मोह, एक दूसरे से आशाओं का विकास तथा मर्यादा का निर्वाह न हो पाना । हम यह नहीं कहते कि किसी से प्रेम नहीं करो । हम कहते हैं कि सारे जगत से प्रेम करो, किन्तु सीमा तथा मर्यादा का ध्यान रखकर ही ।

"व्यक्तियों की भाँति ही स्थानों , पदार्थों से अधिक संपर्क भी मोह का कारण होता है । श्रद्धा, मर्यादा तथा भावना का नाश कर देता है । गंगाजी के प्रति लोगों के मन में अगाध श्रद्धा तथा भावना है ! कहाँ-कहाँ से लोग गंगा स्नान के लिए आते हैं, खर्च करके, कष्ट सहन

करके, समय का व्यय करके किन्तु हरिद्वार ऋषिकेश में रहने वाले लोग, अपने परिवार, घर या व्यापार में चाहे कितना भी मोह रखते हों, गंगा स्नान शायद ही कभी करते होंगे । इसके विपरीत गंगाजी में कपड़े धोते हैं । नगरों का गंदा पानी गंगाजी में डाला जाता है । यह गंगाजी से अधिक संपर्क के कारण हुआ ।

"द्वेष की तरह ही राग भी मन मलीन करता है तथा राग की अधिकता को बढ़ाता है । उसके द्वेष, घृणा तथा क्रोध में परिणत हो जाने की संभावना बनी रहती है । राग तथा द्वेष दोनों अध्यात्म की उन्नति में बाधक हैं । अध्यात्म का आरंभ राग-द्वेष समाप्त हो जाने पर ही होता है । ऐसे लोगों की कमी नहीं जिन्होंने मोह युक्त होकर, संतान का पालन किया, उससे बड़ी-बड़ी आशाएँ लगाईं, किन्तु संतान ने बड़े हो कर मुँह फेर लिया । ऐसे लोगों का जीवन निराशामय हो गया, क्योंकि उन्होंने किसी से आशा रखी थी । अधिक संपर्क होने से आशाएँ भी बढ़ती हैं । आशा निराशा की जननी है । जड़ भरत की कथा तो प्रसिद्ध है ही । उन्होंने हिरण का बच्चा पाल लिया, मोह हुआ । परिणाम यह हुआ कि हिरण की योनि में जाना पड़ा ।

"यदि कर्त्तव्य बुद्धि से कर्म तथा व्यवहार किया जाए तो वह मोह तथा बंधन का कारण नहीं होता, किन्तु बदले में किसी प्रकार की आशा मन में मत रखो । किसी के कठिन समय में उसके काम आओ, तो अपने कठिन समय में उससे आशा मत रखो ।

आत्मावलोकन– "दूसरी बात है अपने आप को देखना, अपने अंदर झाँकना यह वही मनुष्य कर पाता है जो जगत विषयों से ऊब गया हो, भोगों में दुःख को देखने लगा हो तथा अध्यात्म लाभ कमाना चाहता हो, क्योंकि जगत प्रवाह तो चलने वाला सतत् क्रम है, सुख-दुःख का भाव भी समाप्त होने वाला नहीं, फिर आत्मावलोकन कब करोगे तथा अध्यात्म-लाभ की भूख भी कब जाग्रत होगी ? मन तो चंचल है ही किन्तु फिर भी, जगत-भोगों में दुःख तो देखा जा ही सकता है । वैसे तो आत्म निरीक्षण की प्रक्रिया, सतत् चलने वाला एक क्रम है किन्तु प्रारंभ में यदि कुछ देर के लिए भी इधर ध्यान दिया जाय तो जीवन में काफी परिवर्तन आ सकता है । जितना अधिक अन्दर देखोगे उतना ही अधिक मार्गदर्शन तथा संशय-निवृत्ति अन्तर से ही होगी । यह आत्म संतोष वास्तविक एवं स्वाभाविक होगा । फिर आपको भटकने तथा प्रश्न पूछते फिरते रहने की आवश्यकता नहीं रहेगी । आत्मावलोकन करते समय प्रथम आवश्यकता एकान्त है, कोई काम न हों, कोई बाधा न हो, निर्विघ्न चिन्तन । रात को सोते समय, या प्रातः काल ब्रह्म मुहूर्त में उठकर । चाहे थोड़े समय के लिए ही सही । आँखें मूँदकर, शान्त चित्त होकर, अन्दर झाँकते हुए, निम्न लिखित प्रश्नों पर विचार करो ।

(१) मनुष्य स्वयं नहीं जानता कि वह कौन है ? उसके विचार, भाव तथा संकल्प सदैव बदलते रहते हैं । जिसको वह अपना आप समझे बैठा है, उस शरीर का स्वरूप तथा अवस्था भी बदलतीं रहती है । वह निश्चय ही, इन बदलती अवस्थाओं में नित्य एकरस रहने वाला कोई भिन्न तत्व है जिसे इन परिणामों का कोई प्रभाव नहीं होता । वह तत्व क्या है, उसका स्वरूप क्या हैं ? उसके गुण तथा स्वभाव क्या हैं ? यह सब जिज्ञासा का विषय है ।

(२) दूसरा प्रश्न कि मैं कहाँ से आया हूँ ? जैसे उसे प्रथम का उत्तर नहीं मिल रहा, इसी प्रकार यह समस्या भी मनुष्य के सामने अनसुलझी ही है । वैसे योग मार्ग के अंदर इस प्रकार की अवस्थाओं का उल्लेख है, जिसमें उसके संस्कार, उसके समक्ष प्रकट हो जाते हैं । संस्कारों की भी श्रृंखला है । उस श्रृंखला को पकड़कर, यदि मनुष्य पीछे की ओर चले तो उसे पूर्व जन्मों का ज्ञान प्राप्त हो सकता है । यह प्रक्रिया इतनी सरल नहीं । उसके लिए चित्त-भूमिका की विशेष-प्रकार की आवश्यकता है । जब तक उसे वह अवस्था प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक मनुष्य को इस अवस्था को जीवन्त बनाए रखने के लिए, सतत् विचार करते रहना चाहिए । यह विचार भी, आत्म तत्त्व पर केन्द्रित नहीं हो कर सूक्ष्म शरीर तक ही सीमित हैं तथा सूक्ष्म शरीर भी नित्य तत्व नहीं है । अत: प्रश्न यह है कि जीव का आत्म तत्व कहाँ से आया है ? वह कौनसी अवस्था, स्तर या तत्त्व है, जिसका वह अंश है ? वैसे भी आत्म स्थिति प्राप्त करने के लिए पूर्व जन्मों का हाल जानना आवश्यक नहीं, पर यह साधन की एक अवस्था अवश्य है ।

(३) जगत में मेरा कौन है ? यह प्रश्न जगत के प्रति वैराग्य उत्पन्न करने के लिए है । धन, वैभव, घर, परिवार, यश-अपयश, यह तो मेरे हैं ही नहीं, क्योंकि आज हैं तो कल नहीं । जो मेरा है वह सदा मेरे साथ रहना चाहिए किन्तु यह सब या तो मैं उन्हें छोड़ दूँगा, या वह मुझे छोड़कर चले जाएँगे । मन, बुद्धि, संकल्प, वृत्तियाँ, भाव तथा संसार भी तो मेरे नहीं, क्योंकि यह बदलते रहते हैं । कभी उदय तो कभी विलीन हो जाते हैं । जिसको मैं अपना विचार मानता हूँ, समय के साथ वह भी बदल जाता है । फिर जगत में मेरा क्या है ? केवल अभिमान ही, किन्तु अभिमान भी मेरा कहाँ है ? अभिमान तो केवल भ्रम है, कल्पना है । शास्त्र कहते हैं कि केवल ईश्वर ही मनुष्य का है । न वह कभी साथ छोड़ता है न बदलता है । पर मेरा ईश्वर है कहाँ ? यदि ईश्वर ही मेरा है तो उसे प्रत्यक्ष करना मेरा कर्त्तव्य है । केवल मुँह से, ईश्वर मेरा, ईश्वर मेरा, कहना पर्याप्त नहीं । जब तक वह प्रकट नहीं हो जाता मैं नास्तिक जैसा ही हूँ ।

(४) कहाँ जाना है, इसको जानने का कोई उपाय नहीं । संस्कारों की श्रृंखला पकड़ कर, पूर्व जन्मों को तो जाना जा सकता है किन्तु भविष्य के संस्कार होते हैं, न ही श्रृंखला । यह

चित्त-स्थिति पर आधारित है जो अन्त समय होगी। शुभ कर्म शुभ योनियों में तथा अशुभ-कर्म निम्न योनियों में ले जाते हैं किन्तु इतने से ही योनियों ने पीछा कहाँ छोड़ा ? यह ऊपर-नीचे का चक्कर चलता ही रहेगा। ऐसा उपाय होना चाहिए कि योनियों का आवागमन छूट जाए। क्यों न ऐसे कर्म किए जाएँ जो न शुभ हो, तथा न ही अशुभ।

(५) मैं आत्मा से पतित क्यों हो गया ? किन कारणों से मैं वर्तमान दयनीय स्थिति में आ गया ? मैं समझता हूँ कि जगत मिथ्या है, फिर भी जगत के ही पीछे भागा जा रहा हूँ। जानता हूं कि भोगों में दुख है, फिर भी भोग-लिप्सा में मरा जा रहा हूँ। यह भ्रम नहीं तो क्या है ? क्या यह भ्रम ही मेरी दयनीय स्थिति का कारण है ? यह भ्रम ही तो है जो जगत में, सुख की आशा से आसक्त बना हुआ हूँ। यह भ्रम ही है जो मुझे नचाये फिरता है। अत: इस भ्रम का नाश कैसे हो ?

(६) भ्रम के कारण ही मुझ मैं कर्त्तापन का भाव उभरा तथा कर्त्तापन के कारण संस्कार-संचय आरंभ हुआ। अब मैं प्रारब्ध में बँधा, जाल में फँसे पक्षी की भाँति तड़प रहा हूँ। जाल से निकलना चाहता हूँ, पर निकल नहीं पाता। शिकंजा कसता ही जा रहा है। छुटकारे का कोई उपाय सुझाई नहीं देता। प्रारब्ध ऐसा बलवान है कि फल दिए बिना पीछा नहीं छोड़ता। नये-नये संस्कार संचय से, संस्कार चक्र घूमता ही रहता है। क्यों न सुखी-दुखी हुए बिना ही प्रारब्ध को भोगा जाए ताकि भविष्य में संस्कार संचय हो ही नहीं। क्या मैं ऐसा कर पाता हूँ ? इसके लिए कितनी सहनशीलता, कितना धीरज चाहिए। इसके लिए मन को मारना पड़ेगा।

(७) शक्तिपात् के साधक को यह भी निरीक्षण करना चाहिए कि उसमें समर्पण का भाव कहाँ तक है। शक्तिपात् में द्रष्टाभाव की अनुभूति तो उदय हो जाती है पर समर्पण इससे भिन्न है। क्रियाओं में हस्तक्षेप नहीं करना, सुख-दुख में समभाव, परिणाम की चिन्ता त्याग कर कर्तव्यपालन, समर्पण है, क्या मैं ऐसा कर पाता हूँ ? क्या मेरा अभिमान खड़े होकर, बार-बार मुझे समर्पण-पथ से विचलित नहीं करता ?

(८) अपने गुणों की ओर साधक को न अधिक ध्यान देना चाहिए न उनका बखान करते रहना चाहिए। इससे मन में गुणों का अभिमान आ सकता है तथा अभिमान सबसे बड़ा अवगुण है। इसका यह भी अर्थ है कि वे गुण अभी स्वाभाविक नहीं हुए, क्योंकि स्वभाव का अभिमान नहीं होता। जिसमें अभिमान हो समझो कि वह अस्वाभाविक ही है। जहाँ अपने गुण नहीं देखना चाहिएँ वही दूसरों के गुण-अवगुण देखना सब से बड़ा अवगुण है। मनुष्य दूसरे के गुणों से तो कोई शिक्षा ग्रहण करता नहीं, किन्तु अवगुण बड़ी जल्दी मन को प्रभावित कर लेते हैं ? क्या यह दोष मेरे में है ? क्या मैं दूसरों के गुणों से कुछ शिक्षा ग्रहण करता हूँ ?

(९) दोष अपने देखने चाहिएँ । सामान्य मनुष्य को अपने दोषों का पता नहीं चल पाता । यदि पता लग भी जाए तो वह उसे भी न्यायसंगत ठहराने का प्रयत्न करता है जिससे उसके दोष अन्दर ही अन्दर बढ़ते रहते हैं । जब तक उससे अपने दोषों के प्रति घृणा नहीं होगी, तब तक उसके मनोसंयम का मार्ग भी प्रशस्त नहीं होगा । घृणा होने के पश्चात् ही वह दोषों से मुक्त होने का उपाय खोजने का प्रयत्न करेगा । क्या मुझे अपने कुछ दोष दिखाई देते हैं ? क्या उन दोषों के प्रति मन में घृणा भाव है ? क्या उनसे छुटकारे का कोई उपाय करता हूँ ?

(१०) क्या मेरा रहन-सहन तथा खान-पान सात्विक है ? क्या मेरे व्यवहार में नम्रता है ? क्या मेरी करनी तथा कथनी एक है ? क्या मैं छोटी-छोटी बातों पर भड़क तो नहीं उठता ? मैं किसी के साथ विश्वासघात तो नहीं करता ? क्या मैं किसी को समय देकर उसका पालन करता हूँ ? क्या मैं समय पर सो जाता तथा प्रातःकाल जल्दी उठ जाता हूँ ? क्या मैं अपने प्रयोग में आने वाली वस्तुओं को यथा स्थान रखता हूँ ? क्या मैं नित्य प्रति कुछ न कुछ अध्ययन करता हूँ ? क्या मैं नियमित साधना में बैठता हूँ ? मैं कहीं समय व्यर्थ नष्ट तो नहीं करता ? दूसरों की निन्दा करने या सुनने में रस तो नहीं लेता ?

"ऊपर कुछ प्रश्न सुझाए गए हैं जिन पर विचार करने से साधक को आत्मावलोकन में सहायता मिल सकती है । साधक को, अपनी सुविधा के अनुसार कोई सा समय निश्चित कर लेना चाहिए । अपनी भूलों के लिए अपने आप को फटकारना चाहिए, पश्चाताप होना चाहिए तथा भविष्य में दूसरी बार, उस भूल को नहीं करने का दृढ़ संकल्प होना चाहिए । इन बातों का मनन दिन भर, प्रत्येक कर्म करते समय , बना ही रहना चाहिए । इस तरह साधक सारा दिन अपने मन पर सवार बना रह सकता है । साधन का अर्थ है जीवन का प्रवाह बदल जाना । यदि जीवन में बदलाव नहीं आया तो कहीं न कहीं त्रुटि है ।

(४२) काम -कला

काम-कला का विषय बड़ा गूढ़ है । जीव की सोच उलटी होने से, उसने इसका कुछ का कुछ अर्थ मान लिया है । एक दिन महाराजश्री इसी विषय पर बोल रहे थे—

"काम-कला के रहस्य को केवल भगवान ही जानते हैं, जिन्होंने शक्ति से युक्त होकर, सृष्टि की उत्पत्ति की तथा शक्ति जगत की माता कहलाई, पर न भगवान की इन्द्रियाँ हैं, न शक्ति की ; इसलिए, जगत रूपी संतान की उत्पत्ति में इन्द्रिय सुख तथा वासना का तो प्रश्न ही नहीं । वह काम-कला शुद्ध आध्यात्मिक स्तर पर थी, पर बहिर्मुखी जीव ने, काम को इन्द्रियों के धरातल पर उतार लिया । काम दो शरीरों का मिलन मात्र होकर रह गया, स्पर्शेन्द्रियाँ तुष्टि का साधन हो गया, काम ने वासना का रूप धर लिया । कितना पतन है काम का !

"कलाकार किसी कृति को जन्म देता है, इसलिए सभी कलाएँ, काम-कला के अन्तर्गत ही हैं किन्तु सबसे बड़ा कलाकार ईश्वर ही है जिसने बिना मार्बल या छैनी हथौड़ी के, बिना किसी रंग-तूलिका के, बिना किसी सामान तथा औजार के, जगत जैसी अनुपम, अद्भुत तथा सुन्दरतम संतति की रचना कर डाली। यही ईश्वर की काम—कला है।

"कला का भाव है परिणाम, जो एक से अधिक वस्तुओं के संयोग से, किसी नए रूप को जन्म देती है। ईश्वर के द्वारा, शक्ति की स्पंदनशीलता से, सृष्टि की उत्पत्ति हुई; यह ईश्वर या शक्ति की कलात्मकता है, काम कला है, ईश्वर की विलासिता है, पर यह सारी काम-कला कामना तथा वासना रहित है, मोह तथा आसक्ति नाम को भी नहीं। अपनी संतान के भौतिक विकास पर होने वाले गर्व का यहाँ लेशमात्र भी नहीं। उस काम-क्रीड़ा की जीव कल्पना भी नहीं कर सकता। जब तक वह इन्द्रियों से ऊपर नहीं उठेगा, इस बात को समझ पाने में पूर्णतः असमर्थ है। काम की चर्चा होते ही उसके सामने, इन्द्रिय तुष्टि के दृश्य उपस्थित होने लगते हैं। वह कैसे समझ सकता है कि बिना इन्द्रियों के भी सृजन हो सकता है।

"किन्तु ईश्वर का आनन्द, सुख तथा काम, सब कुछ इन्द्रियातीत है, फिर भी सृष्टि का सृजन हो रहा है। यही ईश्वर की काम—कला है।

"ईश्वर को अपने से भिन्न किसी व्यक्तित्व की, काम क्रीड़ा के लिए आवश्यकता नहीं। वह अन्तर में ही, अपने में विद्यमान शक्ति को प्रकट करता है। अन्तर में ही, एक होकर दो समान व्यवहार करता है तथा अन्तर में ही काम-क्रीड़ा से, अन्तर में ही सृष्टि को जन्म देता है। यह क्रियाएँ, क्रीड़ाएँ तथा परिणाम ईश्वर की लीला मात्र होती हैं। इसके विपरीत जीव की काम-वासना शारीरिक तुष्टि की भूखी होती है। अपनी संतान से भी मोह तथा उससे कई प्रकार की आशाएँ होती हैं। ईश्वर के लिए यह सब लीला होते हुए भी, जीव के लिए सभी सत्यवत् होता है। उसे अपने से भिन्न दूसरे व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है जिससे कामोत्तेजना में एक हो जाना चाहता है, पर हो नहीं सकता। क्षण मात्र के लिए वह अपने अस्तित्व-व्यक्तित्व को भूल जाता है, किन्तु शीघ्र ही उसे अपनी भिन्नता का आभास हो जाता है। यही जीव की काम—कला है।

"जब जीव की संतान होती है, तो दोनों से भिन्नता लिए हुए होती है। माता के स्नेह को जगत-जननी भगवती से उपमा दी जाती है। यह उपमा नितान्त अधूरी है। अपितु विपरीत है। जहां शिशु अपनी माता से पृथक है, माता को संतान से मोह है, वहीं जगत-जननी से, उसकी संतान यह जगत अभिन्न है। जिस प्रकार उसका प्रियतम उससे अभिन्न है, उसी प्रकार उसकी संतान जगत भी। संसारी जीव के लिए यह अन्तर समझ पाना असंभवप्रायः है, किन्तु ईश्वर की लीला ऐसी ही है इसीलिए लीला को महामाया कहा जाता

है । इसने जीवों के चित्तों को माया से ढँक, काम का रूप स्पर्शेन्द्रिय के सुख भोग के धरातल पर नीचे उतार दिया है । वे दोनों एक- दूसरे के शरीर में खो जाना चाहते हैं । यही जीव की काम—कला है ।

स्त्री तथा पुरुष काम—क्रीड़ा के पश्चात् एक -दूसरे से पृथक हो जाते हैं किन्तु ईश्वर, क्रीड़ा से पूर्व, क्रीड़ा करते हुए तथा क्रीड़ा के पश्चात् भी शक्ति के साथ सदैव ही संयुक्त रहता है । वह शक्ति का आधार है, जिसके बिना शक्ति की कल्पना भी नहीं की जा सकती । पृथक तो वह होता है जिसके मिलन का आधार भौतिक इन्द्रियाँ होती हैं । यहाँ तो ईश्वर तथा उसकी शक्ति, दोनों ही इन्द्रियातीत हैं, फिर पृथकता कैसी ? किन्तु जीव मिलता भी है, पृथक भी होता है, दूर रहने पर छटपटाता भी है । यही जीव की काम—कला है ।

"ईश्वर की काम-क्रीड़ा के संस्कार संचय नहीं होते । जब इन्द्रियाँ ही नहीं हैं, चित्त ही नहीं है तो संस्कार संचय भी कैसे तथा कहां होगा ? किन्तु जीव की तो इन्द्रियाँ भी हैं तथा चित्त भी, चित्त में वासना भी है तथा आसक्ति भी । इन्द्रियों के माध्यम से चित्त जिस सुख का अनुभव करता है, उसकी स्मृति, संस्कारों के रूप में चित्त में अंकित हो जाती है । प्रारब्ध निर्माण होता है तथा जीव को तदनुसार निम्न-उच्च योनियों में भी भटकना पड़ता है, जिससे, उसकी वासनापूर्ति हो सके । इस प्रकार जीव की काम-क्रीड़ा उसे आवागमन में भटकाते रहने का कारण बनती है । यही जीव की काम-कला है ।

"भाव यह है कि ईश्वर की काम-कला माया से अतीत, अदृश्य तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तर पर घटित होती है जबकि जीव की काम-कला माया के अंदर, दृश्य तथा स्थूलतम स्तर पर स्थान पाती है । काम-क्रीड़ा के पश्चात् भी ईश्वर मुक्त बना रहता है, जबकि जीव बंधन में आता चला जाता है ।

"आध्यात्मिक उत्थान के लिए, ईश्वर की काम-क्रीड़ा को समझना तथा अनुभव करना आवश्यक है । यह एक ऐसी नदी के समान है जिसको पार करके ही परला किनारा पाया जा सकता है । एक ऐसी दुर्गम घाटी है जिसको लाँघने के पश्चात् ही, सामने के ऊँचे पहाड़ की चढ़ाई चढ़ी जा सकती है । जीव का कार्य अत्यन्त कठिन है, उसे न केवल अपनी काम-क्रीड़ा के स्वरूप तथा आधार को बदलना होगा, वरन् ईश्वरीय काम-क्रीड़ा के स्वरूप तथा रहस्य को भी समझना- जानना होगा । इसके लिए उसे, अपने सारे जीवन को बदलना तथा शरीर और चित्त से ऊपर उठकर, समष्टि चैतन्य से नाता जोड़ना होगा ।"

(४३) आभा मण्डल

महाराजश्री के साथ मैं प्रातः भ्रमण को जा रहा था । उन दिनों देवास में रेलवे स्टेशन पर, एक भी मकान नहीं बना था । सुनसान सड़क, कभी-कभार इक्का-दुक्का कोई गाड़ी पर जाने वाला यात्री अथवा कोई टांगा दिख जाता था । सड़क के दोनों ओर वृक्ष बहुत कम

थे । पतझड़ होने से उनके पत्ते भी झड़ चुके थे, जिससे पक्षी भी अपने बसेरे उठाकर, अन्यंत्र जा चुके थे । यहां तक कि वृक्षों की परछाइयों ने भी उनका साथ छोड़ दिया था । क्या किया जाए, यह जगत ऐसा ही है । जब सिर पर संकट के बादल उमड़ने लगते हैं तो जगत पहले ही, साथ छोड़कर भाग खड़ा होता है पर हमें क्या ? हम तो घूमने जा रहे थे । हमें अपनी आध्यात्मिक चर्चा में रुचि थी तथा महाराजश्री अपने जीवन की घटना सुना रहे थे-

"मैं एक स्वामीजी के साथ गुजरात भ्रमण पर था । दो एक वर्ष संन्यास ग्रहण किए हो गए थे । किसी बात पर वह स्वामीजी मुझसे बिगड़ गए तथा, "तेरा काला मुँह कभी नहीं देखूँगा" कह कर चले गए । मेरे मन में बड़ी ग्लानि हुई । क्या मैं सचमुच ही इतना बुरा हूँ कि लोग मेरा मुँह भी नहीं देखना चाहते ? दो-चार दिन यह ग्लानि रही । कुछ खाने को भी मन नहीं करता था । चार-छः दिन के बाद सामान्य हुआ । इसे भी प्रारब्ध का खेल समझ कर, मन को समझा लिया ।

"तब मैं दक्षिण दिशा की ओर चल दिया तथा घूमता-घामता रमण महर्षि के आश्रम पर जा पहुँचा । उन दिनों रमण महर्षि वर्तमान थे । उनके आश्रम का वातावरण अत्यन्त शान्त एवं आनन्द-दायक था । चारों ओर शान्ति बिखरी पड़ी थी । महर्षि भी प्रातः भ्रमण के बड़े पाबन्द थे । वह जब वापिस लौटते तो लोग, उनके दर्शन के लिए, रास्ते के दोनों ओर खड़े हो जाते थे । मेरे मन में कोई विशेष प्रश्न तो था नहीं, केवल दर्शन लाभ ही लेना था ।

"फिर वहीं पर एक मंदिर में दर्शन करने गया, जहाँ एक बड़ा विचित्र अनुभव हुआ । मंदिर की परिक्रमा करते समय एक स्थान पर आकर, मेरा मन एकदम शान्त स्तब्ध हो गया । दूसरे चक्र में फिर उसी जगह आया, तो फिर मन की वही दशा हो गई । मन एकदम विचार-शून्य, भाव-शून्य हो जाता था । कुछ अजीब प्रकार की मस्ती से भर उठता था ऐसा प्रतीत होता था । मानो, मन अन्तर की ओर खिंचता चला जा रहा है । मैंने इधर-उधर देखा तो एक सज्जन ध्यान मग्न बैठे थे, संभवतः समाधि में ; उसीका प्रभाव था कि वातावरण शान्त बना हुआ था ।"

प्रश्न– क्या सभी के मन, उस परिधि में आकर आप की तरह, शान्त स्तब्ध हो जाते होंगे ?

उत्तर– नहीं । सबके नहीं । जब इस प्रकार कोई उच्च आन्तरिक अवस्था में स्थित हो जाता है तो उसके आसपास, उसका एक प्रभामण्डल विकसित हो जाता है, जिसमें उस ध्यानस्थ व्यक्ति की आध्यात्मिक तरंगें प्रसारित होती रहती हैं । जिसका मन इस योग्य निर्मित हो चुका होता है कि उन सूक्ष्म तरंगों को ग्रहण कर सके, उसी को ऐसा अनुभव होता है । हाँ, कुछ न कुछ प्रभाव, चाहे-अनचाहे सभी पर होता ही है ।

तुमने रामायण में पढ़ा होगा कि जब गरुड़जी को मोह उत्पन्न हो गया तो उसके निवारण के लिए शंकरजी ने उन्हें काक-भुषुण्डीजी के पास भेजा । जब दूर से उन्होंने उस पर्वत शिखर के दर्शन किए, जिसके नीचे काक-भुषुण्डी जी का आश्रम था, तो गरुडजी के चित्त की अवस्था बदल गई, मन का मोह दूर हो गया । गरुड़जी का मन वैसे तो निर्मल था, केवल मोह की एक लहर ही उठी थी । इसलिए उन्होंने काक-भुषुण्डी जी के प्रभामण्डल में प्रवेश करते ही, प्रभाव को ग्रहण कर लिया तथा स्वस्थ हो गए ।

प्रश्न– मंदिर में परिक्रमा करते समय मन की स्तब्धता का अनुभव एक स्थान पर ही होता था, जबकि गरुड़जी पर, दूर से शिखर के दर्शन करने से ही उनका मन प्रभावित हो गया ।

उत्तर– सबका अपना-अपना प्रभाव मण्डल होता है तथा सबकी अपनी-अपनी ग्रहण करने की शक्ति । जितना कोई साधक मन में गहरा उतरता जाता है, उतना ही उसका प्रभाव मण्डल फैलता जाता है अर्थात् अध्यात्म तरंगें उतनी दूर तक प्रसारित होती हैं । किसी का मण्डल छोटा तथा किसी का बड़ा होता है । काकभुषुण्डीजी को हमारे शास्त्रकारों ने उच्चतम आध्यात्मिक व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत किया है, इसलिए उनका प्रभाव मण्डल भी उतना ही बड़ा था । गरुड़जी के दूर से शिखर के दर्शन करने पर ही, मन का मोह दूर हो गया ।

प्रश्न– क्या सात्विक महापुरुषों का ही प्रभाव मण्डल होता है, तम-रज प्रधान का नहीं ?

उत्तर– होता तो सबका है । यदि सत्वगुण प्रधान व्यक्ति, किसी सीमा विशेष तक सत्वगुण प्रसारित करता है, तो तम-रज प्रधान व्यक्ति तम-रज का । सत्वगुण प्रधान जगत में कोई विरला ही होता है । सारा का सारा जगत तो अपने प्रभाव-मण्डल द्वारा तम-रज प्रसारित करने में ही लगा है । जिसके पास जो होगा, वह वही तो बांटेगा । दुःखी मन दुःख को, चंचल मन चंचलता को, प्रसन्न मन प्रसन्नता को तथा विषयी मन विषय-वासना सर्वत्र फैलाता फिर रहा है । जिस प्रकार चंचल मन सात्विकता के प्रभाव को ग्रहण नहीं करता, उसी प्रकार सत्व गुण प्रधान व्यक्ति तम-रज के प्रभाव को नकार देता है ।

प्रश्न– इसका अर्थ यह हुआ कि किसी प्रभाव मण्डल के प्रभाव को ग्रहण करने के लिए, पहले से ही चित्त में उस-गुण की प्रधानता होना आवश्यक है ?

उत्तर– यह समझो कि पहले तो सत्वगुणी प्रभाव मण्डल के संपर्क में आने से सामान्य लोग बचना चाहते हैं । सारा जगत दुखी है किन्तु कितने लोग काकभुषुण्डी जी के आश्रम तक पहुँच पाए ? किसी नगर के पास कोई आध्यात्मिक महापुरुष रहता है, तो उस नगर के कितने लोग उसके संपर्क में आते हैं ? अधिकांश तो अपने दुःखों से ही जूझते रहते हैं । यहां देवास की जन-संख्या बारह चौदह हजार होगी, किन्तु आश्रम में नियमित आने

वाले पचास भी नहीं हैं। यदि कभी-कभार कोई आ भी जाता है, तो चित्त-स्थिति अनुकूल नहीं होने से, यहाँ की शान्ति से प्रभावित नहीं हो पाता। चित्त में ग्राह्यता होगी तभी तो ग्रहण कर पाएगा। चित्त में जो गुण प्रभावी होगा, उसी गुण के प्रभाव को ग्रहण करेगा। दुःखी जगत सुख की खोज करना ही नहीं चाहता, जहाँ सुख की संभावना हो, वहाँ से दूर हट जाता है।

(४४) प्रतिमा की प्राण प्रतिष्ठा (शक्तिपात)

इन्दौर में भगवती का एक नया मन्दिर बना था। उस समय वहां एक बड़ा उत्सव मनाया गया। महाराजश्री को उसकी अध्यक्षता के लिए निमन्त्रित किया गया था। महाराजश्री ने प्रतिमा के दर्शन करने के पश्चात् कहा, "प्रतिमा पर शक्तिपात् हो गया है। अब यह स्थान जाग्रत हो गया।" प्रतिमा पर शक्तिपात्! सुनकर कुछ अजीब सा लगा। अन्ततः पूछ ही लिया, "महाराजश्री प्रतिमा को भक्त भगवान का स्वरूप समझते हैं। फिर भगवान् पर भी शक्तिपात्? बात कुछ समझ में नहीं आई।"

महाराजश्री बोले, "इस बात को समझो। पहले तो प्रतिमा पत्थर का एक टुकड़ा होती है, जिसे कलाकार अपनी कला से घड़कर, उसे सुन्दर आकार प्रदान करता है। वह पत्थर का टुकड़ा प्रतिमा हो जाता है किन्तु इतने से ही वह पूज्य नहीं हो जाती। जब तक उसमें प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो जाती। इसका अर्थ यह है कि वास्तव में प्रतिमा पूज्य नहीं होती, प्राण पूज्य होता है। प्रतिमा में यदि प्राण प्रतिष्ठित है तो वह पूज्य है। प्राण प्रतिष्ठित नहीं है तो पूज्य नहीं है। भाव यह हुआ कि प्रतिमा केवल माध्यम है, प्रतीक है, आधार है। कई संतों ने मूर्ति-पूजा की निन्दा की है क्योंकि लोगों ने प्रतीक को ही भगवान मान लिया है। माध्यम स्वयं ही पूज्य बन गया है, जिससे प्रतिमा के माध्यम से प्राण की पूजा का आधार ही हिल गया है। यदि प्रतीक को प्रतीक मानकर ही, उसके माध्यम से प्राण या भगवान की पूजा की जाये, तो उसकी निन्दा कोई कैसे करेगा! उपनिषदों में भी प्रतीक उपासना का उल्लेख है, मूर्ति-पूजा का कहीं नहीं।

"आजकल प्राण—प्रतिष्ठा भी प्रायः दिखावा मात्र ही रह गई है। वेद मंत्रों का उच्चारण, मूर्तियों का जल-स्नान, धान—स्नान, नवग्रह पूजा तथा हवन-यज्ञ इत्यादि सब होता है किन्तु दृष्टि प्रायः दान-दक्षिणा की ओर लगी रहती है। मंदिर के प्रबंधकों को भी प्राण प्रतिष्ठा से अधिक अपनी प्रतिष्ठा की चिन्ता होती है। परिणाम यह होता है कि प्रतिष्ठा गौण हो जाती है। किसी युग में विद्वान, तपस्वी ऋषियों से प्राण-प्रतिष्ठा कराई जाती थी, जो त्यागी; वैरागी तथा निस्पृह होते थे जिन्हें प्राण की क्रियाओं का अनुभव तथा उन पर नियंत्रण होता था। उनके सामने धन प्राप्ति गौण होती थी तथा प्राण प्रतिष्ठा का लक्ष्य मुख्य होता था। वे अपनी प्राण शक्ति को प्रसारित करके, प्रतिमा स्थापित करने की क्षमता रखते थे।

हाल है । समय की कोई कीमत उनके समीप नहीं है । चाहिए तो यह था कि समय पर पहुँच कर गाड़ी की प्रतीक्षा करते तथा प्रतीक्षा के समय का सदुपयोग पठन, जपादि में करते, किन्तु ये अब भागे जा रहे हैं । गाड़ी केवल दो मिनट ठहरती है । अधिकांश लोग गाड़ी नहीं पकड़ पाएँगे ।

"यही हाल जीवन में भी होता है । युवावस्था में जब साधन का समय होता है तब कोई साधन नहीं करता । गाड़ी आने की अर्थात् वृद्धावस्था की प्रतीक्षा में, जगत-भोगों में ही रत रहते हैं । वृद्धावस्था आती है तो गाड़ी निकल चुकी होती है । तब तक साधन का अवसर बीत जाता है क्योंकि इन्द्रियों में शिथिलता आ जाती है । गाड़ी प्लेटफार्म छोड़ चुकी होती है । मन की वासना का यौवन होता है तो शरीर की वृद्धावस्था । ऐसे में साधन कैसे संभव है ? बुढ़ापे में मन अधिक चंचल हो जाता है ।

"समय से बड़ा कोई धन नहीं । समय के सदुपयोग से बड़ी कोई साधना नहीं । समय की गाड़ी चूक जाने से बड़ा कोई दुर्भाग्य नहीं । समय की रफ्तार को पहचान लेने से बड़ी कोई बुद्धिमानी नहीं, समय का सामना कर लेने से बड़ी कोई वीरता नहीं । समय का आदर न करने से बड़ी कोई मूर्खता नहीं तथा समय की प्रतीक्षा करते रहने से बड़ी कोई नासमझी नहीं ।

"साधक अनुकूल समय की प्रतीक्षा नहीं किया करते । उनके साधन की गाड़ी प्लेटफार्म पर प्रत्येक परिस्थिति में तैयार ही मिलती है । वह प्राप्त परिस्थितियों का सदुपयोग करना जानते हैं । प्रत्येक परिस्थिति को भगवान का कृपा प्रसाद मानकर, शिरोधार्य करते हैं तथा जितना जैसा संभव होता है, साधनमय जीवन व्यतीत करते हैं । उनके लिए प्रत्येक परिस्थिति एक परीक्षा के समान होती है तथा वह प्रत्येक में से उत्तीर्ण होकर निकलते हैं ।

"साधन एक ऐसी अमूल्य तथा अचूक औषध है कि यदि समय के अनुसार उसका सदुपयोग किया जाय तो भव-रोग समूल नाश कर देती है । समय विपरीत होने पर समय ही उसको ठीक कर देता है । समय पर लिया गया आराम नयी स्फूर्ति प्रदान करता है । समय पड़ने पर मित्र तथा शत्रु की पहचान हो जाती है तथा समय रूपी साँप के निकल जाने पर केवल लकीर को पीटते रहने का कोई लाभ नहीं । इन लोगों का गाड़ी पकड़ने के लिए भागना, लकीर पीटने के समान है ।

"जो समय पर नहीं चेता, उसने कभी कुछ प्राप्त नहीं किया । जिसने कभी समय व्यर्थ नष्ट नहीं किया वह सदा लाभ में ही रहता है । जो समय के प्रवाह के साथ-साथ मृत्यु को अपने निकट आता देखता है, वह सदा ही सचेत बना रहता है । जो समय की अनुकूलता में उसका स्वागत करता है तथा प्रतिकूल होने पर कछुए के समान अपने अंगों को समेट

लेता है, वह सदा संकट से बचा रहता है । जो समय के प्रत्येक क्षण का उपयोग भगवद् नाम स्मरण तथा साधन में करता है, उसके सभी संचित पाप ज्ञानाग्नि में जलकर भस्म हो जाते हैं । इसीलिए कहा कि समय से बड़ा कोई धन नहीं ।

"जैसे मुरझाया हुआ फूल दोबारा खिल नहीं सकता, जैसे टूटा हुआ पत्ता दोबारा वृक्ष पर लग नहीं सकता, जैसे मरा हुआ व्यक्ति दोबारा जीवित नहीं हो सकता, उसी प्रकार बीता हुआ समय भी दोबारा लौटकर नहीं आ सकता । जल प्रवाह की तरह समय का भी प्रवाह है । समय का अखण्ड प्रवाह न कभी टूटता, न रुकता है । अनन्त काल से प्रवाहित होता आ रहा है, अनन्त काल तक प्रवाहित होता रहेगा । दिन–रात समय सीमा के अन्दर है, जन्म-मरण समय सीमा के अन्दर हैं, जगत व्यवहार भी समय सीमा के अन्दर है । माया का सारा खेल ही समय के साथ बँधा हुआ है । समय माया का सबसे सशक्त माध्यम है । समय के साथ वस्तुएँ अपना रूप, गुण तथा धर्म बदल लेती हैं । पर्वतों के स्थान पर गहरा समुद्र ठाठें मारने लगता है, हरे-भरे खेत मरुस्थल में बदल जाते हैं । जीव का शरीर ढलता जाता है तथा चित्त स्थिति भी बदल जाती है ।

प्रश्न– कहते हैं कि ध्यानावस्था में समय की गति रुक जाती है ।

उत्तर– समय की गति नहीं रुकती । समय प्रवाह की ओर से ध्यान हट जाता है, जिससे उसका भान नहीं होता । जिस प्रकार यदि तुम अपना मुँह दूसरी ओर कर लो, तो पीठ पीछे का दृश्य दिखाई नहीं देगा, किन्तु फिर भी दृश्य होगा तो सही । उसी प्रकार योगी का लक्ष्य भी किसी ध्येय पदार्थ पर ऐसा जम जाता है कि एकाग्र होकर, तदाकार हो जाता है । बाकी किसी बात का भान नहीं रहता, न समय का, न अन्य किसी दृश्य का । इसीलिए कहा गया है कि जिन को परमार्थ लाभ हो जाता है, उनके लिए जगत नष्ट हो जाता है, जबकि सामान्य जनों के लिए पूर्ववत् बना रहता है ।

प्रश्न– एक ओर आप समय को सब से बड़ा धन कह रहे हैं, दूसरी ओर समय के प्रवाह से हटने की बात करते हैं, दोनों में से किसे सत्य समझा जाए ?

उत्तर– दोनों को । समय के सदुपयोग से ही समय के प्रवाह से निकला जा सकता है । समय साधक का सबसे बड़ा धन है जबकि सिद्ध इस धन का त्याग कर देता है । जैसे किसी पहाड़ को पार करने के लिए, पहाड़ के सहारे ही चढ़ा जाता है, किन्तु दूसरी ओर जाने के पश्चात् पहाड़ पीछे छूट जाता है । साधक कभी समय की अवहेलना नहीं करता क्योंकि उसे समय के पार जाना होता है । अतः वह एक-एक क्षण का सदुपयोग करता है ।

प्रश्न– क्या शक्ति भी समय के अन्तर्गत है ?

उत्तर– नहीं । शक्ति तो ईश्वरीय है जो माया से अतीत है । माया तथा काल (समय) दो समानान्तर नदियों के समान हैं । एक के प्रवाहित होते ही, दूसरी भी प्रवाहित हो उठती

है । एक के सूख जाने पर दूसरी भी सूख जाती है । ईश्वर के लिए यह सब लीला के समान है । हाँ, शक्ति की क्रियाएँ अवश्य समय के अन्तर्गत आ जाती हैं । हम कहते भी है कि इतनी देर अमुक क्रिया अनुभव होती रही ।

जहाँ क्रिया का आधार, किसी भी स्तर तक, भौतिक होगा, वहाँ समय होगा, माया होगी । क्रिया आधार के बिना प्रकट नहीं हो सकती, इसलिए क्रिया समय सीमा में आ जाती है, किन्तु शक्ति उस सीमा से बाहर बनी रहती है ।

(४६) संगीत साधना

देवास संगीत का केन्द्र रहा है । रज्जब अली खाँ तथा कुमार गंधर्व जैसे दिग्गज संगीतकारों ने इसे अपनी संगीत कला से सुशोभित किया, इसे अपना निवास स्थान बनाया । अब जबकि कुमार गंधर्व ने अपना मकान आश्रम से लग कर बना लिया था, तो संगीत लहरियाँ आश्रम में भी गूँजने लगी थीं । प्रातःकाल जब महाराजश्री तथा मैं, भ्रमण के लिए निकले, कुमार गंधर्व अपना रियाज़ कर रहे थे । वायु मण्डल में, संगीत के अलाप तथा तानें अपना रस बिखेर रही थीं । महाराजश्री के कदम भी थोड़ी देर के लिए रुक गए थे । कुछ देर हम दोनों मौन चलते रहे, फिर मैंने प्रश्न किया, "महाराजजी, संगीत भी एक साधना है ?"

महाराजश्री बोले, "हाँ, साधना तो है, यदि मन-हृदय को छुए तो । संगीत, जिसका आज के युग में व्यवसायीकरण हो गया है तथा लोगों के मनोरंजन की वस्तु बन गया है, वास्तव में, किसी समय महात्माओं की साधना का एक अंग था । संत तथा भक्त, लोगों का मन बहलाने के लिए नहीं, भगवान के समक्ष विनय-पुकार करने के लिए, मन का रोना रोने के लिए, भगवद् सहायता प्राप्ति के लिए, गाया करते थे । उनका गायन हृदय से निकलता था, गायन के साथ मन रोता था, नेत्रों से अश्रुपात होता था, यह उनकी साधना थी । साधना का कार्य मन को साधना है ।यदि संगीत अन्तर्मुखी होगा; तभी तो मन को साध पाएगा । बहिर्मुखी संगीत मन को अधिक चंचल, अभिमानयुक्त तथा विकारी ही बनाता है ।

वैसे कहते तो लोग, संगीत के रियाज़ को, संगीत साधना ही हैं । पर संभवतः वह संगीत के रियाज़ तथा साधना के अन्तर को समझ नहीं पाते । सुर, ताल, राग, अलाप, तान आदि का अभ्यास रियाज़ है, किन्तु लयबद्ध होकर, अपने हृदय के भावों में खो जाना, साधना है । रियाज़ का आधार मस्तिष्क तथा गला है तो साधना का आधार हृदय । रियाज़ का मन पर प्रभाव नहीं पड़ता, किन्तु साधना मन को निचोड़ कर रख देती है । रियाज़ की सीमा कला है, तो साधना की सीमा, कला रहित असीम ईश्वर । संगीत के कलाकार वंदनीय हैं क्योंकि वे एक कला को जीवित बनाए हुए हैं, जो कि साधना का एक महत्वपूर्ण अंग है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक कलाकार साधक भी हो । एक साधक के संगीत का अभ्यास ही

साधना हो सकता है । उसका संगीत साध्य नहीं, साधन होता है । कलाकार रियाज़ी अवश्य हो सकता है ।

तानसेन के गुरुदेव स्वामी हरिदासजी कभी रियाज़ी रहे होंगे, सुर–ताल, अलाप-तान् का अभ्यास किया होगा, किन्तु अब वे एक साधक बन चुके थे । उनका संगीत रियाज़ की सीमाओं को लांघता हुआ, साधना के अथाह सागर का रूप ले चुका था । अब वे केवल भगवान के सामने ही गाते थे । सुर-ताल की कोई आवश्यकता नहीं रह गई थी । सुर–ताल, एक समर्पित सेवक की भाँति उनके गायन के पीछे चलते थे । मंदिर में भगवान के समक्ष या अकेले में, आप हृदय खोल कर रख देते थे । उनका मन प्रभु चरणों में समर्पित हो जाता था । यही उनकी संगीत साधना थी, अर्थात् संगीत के माध्यम से, संगीत का आधार लेकर, मन को साधने की साधना । संगीत गौण होता है, साधना मुख्य होती है । जहाँ संगीत मुख्य हो जाता है वहाँ साधना नहीं रहती ।

"हरिदासजी के देह-त्याग के पश्चात् उनके शिष्यों की दो शाखाएँ हो गईं, भक्त तथा दरबारी । पहली शाखा के लोग हरिदासजी की तरह ही, मंदिर में भगवान् के समक्ष ही गाते थे, परन्तु एक अन्तर आ गया था । जहाँ हरिदासजी भगवान के सामने अकेले गाते थे, वहीं अब गायक के पीछे श्रोताओं की मण्डली होती थी । गायक का ध्यान थोड़ा बँटने लग गया था । वह चाहे भगवान की ओर मुँह कर के गाता था, पर यह भी जानता था कि पीछे श्रोता बैठे हैं । कई बार श्रोताओं को रिझाने के लिए भी वह कला पक्ष का सहारा लेता था जिससे उस का भाव-पक्ष दब जाता था । कला प्रदर्शन का भाव उदय हुआ कि साधना समाप्त । भाव हृदय की वस्तु है, प्रदर्शन की नहीं । प्रदर्शन वास्तव में कला का नहीं, कला के अभिमान का होता है । एक दिन वह भी था जबकि अकबर सम्राट को वेष बदल कर, हरिदासजी का गायन छुपकर सुनना पड़ा था, क्योंकि हरिदासजी को अभिमान प्रदर्शन नहीं करना था । धीरे-धीरे श्रोताओं की संख्या बढ़ने लगी, साथ-साथ हरिदासजी के शिष्यों में अभिमान भी बढ़ने लगा । अब गायक का ध्यान पीछे बैठे श्रोताओं की ओर होने लग गया । गायन में मधुरता, रस, भाव, तड़प, विनय में कमी आती गई ।

"हरिदासजी के शिष्यों की दूसरी शाखा दरबारी गायकों की थी । वे भगवान का आश्रय छोड़कर सीधे ही राजाओं तथा नवाबों की शरण में जा पहुँचे थे । वहाँ उन्हें धन, महल, सुविधाएँ तथा राजदरबार में आसन, सब कुछ प्राप्त हो जाता था । गाते समय वे राजा के अभिमुख होते थे, आजू-बाजू दरबारी सभासद बैठते थे । भगवान का स्थान एक घमण्डी जीव ने ले लिया था । किसी के मन में भी भाव नहीं था, केवल कला की ही सराहना होती थी । गायक भी बढ़- चढ़कर कला का अभिमानयुक्त प्रदर्शन करने पर ही केन्द्रित रहता था ।

"आज के युग में शास्त्रीय संगीत हो, सुगम संगीत हो या भक्ति संगीत। सभी श्रोताओं के लिए ही गाए जाते हैं, भगवान कहीं दिखाई नहीं देते। पृथ्वी कभी पूर्णतया सत्त्व गुण से रिक्त नहीं होती, इसलिए संभव है कि कोई गायक गुरु या भगवान के लिए गाता हो। रियाज़ करते समय भी मन में श्रोताओं का ही भाव बना रहता है। रियाज़ी सुर-ताल में ही उलझा रहता है, अभिमान बना रहता है। इसको क्या कोई संगीत साधना कह सकता है ?"

प्रश्न– किन्तु सामान्य व्यक्ति एकदम भाव प्रधान गायन नहीं कर सकता। पहले तो उसे रियाज़ से ही आरंभ करना होगा।

उत्तर– इस बात से मैं कहाँ इनकार कर रहा हूँ। अपवाद की बात अलग है, अन्यथा सामान्य व्यक्ति के लिए पहले शिक्षण तथा रियाज़ आवश्यक है। कठिनाई उस समय आती है जब व्यक्ति कलापक्ष तथा अभिमान में ही इतना रम जाता है कि जीवन भर भाव गौण ही बना रहता है। वह अपने गायन की प्रशंसा सुनना चाहता है, श्रोताओं के मनोरंजन के लिए जीवन भर गाता रहता है। आज प्राय: बड़े-बड़े गायक भी भावविहीन गाते हैं, धन के लिए, नाम कमाने के लिए गाते हैं। कितने गायकों का जीवन तपोमय-भावमय है ? कितने गायक साधन की किसी अवस्था विशेष तक पहुँच चुके हैं ? इनमें से कोई हरिदास जी की श्रेणी में आ सकता है क्या ? इसका अर्थ ही यही है कि आज यह विद्या साधकों के हाथ से निकल चुकी है। कोई भक्त-वृत्ति साधक, संगीत में रुचि लेता भी है तो इतना अभिमान पाल लेता हैं कि उसका भक्ति भाव ही घायल होकर रह जाता है। रही-सही कसर उसके प्रशंसक पूरी कर देते हैं। वह भक्ति मार्ग में रह कर भी, भक्त नहीं बन पाता।

प्रश्न– क्या किया जाये महाराजजी, आज का युग ही ऐसा है। एक संगीत को ही क्या दोष दिया जाए, कौनसा विषय, कला या विद्या है, जिस का व्यवसायीकरण न हो गया है ? विद्यादान हो या गोपालन, कर्मकाण्ड हो या कोई कला-विशेष, यहाँ तक कि सेवा भाव का भी, और अध्यात्म का भी।

इस पर महाराजश्री बड़े जोर से हँसे, फिर बोले, "हाँ भाई, आज का युग ही ऐसा है। वास्तव में मनुष्य तथा उस की वृत्ति का ही व्यवसायीकरण हो गया है, जिसका प्रभाव हर ओर पड़ा है। युग-प्रवाह को कौन रोक सकता है ?"

(४७) स्वप्न प्रकरण

पिछले दो दिनों से अन्दर ही अन्दर, स्वप्न का विषय, मेरे विचारों पर छाया हुआ था। एक सज्जन ने बताया कि उसे महाराजश्री के पहले दर्शन स्वप्न में हुए, फिर मेरे वास्तविक जीवन में भी प्रकट हो गए। और भी कुछ ऐसे उदाहरण थे जिनमें स्वप्न में, भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं की सूचना मिल जाती थी। मैं सोच रहा था कि स्वप्न का आधार तो संस्कार हैं, जो अतीत में अनुभव हुई स्मृतियों का पुंज मात्र हैं, फिर उससे

भविष्य की सूचना कैसे मिल सकती है ? संस्कार अतीत को ही स्वप्न में साकार रूप दे सकते हैं । मैंने अपनी दुविधा महाराजश्री के समक्ष प्रस्तुत की, तो उन्होंने इस प्रकार समझाया :-

"यह ठीक है कि स्वप्न का आधार संस्कार ही हैं । वही निद्रावस्था में उदय होकर, स्वप्न सृष्टि का निर्माण करते हैं किन्तु इस बात को भी ध्यान में रखो कि संचित तथा प्रारब्ध, दो प्रकार के संस्कार होते हैं । संचित संस्कार, केवल घटित अनुभव की स्मृति को ही उभार सकते हैं, अन्तर में वैसा दृश्य भी उपस्थित कर सकते हैं किन्तु भविष्य के विषय में कोई सूचना नहीं दे सकते । प्रारब्ध संस्कारों की बात दूसरी है । प्रारब्ध के आधार पर कोई स्वप्न यदि आता है, तो वह भविष्य में घटित होने वाली किसी घटना की पूर्व सूचना भी दे सकता है । जो प्रारब्ध पक कर, फल देने के लिए एकदम तैयार हों, उसका संभावित फल स्वप्न में दिखाई दे सकता है । इसमें आश्चर्यजनक कुछ नहीं । जहाँ संचित संस्कारों का संबंध केवल अतीत से होता है, वहीं प्रारब्ध का संबंध अतीत तथा भविष्य दोनों से होता है ।

"एक अमेरिकी महिला थी, जिस का लड़का एयरफोर्स में पायलट था । एक दिन उस महिला ने एक स्वप्न देखा । वह घूमती हुई एक मैदान में पहुँची, जिस के चारों ओर पहाड़ थे । बूँदा बादी हो रही थी, आकाश बादलों से भरा था । इतने में आकाश में उड़ता हुआ एक हवाई जहाज प्रकट हुआ । मौसम तो साफ था नहीं । हवाई जहाज एक पहाड़ से टकरा गया तथा गिर गया । लोग घटना स्थल की ओर भागे, वह महिला भी भागी । वहाँ जाकर उसने देखा कि उसके लड़के की लाश पड़ी है । स्वप्न टूट गया । महिला की नींद खुल गई ।

"पहले तो महिला को बहुत चिन्ता हुई, वह बहुत डर गई तथा क्राइस्ट से अपने लड़के के लिए दुआएँ करने लगी । फिर उसने अपने मन को समझा लिया कि यह तो केवल स्वप्न ही था । स्वप्न आते-जाते रहते हैं, वास्तविक जीवन से उनका कोई संबंध नहीं । बात आई-गई हो गई । महिला के सिर से बोझ उतर गया ।

"कुछ दिनों के उपरान्त वह अपनी किसी सहेली से मिलने, दूसरे नगर में गई । वहां वह दोनों सहेलियाँ घूमने के लिए बाहर गईं तो देखा कि वही मैदान उसके सामने था । वही पहाड, वही बादल तथा बूंदाबांदी, वही धुंधला मौसम । मैदान देखकर वह आश्चर्य चकित रह गई । इतने में आकाश में हवाई जहाज भी प्रकट हो गया तथा पहाड़ से टकरा कर गिर भी गया । दोनों सहेलियाँ घटना स्थल की ओर भागीं । जा कर देखा तो लड़के की लाश पड़ी थी ।

"इस घटना पर अधिक विचार किए बिना ही, इस बात को समझा जा सकता है कि स्वप्न का संबंध प्रारब्ध से है । वैसे, स्वप्न आने पर यह जान पाना कठिन है कि इसका संबंध

भविष्य से है कि नहीं, पर पता नहीं क्यों, प्रारब्ध के आधार पर लोगों को स्वप्न कम हीं आते हैं । अधिकांश तो केवल चल-चित्र की भाँति सामने से हो कर निकल जाते हैं । देखकर सिनेमा-हाल से बाहर निकले कि बात समाप्त । स्वप्न टूटा कि विलीन हो गया ।

"अभी कुछ ही पहले ऐसा ही उदाहरण मेरे सामने भी आया । एक लड़की को बार-बार शंकरजी का एक मंदिर स्वप्न में दिखाई देता था । थोड़ी ऊँचाई पर, नर्मदा का किनारा, कुछ दूरी पर श्मशान, शान्त एकान्त स्थान, अति प्राचीन मंदिर । यह स्वप्न तीन—चार बार आया ।फिर एक दिन बड़वाह (नर्मदा किनारे का एक नगर) का नाम आया तथा आभास हुआ कि बड़वाह के पास ही वह स्थान है । एक दिन उस स्थान को खोजने के लिए हम निकल पड़े, देखते ही उस लड़की ने पहचान लिया कि यही वह मंदिर है । नर्मदा का किनारा, थोड़ी ऊँचाई, कुछ दूरी पर श्मशान, शान्त एकान्त । यह स्थान बड़वाह से दस बारह किलोमीटर दूर है । भविष्य का इससे कोई संबंध है या नहीं, अभी पता नहीं । मंदिर का नाम विमलेश्वर महादेव है ।"

मेरे पूर्व आश्रम की एक घटना याद आ रही है । उन दिनों भारत को स्वतंत्र हुए कुछ ही दिन हुए थें । भारत दो भागों में विभाजित हो चुका था । लाखों की संख्या में लोग भारत या पाकिस्तान आ-जा रहे थे । हम भी परिवार सहित कुरुक्षेत्र में आ गए थे किन्तु मेरे पिताजी अभी लाहौर में ही थे । उन दिनों भारत तथा पाकिस्तान में दोनों तरफ काफी मार-काट मची थी । लाखों लोग मार डाले गए थे । एक दिन मेरी माताजी को स्वप्न आया कि मेरे पिताजी के पीछे कुछ लोग छुरे लेकर भाग रहे हैं । पिताजी अपनी जान बचाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि एक व्यक्ति ने उन्हें छुरा घोंप ही दिया ।

उन दिनों शरणार्थियों से रेलगाड़ियाँ भरी हुई आती थीं । काम कोई था नहीं । इसलिए रेलवे स्टेशन पर जाकर, गाड़ियाँ देखा करते थे कि अपना कोई परिचित या सगा-संबंधी गाड़ी से उतरा है क्या । एक दिन लाहौर से हमारे तीन चार संबंधी गाड़ी से उतरे, जिनके साथ मेरे पिताजी को भी आना था, किन्तु नहीं आए । उन्होंने बताया कि लाहौर रेलवे स्टेशन के बाहर, पिताजी को कत्ल कर दिया गया है । यहाँ भी प्रारब्ध का आधार स्पष्ट है ।

प्रश्न– इन स्वप्नों का आध्यात्मिकता से क्या संबंध है ?

उत्तर– जगत की अनित्यता तथा क्षण भंगुरता को समझने के लिए, स्वप्न सर्वोत्तम उदाहरण हैं । अभिमुख तो सत्य, किन्तु जागने पर सब मिथ्या । राजा जनककोयही तो हुआ था ।स्वप्न में वह युद्ध हार गए । जंगलों में मारे-मारे, भूखे-प्यासे भटक रहे थे किन्तु नींद टूटी तो वही राजसी ठाठ । उन्होंने प्रश्न किया कि यह सत्य है कि वह सत्य है । अष्टावक्रजी ने उत्तर दिया, "न यह सत्य है न वह सत्य है, जब तक निद्रा है स्वप्न सत्य है, जागने पर सभी

असत्य । इसी प्रकार जीव जब तक माया में है, जगत सत्य है, ज्ञान हो जाने पर जगत मिथ्या ।”

प्रश्न– किन्तु जो स्वप्न प्रारब्ध का आधार लेकर प्रकट होते हैं, उन्हें जागने के पश्चात भी मिथ्या कैसे कहा जा सकता है ? जबकि जीवन में वैसा घट जाता है ।

उत्तर– झूठ की प्रतिछाया सत्य कैसे हो सकती है । झूठ तथा झूठ मिलकर भी सत्य नहीं हो सकते । संचित संस्कारों के आधार पर स्वप्न की झूठी छाया, जागने पर दिखाई नहीं देती, किन्तु प्रारब्ध के आधार पर स्वप्न की प्रतिछाया दिखाई दे जाती है, पर उसी प्रकार मिथ्या जैसे स्वप्न मिथ्या है ।

प्रश्न–कई लोग प्रत्येक स्वप्न का अर्थ तथा महत्व (ताबीर) बतलाने का दावा करते हैं । जैसें पिछले जन्म में आप डाकुओं के समूह के सरदार थे तथा जंगल में यात्रियों को लूटा करते थे । एक बार एक युवा दम्पति जा रहे थे । युवती आभूषणों से लदी थी । आपने दोनों को पकड़ लिया, आभूषण छीन लिए तथा अत्याचार किए अब उसका परिणाम आप को भोगना पड़ेगा ।

उत्तर– किसने देखा है कि आप पिछले जन्म में डाकू थे भी या नहीं तथा आपने किसी दम्पति पर अत्याचार किए भी या नहीं । श्रद्धा के वशीभूत लोग इन बातों को मान लेते हैं । इस तरह स्वप्न का आध्यात्मिक महत्व गौण हो जाता है ।

(४८) मन का झमेला

एक साधक ने कहा कि मन भी क्या झमेला है । जिसको देखो उसी को नचाये फिरता है । सारा जगत ही इससे परेशान है । इस पर महाराजश्री ने मन के बारे जो कुछ कहा वह इस प्रकार है:-

“जगत मन का ही विस्तार है । जितना मन फैलता जाता है, उतना ही जगत भी फैलता जाता है । जैसा मन होता है, जगत भी वैसा ही बनता जाता है । जहाँ मन सिकुड़ने लगता है, वहां जगत भी सिकुड़ता जाता है । जहाँ मन नहीं होता, वहाँ जगत भी नहीं होता । जहाँ मन होता है वहाँ जगत भी होता है । जहाँ मन में दुःख होता है जगत का रूप भी दुःखदायी हो जाता है । जहाँ मन में सुख होता है, जगत भी सुखदायक बन जाता है । जहाँ मन चंचल होता है, तो जगत में भी सर्वत्र चंचलता नाचने लगती है । जहां मन शान्त होता है तो जगत में भी हर जगह शान्ति व्याप्त हो जाती है ।

(१) मन में जैसी वासनाएँ-कामनाएँ होती हैं, वैसा ही जगत का रूप विकसित हो जाता है । मनुष्य की वासनाएँ बढ़ते जाने के साथ उसके संसार का भी विस्तार होता है । इससे उस पर नित्य नई आशाएँ एवं चिन्ताएँ अपना शिकंजा कसती जाती हैं । मनुष्य का

चित्त इतना वासनामय हो गया है कि हर किसी से आशा करता है, हर किसी पर शंका करता है, हर किसी के सामने गिड़गिड़ाने के लिए तैयार रहता है, तो समय आने पर हर किसी को आँखें दिखाता है । एक बार जब वासना का पहिया घूमने लगता है तो थमने का नाम ही नहीं लेता । फिर वह मनुष्य को भी अपने साथ-साथ घुमाने लगता है ।

यदि मन का फैलाव बहिर्मुखता है तो सिकुड़न अन्तर्मुखता । मन सिकुड़ना आरंभ कर देता है तो सिकुड़ता ही चला जाता है (यद्यपि बीच-बीच में फैलाव व्यवधान डालता है) फैलाव के मूलभूत कारण, वासनाओं -कामनाओं का त्याग करता जाता है । ऐसा लगता है जैसे कोई राह भटका पथिक, घर लौटने का रास्ता पा गया हो । तब उसका मन खुशी से झूम उठता है । वह अपना सारा अनावश्यक सामान, जो उसने अकारण ही सिर पर लाद रखा था, उतार फेंकता है ।

(२) मन, आँख पर लगे चश्मे की तरह है, जिसके माध्यम से जीव जगत को देखता है । जिस रंग का चश्मा लगा दिया जाए, उसी रंग का जगत दिखने लगता है । मन पर वासनाओं, भावों एवं आशाओं का चश्मा चढ़ा हुआ है, उसीके अनुरूप जगत दिखाई देता है । कामी मनुष्य को शारीरिक सौंदर्य ही चारों ओर फैला दिखाई देता है । क्रोधी के लिए जगत एक जलती हुई भट्टी के समान है । द्वेषी को चारों ओर शत्रु ही दिखाई देते हैं । भक्त मंदिर में पूजा करने जाता है तो चोर चोरी करने । कोई पिता को भगवान मानता है तो कोई उसकी जायदाद हड़प लेना चाहता है । अपने मन के दोष-गुण ही जगत में प्रतिबिम्बित होते हैं । वहीं जीव जगत में दोषों को खोजता फिरता है जो स्वयं अपने अन्तर में दोषों का विशाल भण्डार लिए बैठा है । गुणी को सर्वत्र गुण ही पसरा दिखता है । किसी का दोष दिखाई देने पर, उस के मन का अपना दोष उसके सामने आ जाता है ।

अन्तर्मुख मन, जगत की ओर खुलने वाली खिड़की, बंद कर लेता है । यदि वह जगत को देखता भी है तो सर्वत्र प्रेममय दृश्य ही दिखाई देता है क्योंकि भक्त के अपने अन्तर में प्रेम भरा होता है । राग-द्वेष, ईर्ष्या वासना, स्वार्थ उसे कहीं दिखाई नहीं देते । क्यों कि उसका चश्मा प्रेममय होता है । उसे दीखता है केवल प्रेम । उसे जगत का प्रत्येक जीव, प्रभु की ओर ही बढ़ता दिखाई देता है । यदि मार्ग भटक भी गया हो तो भी तलाश तो प्रभु की ही है । उसे जगत में कोई बुरा दिखता ही नहीं । किसी के विरुद्ध एक भी शब्द मुँह से निकलता ही नहीं । किसी पर क्रोध या किसी से निराशा होती ही नहीं । जगत को देखते हुए भी उसका लक्ष्य अन्तर की ओर ही रहता है ।

(३) जब मन सिकुड़ने लगता है, अर्थात् वासनाओं-आशाओं का त्याग आरम्भ हो जाता है, जगत सन्मुख विद्यमान होते हुए भी, विलीन सा होने लगता है, उसका महत्व समाप्त हो जाता है । वासना से ही जगत है, वासना से ही मन है, वासना से ही जगत तथा मन का

संबंध है । वासना नहीं तो न जगत् न मन तथा ना ही दोनों का संबंध । यही शम-दम है, यही प्रत्याहार है । मन की सिकुड़न अध्यात्म प्रगति का द्वार है । मन के सिकुड़न में ही जगत के दुःखों की निवृत्ति का रहस्य निहित है । मन की सिकुड़न में ही चित्त की स्थिरता छुपी है । जहाँ मन के फैलाव में अशान्ति ही अशान्ति छुपी है, वहीं मन के सिकुड़न में शान्ति ही शान्ति ।

(४) जगत का अस्तित्व(सत्यता-नित्यता की प्रतीति) मन से ही है । मन ही जगत के दुःखों में सुख की कल्पना करता है । मन ही आत्मा को जगत में स्थापित कर, अनात्म में आत्म की कल्पना कर लेता है । मन ही अपनी भावना से क्षणभंगुर संसार में नित्यता एवं स्थिरता कल्पित करता है । मन में ही शुद्ध-अशुद्ध तथा पवित्रता-अपवित्रता का भाव उदय होता है । यह सभी पहले मन में उत्पन्न होते हैं, फिर जगत में सर्वत्र विस्तार पा जाते हैं । जो मन इन भावों से रिक्त है, उसका तथा जगत का अस्तित्व प्रभु की लीला मात्र है ।

(५) जगत न किसी को सुखी कर सकता है न दुःखी । जगत माया है, दिखावा है छलावा है । मन ही अपने दुःख का कारण जगत में खोजता फिरता है । जो मन दुःख से व्याकुल होता है, वह जगत में दुःख बाँटता है । जगत मन को दुःख नहीं दे सकता, मन जगत को अवश्य दुःखी कर सकता है । कहीं प्रकृति का दोहन करता है, कहीं वृक्षों को काट डालता है, कहीं पर्वतों का वक्ष लहूलुहान कर देता है तो कहीं कटु-वचनों से, किसी के शान्त मन को विचलित कर देता है । जगत प्रभु के आनन्दमय चेतन स्वरूप से आह्लादित है, इसके कण-कण में चेतन-सत्ता नाच रही है, पर दुःखी मन को सर्वत्र दुःख ही दिखाई देता है । यह मन का ही सारा खेल है । इसी मन से सर्वत्र प्रकाश का भी अनुभव किया जा सकता है, तथा सर्वत्र दुःखों की कालिमा का भी । जगत तो जैसा है, वैसा ही है । मन में प्रकाश भी है, अंधकार भी, दुःख भी शान्ति भी और अशान्ति भी ।

(६) बात मन की चंचलता या अचंचलता की है । चंचलता जगत है तो अचंचलता अध्यात्म । चंचलता में राग-द्वेष, क्रोध, लोभ है, काम तथा वासना है, अभिमान और स्वार्थ है तो अचंचलता में प्रेम, समता तथा दया है, सहनशीलता, क्षमाशीलता है, उदारता, गंभीरता तथा संतोष है । दोनों एक ही चित्त की दो विपरीत अवस्थाएँ हैं । चंचलता बहिर्मुखता है, अचंचलता अन्तर्मुखता ।"

प्रश्न– भगवान् ने जगत एक जैसा ही बनाया है फिर यह कैसे हो गया कि किसी को जगत सुखदायी है तो किसी को दुःखदायी ?

उत्तर– जीव, प्रभु के बनाए हुए जगत से सुखी-दुःखी नहीं होता, अपने बनाए हुए कल्पना लोक से सुखी-दुःखी होता है । प्रभु निर्मित जगत से जब उसे संतोष नहीं होता तो अभिमान, प्रभु की दुनिया में ही अपनी अलग दुनिया बना लेता है । जगत का विभाजन कर

लेता है । मेरा घर, मेरा परिवार, मेरी भाषा, देश तथा धर्म, मेरी सम्पत्ति तथा यश-अपयश । इस प्रकार जीव की अपनी ही दुनिया बन जाती है, जो उसे सुखी या दुःखी करती है ।

प्रश्न– तो मन नहीं, मन के मेरे-तेरे की भावना परेशान करती है । मेरे-तेरे की भावना ही चंचलता को गति प्रदान करती है । इससे बचने का कोई उपाय भी है क्या ?

उत्तर– उपाय है । उस समष्टि चेतना की अनुभूति जो मेरे-तेरे से परे है । जो एक साधक में जाग्रत होती है तो वही दूसरे में भी । किन्तु समष्टि चेतना की अनुभूति आरंभ होते ही, मेरे-तेरे की भावना समाप्त नहीं हो जाती, क्योंकि पूर्व संचित संस्कारों के कारण फिर भी यह भावना बनी रहती है, जब तक कि वह संस्कार क्षीण नहीं हो जाते । इसके लिए साधक को दीर्घकाल तक, निरन्तर साधन की आवश्यकता है ।

अपने मन को ही साधना है । वासनाओं, विकारों, संस्कारों को समाप्त करना है । जैसा कोई जगत को देखना चाहता है, वैसा ही जगत दिखने लगता है । हम मन में गिरते हैं तो जगत में भी गिर जाते हैं । हम मन में उठते हैं तो जगत में भी उठ जाते हैं, पहले हमारे मन में चालाकियाँ उदय होती हैं, फिर जगत में भी टेढ़ा चलने लग जाते हैं । जैसा मन, वैसा जगत ।

(४९) ज्योतिर्लिङ्ग

चातुर्मास्य प्रायः महाराजश्री देवास में ही किया करते थे । सीमोल्लंघन के लिए भी देवास से कोई दो मील दूर एक गाँव बिलावली, जहाँ शंकरजी का एक प्रसिद्ध मंदिर है, जाया करते थे । अब की बार ओंकारेश्वर जाने का कार्यक्रम बना था । आठ-दस लोग साथ थे । एक छोटी सी बस जैसी गाड़ी की व्यवस्था कर ली गई थी । वर्षा ऋतु अभी पूरी तरह बीती नहीं थी । रास्ते में एक घाटी भी उतरना पड़ती थी । पहाड़ी वातावरण, सब ओर हरियाली, बल-खाती सड़क, बड़ा सुहावना दृश्य था । बड़वाह से कोई पन्द्रह किलोमीटर, नर्मदा पार करके, नदी के साथ-साथ रास्ता है । कोई तीन घण्टे में हम लोग देवास से ओंकारेश्वर पहुँच गए थे । समय होगा लगभग दस बजे । रास्ते में बस में ही शिवोपासना के बारे में बात होने लगी थी । महाराजश्री कह रहे थे :-

"शिवलिंग उपासना निर्गुण-सगुण की मिश्रित उपासना पद्धति है । ऐसा प्रतीत होता है कि लोग निर्गुण ब्रह्म का लक्ष्य भी सामने रखना चाहते हैं तथा उपासना में भी रुचि रखते हैं, उनके लिए लिंग उपासना का विधान किया गया है । उपासना बिना किसी आधार के संभव नहीं, जिसके लिए ब्रह्म का सगुण होना आवश्यक है ।इसमें आकार का आधार मिल जाता है । इससे कम आकार संभव नहीं । प्रायः शिवलिंग (आकाश जैसे) गोल मटोल दिखाई देते है । आकाश को भी अनन्त होने के कारण ब्रह्म से ही उपमित किया जाता है । आकाश आकार रहित है, गुण रहित है किन्तु गोलाकार दिखाई देता है । उसी गोलाकार

स्वरूप को लेकर, शिवलिंग के रूप में ग्रहण कर लिया गया तथा उपासना आरंभ कर दी गई ।

"कुछ शिवलिंग अनघढ़ एढ़े-टेढ़े पत्थर हैं जैसे कि केदारनाथ । बस एक चट्टान उभरी हुई है । उसी के ऊपर मंदिर निर्माण कर दिया गया है, जिस पर श्रद्धालु भक्त, उसे शिव मानकर, शताद्बियों से घी का लेप करते चले आ रहे हैं । अब तक लाखों टन घी का लेप हो चुका होगा । वह भी निराकर की ही साकार पूजा है ।

"जब प्रतीक उपासना का आरंभ हुआ तो पहले प्राकृत पदार्थ जैसे सूर्य, चन्द्र, कोई नदी, समुद्र या पर्वत इत्यादि को प्रतीक के रूप में लिया जाता था । धीरे-धीरे पौराणिक युग का प्रवेश हुआ तो मनुष्य निर्मित प्रतिमाओं को प्रतीक रूप में लिया जाने लगा । यह प्रतिमाएँ सगुण उपासना का आधार थीं । इन दोनों युगों के बीच का युग था जब लिंग उपासना प्रचलित हुई । उस समय न केवल शिवलिंग की ही उपासना होने लगी थी वरन् भगवती की उपासना के लिए भी पिण्डी (लिंग) का ही प्रयोग किया जाता था । हिमालय में आज भी भगवती के कुछ प्राचीन मंदिर देखने में आए जहाँ भगवती , पिण्डी के रूप में ही स्थापित हैं । इस प्रकार इसे वैदिककाल, लिंगकाल, तथा पौराणिक (प्रतिमा) काल, तीन भागों में बाँटा जा सकता है ।

"शिव का अर्थ है कल्याण; और जीव का कल्याण समाधि अवस्था की प्राप्ति में ही निहित है, इसीलिए समाधि अवस्था को शिवावस्था भी कहा जाता है । अब तो युग बदल गया है, भगवान शिव के फिल्मी ढंग के कई चित्र बनने लग गए है, पहले केवल समाधि में बैठे हुए, आँखें आधी मुँदी हुई, ऐसे ही चित्र बनते थे ।"

प्रश्न– भगवान शिव को भांग पीने वाला बताया जाता है, उनके पास भांग पीसने के लिए सिलबट्टा भी दिखाया जाता है, लोग भांग को शिव बूटी भी कहते हैं ।

उत्तर– (हँसते हुए) "भगवान शिव को क्या तुम कोई मानव समझते हो जो किसी प्रकार का कोई नशा करेगा ! शिव के पास सिलबट्टा ही नहीं, एक पत्नी भी दिखाई जाती है तथा उनके पुत्र भी । कैलास शिखर पर उनका निवास भी दिखाया जाता है तथा उनके पास एक नन्दी भी है जिस पर वह सवारी भी करते हैं किन्तु समाधि अवस्था को जो प्राप्त होता है, वह तो केवल एक होता है, फिर शिव के पास इतना कुछ कहाँ से आ गया ! सिर पर गंगा भी धारण किए हैं । हाथ में त्रिशूल भी ले रखा है । यह सब बातें मनुष्य को प्रतीकों के माध्यम से समझाने के लिए हैं ।"

"ब्रह्म तथा उसकी शक्ति का प्रतीक शिव-पार्वती हैं । भक्तों को शिव–शक्ति प्राप्त करने के लिए साधन का नशा, भांग का नशा है । साधन सिल-बट्टा है । जिस पर मन रगड़ कर साधनावेश प्राप्त किया जाता है । कैलास शिखर पर निवास, अध्यात्म की उच्चतम

अवस्था है । नन्दी प्राण का प्रतीक है तो गंगाजी पाप नाश का । उलझन तब पैदा होती है जब शिव-शक्ति को प्रतीकात्मक नहीं, मानव समान देव मान लिया जाता है ।"

बातचीत करते-करते हम ओंकारेश्वर के समीप आ पहुँचे थे। उन दिनों ओंकारेश्वर जाने के लिए नर्मदाजी को नाव से पार करना पड़ता था । अब तो पुल बन चुका है । ओंकारेश्वर का मंदिर, नर्मदाजी में एक छोटे से टापू पर स्थित है । टापू पर ओंकारेश्वर का मंदिर है तो इस किनारे पर ममलेश्वर का । दोनों का दावा है कि वही ज्योर्तिलिंग है ।

महाराजश्री मंदिर में दर्शन-पूजन करने के पश्चात् नर्मदाजी के क़िनारे बैठे थे, ज्योतिर्लिंग की बात चल रही थी । महाराजश्री कह रहे थे :-

"बारह ज्योतिर्लिंग हैं । केदारनाथ तथा विश्वनाथ उत्तर प्रदेश में, महाकालेश्वर तथा ओंकारेश्वर मध्यप्रदेश, घृष्णेश्वर, बैजनाथ, नागनाथ तथा त्र्यम्बकेश्वर और भीमाशंकर महाराष्ट्र में, सोमनाथ गुजरात में, मल्लिकार्जुन आंध्रप्रदेश में तथा रामेश्वरम् तामिलनाडु में । हिमाचल के कांगड़ा जिले में भी बैजनाथ का एक मंदिर तथा गुजरात में नागनाथ का मंदिर है । उन लोगों का दावा है कि उनका मंदिर ज्योतिर्लिंग है । बिहार में बैजनाथ धाम का भी यही क़हना है । हर एक ज्योतिर्लिंग के पीछे पौराणिक कथाएँ हैं । या तो किसी भक्त पर कोई संकट आया, या किसी ने घोर तप किया तो भगवान प्रकट हो गए तथा फिर ज्योति रूप में वहीं स्थिर हो गए । अब ज्योति तो कहीं दिखती नहीं, हाँ, शिवलिंग के दर्शन तथा विशाल मंदिर अवश्य हैं । नेपाल में पशुपतिनाथ तथा कश्मीर में अमरनाथ ज्योतिर्लिंग तो नहीं है पर उनकी मान्यता क़म नहीं ।"

प्रश्न– ज्योतिर्लिंग तथा स्वयंभू लिंग में क्या अन्तर है ?

उत्तर– प्रायः पहले किसी के मन में मंदिर निर्माण की भावना उदय होती है । वह मंदिर बनवाता है, कहीं से शिवलिंग लाकर उसकी स्थापना करता है किन्तु स्वयंभू धरती से स्वयं प्रकट होते हैं तथा उनका मंदिर निर्माण कर, स्थापना की जाती है । भारत में शिव मंदिरों की कोई कमी तो है नहीं । काल-क्रम से मंदिर विलीन भी हो जाते हैं । प्रतिमाएं तथा शिवलिंग भूमि में दब जाते हैं । जब कोई किसी कारण खुदाई करता है तो उसे दबा हुआ शिवलिंग प्राप्त हो जाता है । यही स्वयंभू की वैज्ञानिक व्याख्या है । ज्योतिर्लिंग के बारे में मैं बतला ही चुका हूँ ।

प्रश्न– क्या शिव साधन तथा शक्ति-साधन भिन्न-भिन्न है ?

उत्तर– कोई भिन्न नहीं, केवल भाव तथा श्रद्धा का अन्तर है । जब शिव तथा शक्ति ही अभिन्न हैं तो उनका साधन कैसे भिन्न हो सकता है । भिन्नता की कल्पना जीव में इतनी गहरी उतर गई है कि वह प्रत्येक बात में भिन्नता खोजने लगता है । यह ठीक है कि विषय को समझने के लिए, विषय का विश्लेषण करना पड़ता है ; तत्व के अंगों-प्रत्यंगों को

पृथक-पृथक जानने का यत्न करना पड़ता है, किन्तु अन्ततः तत्व एक ही है । जीव, तत्व की चीर-फाड़ तो कर लेता है, किन्तु फिर अंगों को जोड़ने की समझ तथा वृत्ति प्रायः नहीं है । शक्ति शिव की है, शिव से शिव में ही शिव के आधार पर प्रकट होती है, शिव से अभिन्न रहते हुए ही क्रियाशील होती है तथा फिर शिव में ही विलीन हो जाती है । यह मैं कई बार कह चुका हूँ कि उपासना-आराधना सदैव शक्ति की ही होती है । जब कोई शिव की उपासना करता है तो वह शिव की शक्ति की उपासना कर रहा होता है ।

प्रश्न– किन्तु कई लोग केवल शक्ति को ही मानते हैं, शिव को नहीं !

उत्तर– यह उनका अपना भाव है, किन्तु आधार के बिना शक्ति संभव ही नहीं ।शक्ति है तो उसका आधार भी है । उसी आधार को शिव कहा गया है ।

तीन बजने को आ गए थे । लौटने का समय हो गया था । हम सब गाड़ी में सवार हुए तो वह भागने लगी । वही कभी गोलाकार, तो कभी सीधी सड़क । घाट उतरने के स्थान पर अब घाट चढ़ना था । कोई सात बजे के लगभग हम देवास पहुँच गए ।

(५०) आशा-निराशा

विचार तथा भाव रूपी आन्तरिक प्रवाह के साथ ही, अन्तरमन में उठा-पटक की निरन्तरता भी बनी रहती है । अभी मन आशा के घोड़े पर सवार है तो अगले ही क्षण निराशा के गहरे गर्त में उतर जाता है । सारे जगत की मानसिक स्थिति ऐसी ही है । मैं स्वयं भी इस मानसिक उधेड़बुन का अपवाद नहीं था, मन सदा ही गिरता-उठता रहता था । महाराजश्री से इस विषय में चर्चा हुई तो कहने लगे :-

"आशा से निराशा तथा निराशा के पश्चात् फिर नई आशा । नई आशा के पश्चात् फिर नयी निराशा तथा फिर आशा । इस प्रकार आशा-निराशा की चक्की चलती ही रहती है । जीवन पिसते-रगड़ते हुए ही व्यतीत हो जाता है । जीव, आशाओं-निराशाओं का अथाह भण्डार अपने अन्तर में संजोये हुए है । कभी आशा प्रकट हो जाती है तो कभी निराशा । जीवनलीला समाप्त हो जाती है पर आशा-निराशा समाप्त नहीं होती । मरते समय भी जीव, जीने की आशा साथ लेकर मरता है ।

"मनुष्य की आशाओं का आधार प्रायः जगत होता है । जगत अपना स्वरूप बदलता रहता है जिसके साथ ही आशा का भी स्वरूप तथा स्तर बदल जाता है । आशा पूरी होती है, तब तक जगत स्वरूप बदल लेता है । इसी आशा को शास्त्रकारों ने अशुभ वासना कहा है क्योंकि यह वासना जीव को सदैव ही उलझाए रखती है । जैसे कोई किसी को पीट-पीट कर लहूलुहान कर देता है, फिर उसका उपचार करता है, खिलाता-पिलाता है किन्तु ठीक हो जाने पर, फिर उसे पीटने लगता है । उसी प्रकार आशा भी, जीव को

तरसा-तरसा कर मारती है । जीवन निराशाओं में बीत जाता है किन्तु आशा की ज्योति जलती रहती है ।

"जिस प्रकार दिन तथा रात आते-जाते रहते हैं, समुद्र की लहरें उठती तथा विलीन होती रहती हैं, जिस प्रकार बार-बार भोजन करने पर भी, बार-बार भूख सताती है, उसी प्रकार आशा-निराशा भी एक-दूसरे का पीछा करती भागती रहती हैं । कभी आशा दीखने लगती है तो कभी निराशा की अनुभूति होती है । न आशा ही मरती है, न निराशा ही दूर होती है । आशा निराशा का ही दूसरा नाम जीवन है ।

"संसारी जीव आशा-निराशा के अधीन है, वह चाहकर भी किसी को नहीं छोड़ सकता । यदि छोड़ सकता होता तो वह ही नहीं रहता । उसका जीवन धूप-छाँव की तरह है । आशा की किरण दिखते ही, निराशा रूपी अंधकार गहराने लगता है । साधक का जीवन संसारी से भिन्न होता है, उसमें आशा तो होती है, किन्तु निराशा नहीं । उसे तब तक निरंतर आशा लगी रहती है, जब तक उसे उसका प्रियतम नहीं मिल जाता । आशा को बनाये रखना तथा निराशा को पास भी न फटकने देना, ऐसा कोई भक्त या साधक ही कर सकता है, क्योंकि उसकी आशा का आधार परिवर्तनशील जगत नहीं, वरन् एकरस ईश्वर होता है । उसका मन बहिर्मुखी नहीं, अन्तर्मुखी होता है । वासनाएँ तथा जगत की आशाएँ ही मन को चंचल बनाती हैं जबकि साधक का जीवन इसके विपरीत होता है । साधक की ईश्वर प्राप्ति की आशा यदि पूर्ण हो जाती है तो वह आशातीत हो जाता है । फिर नई आशा नहीं जागती । इसीलिए इस आशा को शुभ वासना कहा गया है ।

"कैसी भी प्रतिकूल परिस्थितियाँ हों, साधक कभी भी निराश होकर प्रभु प्रेम के मार्ग का त्याग नहीं करता । प्रेम के मार्ग में कठिनाइयाँ तो आती ही हैं । जगत तो मार्ग रोकता ही है । अन्तर विकार भी बाधक बनते हैं । ज़ो आशा की मशाल थामे रखकर, कठिनाइयों का सामना कर सके, वही साधक है । क्या मीराबाई तथा तुकाराम को परिस्थितियों ने कम सताया क्या कबीर तथा नरसी मेहता ने दरिद्रता की परवाह की ? क्या ज्ञानेश्वर ने समाज के अत्याचारों के सामने सिर झुका दिया ? क्या इन संतों ने मन में विचलित होकर, कभी निराशा को अंकुरित होने दिया ? निराश होना साधक जानता ही नहीं । निराशा का अर्थ है प्रभु पर अविश्वास । साधक जगत त्याग कर सकता है, दु:ख, अपमान तथा अपयश सहन कर सकता है, पर प्रभु पर विश्वास का त्याग नहीं कर सकता, इसलिए निराश होने का प्रश्न ही नहीं । अपने मन में साधक होने का अभिमान रखने वाले तथाकथित साधक अपने अन्दर झाँक कर देखें कि क्या उनके मन में आशा-निराशा का ताण्डव चल रहा है ? यदि हाँ, तो फिर वह साधक कोटि में अभी कैसे आ सकते हैं ?

"साधक-भक्त अपने प्रियतम प्रभु के समक्ष रोता है, गिड़गिड़ाता है, मन को कोसता है, दु:खड़े सुनाता है, किन्तु आशा नहीं छोड़ता । प्रभुकृपा की ओर से निराशा का भाव मन में आता ही नहीं । वह सोचता है कि कभी न कभी, मेरे जीवन में बहार अवश्य आएगी, जब जगत की वासना मेरा पिण्ड छोड़ देगी तथा मेरा प्रभु से मिलन होगा । मेरा मन चाहे अभी जगत में लगा है तथा विषयों का आकर्षण भी अभी है किन्तु ऐसा समय अवश्य आएगा जब मैं इन सबसे मुक्त हो सकूँगा । अभी तो मेरे अन्तर में तम ही तम, अंधेरा ही अंधेरा है, आशा की किरण दिखाई नहीं देती, किन्तु मैं निराश नहीं हूँ । प्रभु एक दिन अवश्य ही मेरी पुकार सुनेंगे । ऐसी आशा मन में बनाए रखना तथा प्रभु की प्रतीक्षा में रहना ही भक्ति है ।

"भाव यह है कि मन में आशा रखना कोई बुरी बात नहीं है, यदि उसका आधार जगत-वासना नहीं, ईश्वर वासना हो । भक्त के समीप जन्म-मरण एक लीला मात्र है, खेल है । अभिनय करते हुए नेपथ्य में जाना तथा वेष बदल कर पुन: रंगमंच पर आ जाना है । इसलिए जन्म-मरण महत्वहीन है । जन्म-जन्मान्तर तक वह आशा बनाए रखता है । वह प्रभु की आशा में ही जगत में आता है, प्रभु नहीं मिलते तो आशा लेकर लौट जाता है । बाकी सब प्रभु का खेल या लीला है । यदि आशा का प्रवाह जगत की ओर मुड़ जाता है तो जीव आशा-निराशा के भँवर में फँस जाता है । यदि आशा का प्रवाह प्रभु या आत्मा के अभिमुख होता है तो जीव, भक्त या साधक हो जाता है । मन में आशा रखना कोई बुरी बात नहीं है, यदि उसके साथ निराशा न लगी हो ।"

(५१) अभिमान - एक समस्या

महाराजश्री के साथ मैं दो दिन के लिए इन्दौर गया । हम लोग एक सज्जन के यहाँ ठहरे । उन सज्जन की अपने भाई के साथ कुछ तनातनी चलती थी । अपनी व्यथा कथा सुनाते हुए, उन सज्जन ने कहा कि वह इससे बहुत दु:खी हैं । भाई भी है तथा आधे मकान में रहने से पड़ौसी भी है । हर रोज का झगड़ा है ।

महाराजश्री ने कहा, "देखो, मैं तुम्हारी परेशानी को समझ सकता हूँ । एक तो भाई, दूसरे पड़ौसी । यदि खट्-पट रहने लगे तो परेशानी तो है ही । तुम इन बातों पर गंभीरता से विचार करो-

(१) यह युग प्रवाह है । आज असंख्य ऐसे परिवार होंगे जिन में भाइयों में झगड़े चल रहे हैं । कुछ तो मन की संकुचितता के कारण ऐसा होता है, तो कुछ जायदाद का बँटवारा कारण बन जाता है । जब यह युग ही ऐसा है तो तुम भी ऐसे अकेले नहीं हो । भाइयों के झगड़ों ने एक प्रकार से राष्ट्रीय समस्या का रूप ले लिया हुआ है ।

(२) तुम एक साधक हो, इसलिए साधन-संबंधी बात को समझ सकते हो । तुम्हारा भाई साधक नहीं है, इसलिए उसे इस तरह समझाया नहीं जा सकता । प्रारब्ध के बारे में मैं

कई बार बात करता हूँ । जो भी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ, मनुष्य के सामने आती हैं, उसमें प्रारब्ध की मुख्य भूमिका होती है । विचलित हुए बिना, प्रारब्ध के परिणाम को सहन करना प्रारब्ध क्षय का एकमात्र उपाय है । वैसे तुम अपने भाई को यह तो समझा ही सकते हो कि दोनों परिवारों को दु:खी करने से क्या लाभ है ? यदि मेल-जोल से रहें तो दोनों परिवार प्रसन्न भी रह सकते हैं तथा दोनों की शक्ति में भी वृद्धि हो सकती है ।"

प्रश्न– एक ही गुरु परिवार में, जहाँ सभी साधक होते हैं तथा बात को समझ भी सकते हैं, साधन भी करते हैं, वहाँ भी वैमनस्य होता है ?

उत्तर– (कुछ गंभीर होकर) झगड़े तो गुरु भाइयों में भी होते हैं क्योंकि वह साधक होकर भी साधन के मर्म को नहीं समझते । उनका अभिमान ही उन्हें लड़वाता है । साधक बन जाते हैं, अभिमान एकदम दूर नहीं हो जाता । यदि कोई अपने अभिमान को कुचलना चाहता है, तो अभिमान भी उतनी ही प्रतिक्रिया एवं शक्ति से साधक को, साधन से पतित करने का प्रयास करता है । जिसका आक्रमण अधिक बलशाली होता है, वह सफल हो जाता है । यह तो स्पष्ट ही है कि अधिकांश साधकों के साधन की प्रारंभिक अवस्था ही होती है, तथा इस अवस्था में अभिमान प्रबलतम होता है, इसलिए उसके आक्रमण का वेग भी प्रबलतम होता है । बस यही झगड़ों का मूल कारण है ।

प्रश्न– गुरु इन परिस्थितियों को नियंत्रित नहीं कर सकते क्या ?

उत्तर– प्रथम तो आजकल के प्राय: गुरु स्वयं ही साधन की प्रारंभिकावस्था में हैं । उन्हें उनके साधन ने नहीं, अभिमान ने गुरु बनाया है । उनमें स्वयं ही गाम्भीर्य, उदारता तथा सहनशीलता का नितान्त अभाव है ।वे स्वयं ही अभी भाँति-भाँति के झगड़ों में उलझे हैं तो दूसरों को उनसे क्या निकालेंगे ! यदि गुरु सामर्थ्यवान भी है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि शिष्य के मन में गुरु-उपदेश को ग्रहण करने की शक्ति कितनी है । यदि सूरज तो चमक रहा है किन्तु कोई अपने घर के दरवाजे बन्द किए बैठा है, तो प्रकाश अन्दर कैसे प्रवेश करेगा ? तब वह व्यक्ति, बाहर धूप होने पर भी अंधकार में ही रहेगा । यही हाल, गुरु उपदेश का भी है । यदि शिष्य ने अभिमान से, अपने मन का दरवाजा बंद कर रखा है, तो उपदेश मन में कहाँ से जाएगा ?

प्रश्न– जब गुरु महाराज का उपदेश श्रवण करते हैं, तब तो उसे ग्रहण करते हैं, मन प्रभावित भी हो जाता है, किन्तु फिर पता नहीं क्या होता है कि शिष्य सारा उपदेश भूल जाता है । व्यंवहार पूर्ववत् ही करता है ।

उत्तर– क्योंकि सत्संग में विवेक से, अस्थाई रूप से अभिमान दब सा जाता है । मन भी प्रभावित हुआ सा प्रतीत होता है । एक लहर सी आती है और भिगो जाती है । थोड़ी देर में शरीर फिर सूख जाता है । प्रेम का जल उड़ जाता है तथा अभिमान फिर सिर उठा लेता है ।

उपदेश, शिष्य को प्रभु के देश में अस्थाई रूप से ले जा पाता है, वह एक झलक मात्र ही देख पाता है कि फिर सब भूल जाता है । जहाँ है, वहीं है ।

सत्संग को सत्संग कहा अवश्य जाता है किन्तु वास्तव में ही क्या वह सत् का संग होता है ? यदि सत् का एक बार भी संग हो जाए तो उसका प्रभाव अपार होता है । सत् या तो आत्मा है, या आत्मिक शक्ति । उसकी एक यथार्थ झलक भी, जीवन पलट कर रख देती है । पर वैसा सत्संग कहाँ होता है ? जिस उपदेश में प्रभु के देश का यथार्थ, अनुभव न हो, वह कैसा उपदेश ? यह बात उपदेष्टाओं तथा सत्संगकर्ताओं के लिए विचारणीय है । अब रही बात श्रोता या शिष्य की , किसी ने कितना ठीक कहा है कि आजकल, खोजने से सद्‌गुरु क़दाचित् मिल भी जाएँ किन्तु सत् शिष्य का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है । सत् शिष्य वह है जो वास्तव में ही सत् की प्राप्ति का जिज्ञासु हो । जिसे अध्यात्म की सच्ची भूख हो, आत्म-दर्शन की तड़प हो तथा इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कोई भी त्याग करने को तत्पर हो । क्या झगड़ने वाले शिष्यों में आप को एक भी ऐसा साधक दिखाई देता है ? सत् शिष्य के पास इतना समय ही कहाँ होता है कि झगड़े- बखेड़े करता फिरे । झगड़े का अर्थ है, जगत की ओर लक्ष्य तथा जगत की ओर लक्ष्य का अर्थ है आत्मा की ओर उदासीनता । जिसका आत्मा की ओर लक्ष्य ही नहीं उससे झगड़े-बखेड़े तथा अनावश्यक उछल-कूद के अतिरिक्त आप आशा ही क्या कर सकते हैं ?

आत्माभिमुखी सत्शिष्य का व्यवहार, दृष्टिकोण, वाणी सब भिन्न प्रकार के होते हैं, जगत के प्रतिकूल, अध्यात्म के अनुकूल । वह दया, करुणा, प्रेम का मूर्तिमान स्वरूप होता है । विनम्रता तथा सहजता उसका स्वभाव होता है । वह यदि किसी से झगड़ा करना भी चाहे, तो भी नहीं कर पाता ।

प्रश्न– आप की दृष्टि से देखा जाए तो सत्शिष्य क्वचित् ही कोई होगा ?

उत्तर– हाँ । आध्यात्मिकता का शोर बहुत है, अध्यात्म कहीं दिखाई नहीं देता । सद्‌गुरु तथा सत् शिष्य दोनों ही दुर्लभ हो गए हैं । धर्म के नाम पर ठेकेदारी तो बहुत चलती है, पर धर्म की बुरी दशा है । भाई से भाई लड़ रहा है, पति-पत्नी में झगड़ा है, पड़ौसियों की आपस में नहीं बनती, सब ओर स्वार्थ, अभिमान का बोल-बाला है । ऐसे में साधक बेचारा पिस रहा है, पर पिसना ही उसकी साधना है । वह पिसने में भी प्रसन्न है । वह जगत को भागते देखता है तो हँसता है, जगत को दुःखी देखता है तो दया आती है, जगत को विषयों में लीन देखता है तो प्रभु से प्रार्थना करता है कि इनकी रक्षा करो । वह स्वयं जितना ही दुःख उठाता है, उतना ही निखरता जाता है ।

प्रश्न– ऐसा साधक शायद ही कोई मिले !

उत्तर– ऐसे साधक, सड़क पर पड़े पत्थरों की भाँति सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते । कोई होता भी है तो जगत उसे पहचान नहीं पाता । वह व्यक्ति का बाहरी स्वरूप देखता है, ठाठ-बाट, वर्णन शैली तथा व्यवहारकुशलता । राग- रागिनियों में, हृदय के भाव को छोड़ कर, सुर-ताल में उलझा रहता है । कला के कलात्मक पक्ष पर जगत का ध्यान अधिक जाता है ।

प्रश्न– भगवान भी अपने जगत को नहीं संभालते ?

उत्तर– भगवान के लिए तो यह लीला है । वह पापी को बढ़ने-फूलने देता है, पर्वत के उच्च शिखर तक ऊपर उठाता है । फिर उसे एकदम उठाकर, धड़ाम से नीचे पटक देता है । तब वह उठकर खड़ा भी नहीं हो पाता, पर साधक अध्यात्म-पर्वत पर धीरे-धीरे चढ़ता-बढ़ता है, संभलता, बचता, कहीं रेंग कर, तो कहीं पत्थरों का सहारा लेकर । उसकी गति कछुए की तरह धीमी होती है, पर वह अनवरत चढ़ता जाता है । झगड़े-फसाद करने वाला व्यक्ति भला इस चढ़ाई को कैसे चढ़ सकता है ? वह उधर उन्मुख ही नहीं होता ।

(५२) उत्तराधिकार की उथल पुथल

१९६४ का आरंभ । शीतकाल समाप्त हो चुका था तथा बसन्त का आगमन था । वृक्षों पर नई कोंपले फूट रही थीं । फूलों की कलियाँ भी आने लगी थीं । प्रात: भ्रमण के लिए महाराजश्री निकले, तो बड़ा ही सुहावना वातावरण था । भीनी-भीनी सुगंध चारों ओर व्याप्त थी । आकाश में आज कुछ बादल छाए हुए थे, थोड़ी बूंदा-बांदी भी रुक-रुक कर हो रही थी, हम दोनों ने एक-एक छाता ले रखा था ।

हम सड़क पर पहुँच चुके थे । मैंने बात आरंभ करते हुए कहा, “अब आपने उत्तराधिकार का निर्णय लेकर, घोषित कर ही दिया है, तो लिखित रूप में भी इसकी पुष्टि कर देना क्या ठीक न होगा ! आपके उत्तराधिकारी को इससे संतोष भी हो जायेगा तथा अपने उत्तरदायित्व का एहसास भी, अभी तक संभवत: वह कुछ दुविधा में हों । महाराजश्री बोले, “तो तुमने अन्तिम निश्चय कर लिया है कि उत्तराधिकार स्वीकार नहीं करना है ।” उत्तराधिकार का प्रकरण फिर से खुलता देखकर मैं कुछ घबरा गया, बोला, “महाराजजी, मैं तो कई बार निवेदन कर चुका हूँ कि मैं अपने आपको, इसके लिए सर्वथा अयोग्य पाता हूँ । न ज्ञान है, न तप, न व्यक्तित्व है और न ही भाव । अभी मेरी प्रारंभिक अवस्था भी आरंभ हुई है कि नहीं, यह भी पता नहीं । अन्तर में देखता हूँ तो तम ही तम दिखाई देता है । आप के चरणों की सेवा मिलती रहे, यही आपका प्रसाद बहुत है । मैं समझता हूँ कि मेरे लिए उत्तराधिकार, अभिमान वृद्धि का कारण बन सकता है । आपके ही उपदेशानुसार अभिमान साधन का सबसे बड़ा विघ्न है ।”

महाराजश्री बोले, "मैं जो तुम्हें बार-बार कह रहा हूँ, तो मैं भी कुछ सोचता समझता हूँ। पहली बात रही योग्यता की, तो यह तो समय आने पर तथा अवसर प्राप्त होने पर ही ज्ञात होता है कि कोई योग्य है कि नहीं। यदि सब लोग पहले से ही अपने आप को अयोग्य मान लें तो संसार में किसी काम का आरंभ हो ही नहीं सकता। मैं चाहता हूँ, यह क्या कम बात है? क्या मेरी इच्छा का सम्मान करना तुम अपना कर्त्तव्य नहीं समझते?" इतना कहकर महाराजश्री तो मौन हो गए, किन्तु मैं गहरी सोच में डूब गया, पर दोनों ही, अन्दर ही अन्दर विचारमग्न थे।

यह ठीक है कि महाराजश्री की इच्छा का सम्मान करना मेरा कर्त्तव्य था। यह भी ठीक है कि इच्छा तथा आदेश में कोई विशेष अन्तर नहीं होता, किन्तु मुझे अपने ऊपर अविश्वास का भाव, उससे भी प्रबल था। मेरा लक्ष्य बार-बार अपनी चित्त-स्थिति की ओर जाता था जो कि इस प्रकार का भार वहन करने में सर्वथा अक्षम प्रतीत हो रही थी। न ज्ञान, न बल, न तपोबल। हालांकि यह मेरी भूल थी, जब बाद में मैंने उत्तराधिकारी बन जाने पर महाराज श्री के ब्रह्मलीन होने के उपरान्त अनुभव किया, कि न जाने कैसे सब काम अपने आप, गुरुशक्ति के द्वारा सम्पादित हो रहे हैं। मुझे आश्रम चलाना पड़ेगा, यह मेरा अभिमान ही था। किन्तु इस समय वही अभिमान मेरे सामने समस्या बनकर खड़ा था। "उत्तरदायित्व मेरे कंधों पर होगा, करने वाला मैं रहूँगा" मेरे मन का यह अभिमान ही, कर्त्तव्य पूर्ति में बाधक बना हुआ था। मैं समझ ही नहीं पा रहा था कि मनुष्य प्रभु के हाथ का खिलौना मात्र है। वह कब क्या लीला करना चाहता है, मनुष्य समझ ही नहीं पाता। यह मेरी समझ का दीवालियापन ही था, पर क्या किया जाय, उस समय मैं अभिमान से ग्रसित, अबोध बालक के समान था।

मैंने अपने आप को तौला, फिर तौला, बार-बार तौला, तथा अन्त में इसी निश्चय पर पहुँचा कि काम बड़ा है तथा मेरे कंधे कमजोर। इस महा उत्तरदायित्व को निभा पाने में मैं पूर्णत: असमर्थ हूँ। मैंने गुरुजी की इच्छा का अनादर करने का मन बना लिया, क्योंकि गुरुज़ी से भी अधिक इस समय मेरा अहम् महत्वपूर्ण बना हुआ था। मुझे आश्रम एक जलती हुई भट्टी के समान दिखाई दे रहा था जिसमें कठिनाइयों तथा समस्याओं की अग्नि प्रज्ज्वलित है। इसी जगत की तपश से भाग कर ही श्री गुरुचरणों की शीतल छाया में मैं यहाँ आया था तथा महाराजश्री ने भी अपार कृपा कर, मुझे वह छाया प्रदान की थी। फिर सांसारिक व्यवहार की अपेक्षा भी कहीं अधिक बड़े इस आश्रम व्यवहार की जलती भट्टी में मुझे क्यों झोंका जा रहा है। उस समय मुझे यह भी याद नहीं आ रहा था कि प्रकाशित होने के लिए जलना आवश्यक है। जले बिना मन की मलीनता भी नहीं जलती। संभव है महाराजश्री इसीलिए मुझे इस जलती भट्टी में डाल रहे हों, किन्तु उस समय मैं समझ नहीं पा रहा था।

बीच-बीच में महाराजश्री के प्रति भी थोड़ा रोष उभर आता था । जब बार-बार मैं नकार रहा हूँ, तो बार-बार मुझे क्यों कहा जाता है ? क्या महाराजश्री जगत को मेरी असफलताएँ दिखाने पर तुले हैं, मेरे मन की शान्ति भंग करना चाहते हैं ! मैं उस समय यह भी भूल गया था कि गुरु कभी भी शिष्य का अहित नहीं चाहते । यह हो सकता है कि शिष्य को मार्ग कष्ट पूर्ण तथा फिसलना दिखाई दे, किन्तु उस दुर्गम मार्ग पर चलने में ही उसका हित है ।

मनुष्य कितना चालाक तथा चालबाज है । बच निकलने की कैसी-कैसी योजनाएँ बनाता है, बहाने ढूँढ लेता है । उसके मन में कुछ होता है जिसे वह बड़ी खूबसूरती से छुपा लेता है किन्तु बाहर दिखाता कुछ और ही है । मेरे मन में तो यह बात थी कि मैं उत्तराधिकार से डरता था, मन की दुर्बलताएँ दिखाई देती थीं, जलती भट्टी में कूद जाने से बचना चाहता था, किन्तु बड़े कलात्मक ढंग से मैंने अपने ऊपर गुरु सेवा का आवरण ओढ़ लिया । जो गुरु सेवा अपने बचाव की ढाल बना ली जाए, वह गुरु-सेवा होती ही नहीं । मैं भी ऐसा ही अभिमानी तथा मिथ्याचारी गुरु भक्त था, इसलिए गुरु सेवा का आवरण ओढ़ लेने में मुझे कोई हिचकिचाहट नहीं हुई । मैंने महाराजश्री से कहा, "मेरा मन आप के चरणों की सेवा में ही अधिक संतुष्ट है, मेरे लिए यही उत्तराधिकार है, यही साधन है । फिर आप किसी को उत्तराधिकारी घोषित कर भी चुके हैं । मुझे तो चरणों में ही पड़ा रहने दें । यही विनय है ।"

महाराजश्री ने कहा, "अच्छी बात है । आज के पश्चात् मैं तुम्हें उत्तराधिकार के लिए कभी नहीं कहूँगा । मैंने तुम्हारे लिए जो सोचा था, अपनी समझ से तुम्हारे हित में ही सोचा था किन्तु तुम्हारे मन को बात जँची नहीं । तुम निवृत्तिपरायण होना चाहते हो, परन्तु मेरे विचार में तुम्हें अभी प्रवृत्ति की आवश्यकता है । अपने मन की मलीनता को तुम/भी स्वीकार करते हो । इस मलीनता को निवृत्ति पर चलते हुए नहीं, प्रवृत्ति द्वारा ही शुद्ध किया जा सकता है । प्रारब्ध को क्रिया भी नहीं जला सकती । उसके लिए परिस्थितियों का सामना करना ही पड़ता है, सुख-दुःख का स्वाद चखना पड़ता है, तथा यश-अपयश के घूँट पीने पड़ते हैं । मलीनता को जला कर राख करने के लिए जगत-व्यवहार एक अग्निकुण्ड के समान है, जिसमें जलने से तुम अपने आप को बचा रहे हो । किन्तु कभी न कभी तुम्हें जलना ही पड़ेगा ।"

महाराजश्री के प्रथम वाक्य से ही, मेरी चाल की सफलता स्पष्ट हो गई थी, इसलिए महाराजश्री ने आगे जो कुछ कहा, उस ओर मैंने अधिक ध्यान ही नही दिया । मैं बहुत प्रसन्न था तथा अपने आपको हल्का अनुभव कर रहा था, जैसे असहनीय बोझ सिर से उतर गया हो । मैंने प्रसन्नता के आवेश में महाराजश्री के चरण पकड़ लिए, किन्तु वे कुछ नहीं बोले ।

आगे चलकर मैंने देखा कि महाराजश्री का आकलन कितना सही था । वे सूक्ष्मदर्शी महापुरुष थे । अपने चित्त के साथ-साथ अन्यों के चित्त में भी झाँक पाने में सक्षम थे किन्तु शिष्य की अल्पज्ञता तथा अभिमान उसका अध्यात्म पथ रोक लेते हैं । थोड़ा सा भी, उसकी चालाकी से कुछ अनुकूल घट जाय, तो फूला नहीं समाता, किन्तु यह नहीं समझता कि इस अनुकूलता ने ही उसे पथ-भ्रष्ट कर दिया है । मजे की बात यह है कि उसे पता भी नहीं चलता कि वह पथ-भ्रष्ट हो गया है । वह अनुकूलता के नशे में धुत्त बना घूमता है । यही तो जीवत्व है । अभिमान जीव की दिशा बदल देता है, उसके साधन तथा गंतव्य बदल देता है । यहाँ तक कि जीव पहचान भी भूल जाता है । यही तो मेरे साथ हुआ ।

(५३) मानसिक कशमकश

मैंने गुरु सेवा का ढाल के रूप में प्रयोग तो कर लिया तथा अस्थाई रूप से मैं प्रसन्न भी बहुत हुआ, किन्तु इस चाल ने मेरी सेवा-भावना का चेहरा विकृत कर दिया । सेवा कार्य तो पूर्ववत् करता था, किन्तु वह उत्साह तथा आनन्द, वह प्रेम तथा समर्पण अब नहीं थे । जैसे कोई हृदयहीन-मशीन कार्य करती है, उसी प्रकार का मेरा भी सेवा कार्य था ।

हृदय की मधुरता तथा कोमलता का स्थान जड़ता तथा शुष्कता ने ले लिया था । महाराजश्री की अत्यन्त समीपता प्राप्त होने पर भी कुछ दूरी सी प्रतीत होने लगी थी । मन का मस्तीभरा उल्लास गायब हो गया था । वही आश्रम था, वही वातावरण तथा वही कार्य, किन्तु जीवन नीरस हो चला था ।

साधन के लिए, गुफा में अब भी पूर्ववत् जाता था, किन्तु क्रिया का वेग थम सा गया था । जैसे क्रिया-शक्ति रूठ गई हो । साधन से मन शीघ्र ही उकताने लगता था, जिससे मैं उठकर चला आता था । यहाँ तक कि फूलों की मुस्कुराहट देखकर भी मुँह छुपाने का मन करता था । अब मुझे अपने आप से घृणा हो चली थी । अनावश्यक तथा बुरे विचारों की आँधी मन में चला ही करती थी, जैसे अकस्मात् ही किसी ने स्वर्ग से धकेल कर, नरक में गिरा दिया हो ।

घूमते समय अब महाराजश्री ने भी, बात करना बहुत कम कर दिया था । अधिकतर हाँ ना कह कर ही बात समाप्त कर देते थे । कई बार तो बिना एक भी शब्द बोले घूमकर वापिस लौट आते थे । महाराजश्री साधनावस्था में ही अधिक रहने लगे थे तथा मेरे अन्तर में विचारों का तूफान उठता रहता था । एक दिन प्रातः भ्रमण समय प्रश्न कर ही दिया : "न जाने मुझसे क्या भूल हो गई जो आप मुझ से कुछ दूर होते जा रहे हैं । क्या मैं जान सकता हूँ कि आप की अप्रसन्नता का क्या कारण है ताकि मैं अपनी भूल सुधार सकूँ !"

महाराजश्री बोले, "यह बात मैं तुम्हें कई बार कह चुका हूँ कि गुरु शिष्य पर कभी भी अप्रसन्न नहीं होते । प्रसन्नता चाहे रहे या नहीं, किन्तु अप्रसन्नता कभी नहीं होती । इसलिए

तुम्हें प्रसन्न नहीं होने तथा प्रसन्नता के बीच का अन्तर समझ लेना चाहिए । प्रसन्न नहीं होने से, शिष्य के प्रति स्नेह तथा आशीर्वाद का स्वाभाविक प्रवाह रुक जाता है, किन्तु अप्रसन्न होने से शिष्य का अमंगल होता है । गुरु किसी भी अवस्था में शिष्य का अमंगल नहीं चाहता, इसलिए गुरु की अप्रसन्नता का प्रश्न ही नहीं । हाँ, भगवान यदि चाहें तो वे अवश्य ही किसी को दण्डित कर सकते हैं, किन्तु गुरु भगवान से भी यही विनय करता है कि उसके शिष्य को क्षमा करें । अत: मेरी अप्रसन्नता तुम्हारा भ्रम है ।

"स्कन्द पुराण में कहा गया है कि सूर्य तो दिन में प्रकाश करता है तथा चन्द्रमा रात्रि का प्रकाशक है, दीपक घर के अन्दर ही प्रकाश फैलाता है तथा घर के अन्दर के अंधकार का ही नाशक है किन्तु गुरु, शिष्य के हृदय में सदैव ही प्रकाश की ज्योति जलाए रखते हैं । शिष्य में जितना भी अज्ञान का अंधकार होता है उसे अपने ज्ञानात्मक प्रकाश से नाश कर देते हैं अत: गुरु ही शिष्यों के लिए परम तीर्थ हैं फिर भला तीर्थ अमंगल करने की कैसे कल्पना कर सकता है ! तीर्थ का कार्य तो निर्मलता प्रदान करना है ।"

मैंने कहा, "महाराजजी मेरी साधना में भी शिथिलता आ गई है । मेरी मानसिक शान्ति भी भंग हो गई है । अपने मन को खाली-खाली अनुभव करता हूँ ।"

उत्तर– यदि कोई समझना चाहे तो वह स्वयं ही अपनी भूल को भली प्रकार समझ सकता है । फिर भी तुम मेरे से पूछते हो इसलिए कहता हूँ । बात बहुत छोटी होती है किन्तु उसका परिणाम बहुत भयंकर होता है । वास्तव में बात का महत्व उसके परिणाम से ही पता चलता है । छोटी सी घटना भी जीवन में महान परिवर्तन ला देती है । एक क्षण भर का तूफान या भूकम्प हजारों जानें निगल जाता है । मुँह घुमाते ही दृश्य बदल जाता है । पानी की एक लहर बड़े भारी जहाज को समुद्र की तलहटी में सुला देती है । इसी प्रकार चित्त की एक वृत्ति सारे जीवन-प्रवाह को मोड़ देती है ।

तुम इस बात को अनुभव करो या नहीं, तुम सेवा अवश्य करते थे, किन्तु सूक्ष्म रूप में ही सही, तुम्हारे अन्तर में सेवा का अभिमान था । वह अभिमान अन्दर ही अन्दर पनपता रहा । फिर तुम्हारे अन्दर एक अभिमान और था ! तुम समझते थे कि प्रवृत्ति में जो लगे हैं, वह अध्यात्म में अभी बहुत पीछे हैं । तुम तो निवृत्ति की ओर बढ़ रहे हो । निवृत्ति के लक्ष्य के अभिमान को लेकर ही, तुमने आश्रम व्यवस्था संभालने के विषय में अरुचि दिखाई । यहाँ तक कि तुम ने गुरु इच्छा की भी अनदेखी कर दी । गुरु इच्छा के सम्मान के अनुरूप आचरण, क्या गुरु सेवा नहीं है ! तुम्हें यह भी ध्यान नहीं रहा कि गुरुसेवा निस्वार्थ होती है, किन्तु सेवा के अभिमान में तुम सेवा के मर्म को नहीं समझ सके । तुम्हारे अन्दर ही अन्दर पनपने वाला अभिमान एक दिन फूट निकला, जिस प्रकार किसी बड़ी झील का तटबंध, कमजोर होते-होते एक दिन टूट जाता है तथा बाढ़ के रूप में तबाही मचाने लगता है । तुम्हारे

अभिमान ने न अपना कर्त्तव्य समझा, न गुरु-शिष्य संबंध को ही पहचाना । गुरु शिष्य का कल्याण ही चाहते हैं, इसलिए उनके मन पर प्रभाव नहीं पड़ता । जिस का चित्त प्रभावित हो जाए वह गुरु ही नहीं, किन्तु शक्ति गुरु के अपमान को सहन भी कर ले, न भी करे । संभव है शक्ति ने सहन नहीं किया हो तथा वह तुमसे रुठ गई हो तथा उसने अपनी क्रियाएँ समेट ली हों ।

गुरु-शिष्य संबंध जहाँ एक ओर गुरु तथा शिष्य दोनों के लिए मंगलकारी है, वहीं कोमल भी बहुत है । वर्षों के संबंध एक ही झटके में संकट में पड़ सकते हैं । जहाँ गुरु में शिष्य के प्रति स्नेह भाव होता है, वहीं शिष्य में गुरु के प्रति श्रद्धा तथा समर्पण का । जहाँ किसी भी ओर, थोड़ी सी भी शंका या अभिमान उदय हो जाता है, वहीं संबंध में दरार पड़ना आरंभ हो जाती है । हमारे आग्रह में कोई स्वार्थ नहीं था, केवल स्नेह था, किन्तु तुम्हारे समर्पण में अवश्य कमी आ गई थी । इसीलिए तुम हमारी इच्छा का आदर कर पाने में असमर्थ रहे । हमने उधर से अपने मन को हटा लिया तथा भविष्य में भी कभी भी बात नहीं करने का भी कह दिया, पर संभव है, शक्ति ने सहन न किया हो । मन के भाव-विचार ही, मन की स्थिति बनाते-बिगाड़ते हैं । अपने मन का मनुष्य को स्वयं ही पता होता है । इसलिए तुम भी मन में झाँककर सब देख सकते हो ।

इतना कह कर महाराजश्री तो चुप हो गए तथा मैं विचारों की गहरी खाईयों में उतरता गया । फिर सारे रास्ते कोई बात न हुई । दोपहर के समय महाराजश्री आराम कर के उठे, तो अवसर देखकर मैंने बात छेड़ दी । "सेवा के अभिमान की बात भी हो सकती है, किन्तु मुख्य प्रश्न अयोग्यता का था, अन्यथा आपके एक संकेत पर कुछ भी करने के लिये तैयार हूँ ।" महाराजश्री बोले, "एक पुस्तक पढ़ी थी, नाम अब याद नहीं । कोई व्यक्ति दीक्षा के लिए गुरु के पास गया तो गुरुजी ने कहा कि मैं यदि कहूँ कि नरक की जलती अग्नि में कूद जाओ तथा तुम्हारी, हाँ-न किए बिना कूद जाने की तैयारी हो, तो हम से बात करो । आश्रम उत्तरदायित्व तुम्हें जलती अग्नि के समान दिखाई दिया तो तुम भाग निकले, यही तुम्हारी अयोग्यता थी । अस्तु । अब तो वह बात समाप्त ही हो चुकी है । अब इस बात को मैं उठाऊँगा ही नहीं । हाँ, मैं तुमसे अप्रसन्न हूँ, यह बात मन से निकाल दो ।"

उत्तराधिकार का विषय सम्प्रति समाप्त हो गया ।

(५४) संन्यास का प्रस्ताव

कुछ दिनों के पश्चात् मेरी मनःस्थिति ठीक होने लगी । अब मैं पहले की तरह ही प्रसन्न रहने लगा था तथा जगत की लीला देखा करता था । सभी लोग एक- दूसरे के दोष देखने में लगे थे, किन्तु अपनी कमियों की ओर किसी का ध्यान नहीं था । हर एक व्यक्ति सूँघता फिरता था कि कहीं किसी का कोई अवगुण पकड़ में आ जाए, चाहे वह काल्पनिक ही

क्यों न हो । भगवान् ने संभवत: यही तमाशा देखने के लिए जगत उपजाया था । जिसको देखो, वही अभिमान में तना हुआ, जिससे भी बात करो, आत्मश्लाघा, किन्तु जिस का हृदय टटोलो, वही दु:खी । मैं देखता तथा प्रभु की विचित्र लीला पर चकित होता । एक दिन समाचार पत्र में पढ़ा कि किसी जगह मंदिर में चोरी हो गई, तो चोर भगवान के कपड़े तक उतार कर ले गए । महाराजश्री को बताया तो खूब हँसे, बोले, "चोरों को इससे कोई मतलब नहीं कि कोई व्यक्ति है या भगवान ! उन्हें तो माल चाहिए ।"

जब अपने आपकी ओर दृष्टि जाती तो सिर शर्म से झुक जाता था । यहाँ भीं तो वही हाल था । वही अभिमान तथा क्रोध । क्या-क्या गिनाएँ, सभी विकार तो मन में उपस्थित थे, पर माथे पर साधक होने का टीका लगा था । अपनी प्रशंसा सुनने की लालसा, मेरे मन में भी थी । कभी-कभी अनजाने ही सही, अपनी तारीफ भी आप ही कर लेता था । भोजन स्वादिष्ट बना हो तो दो कौर अधिक खा ही लेता था । क्या यही कमाई है साधन की ? क्या यही प्रभाव ग्रहण किया है मैंने महाराजश्री के चरणों के सानिध्य कां ? कहाँ महाराजश्री का निर्मल व्यक्तित्व, कहाँ मैं गंदगी से भरा हुआ एक पात्र । तब मन ग्लानि से भर जाता ।

कई बार मन को यह कह कर संतुष्ट करने का प्रयत्न करता था कि सारे जगत की ही यही मनोदशा है । तू कोई अकेला थोड़े ही है । फिर अगले ही क्षण ध्यान आ जाता कि साधकों के सोचने का ढंग यह नहीं है । जगत बुरा होने से तेरी बुराई गौण नहीं हो जाती । जगत जैसा भी है, हुआ करे, तू तो अपने मन की सोच । तब सहसा मुझे महापुरुषों का स्मरण हो आता था । उन्होंने भी इसी जगत में रहते हुए ही, जगत से अपने मन को प्रभावित नहीं होने दिया । कितनी कठिनाई आई होगी उन्हें भी ! कबीर ने कहा भी है कि तेरी झोपड़ी गला काटने वालों के पास है, तू तो अपनी निबेड़ । जो जैसा करेगा, वैसा भरेगा, तू उदास क्यों होता है ?

किन्तु मेरा मन ऐसा था कि कभी तो जगत की उछल-कूद देख कर हँसता था, तो कभी प्रभावित भी हो जाता था । एक दुविधाजनक स्थिति थी । मैं सोचता कि मेरा मन प्रभावित क्यों हो जाता है ? तो हर बार यही उत्तर मिलता कि मन की मलीनता ही इसका कारण है । यह मलीनता कैसे दूर होगी ? साधन मैं करता हूँ । सेवा करता हूँ । अगले ही क्षण फटकार मिलती कि यह तेरा अभिमान है । तू साधन करने वाला कौन ? सेवा करने वाला कौन ? यह तो शक्ति है जो तेरे अन्दर प्रकट होकर साधन कर रही है । यह गुरु-शक्ति ही है जो तुमसे सेवा ले रही है । तेरा यह अभिमान ही तेरा मन निर्मल नहीं होने देता । मैं ठण्डा हो जाता ।

ऐसी उधेड़बुन मेरे अन्दर चलती रहती थी । कभी मन आशा से भर जाता था तो कभी निराशा जाग उठती थी । जब गुफा में साधन में बैठे साधकों की आवाजें सुनता था तो

मेरा मन भी आशा तथा उत्साह से तरंगित हो जाता था, किन्तु साधकों का व्यवहार देखता या उनकी बातें सुनता था तो मन में निरुत्साह तथा निराशा छा जाती थी । मेरा मन अभी भी बाहर जगत से प्रभाव ग्रहण करता था । आशा का स्रोत अभी तक भी अन्तर से नहीं फूट पाया था । मैं इसी सोच-विचार में ऊपर नीचे हो रहा था कि एक और घटना घट गई, जिसने मुझे झकझोड़ कर रख दिया ।

महाराजश्री के साथ मैं प्रातः भ्रमण के लिए जा रहा था कि महाराजश्री चलते-चलते एकदम खड़े हो गए तथा कुछ देर रुककर कहने लगे, "अब तुम संन्यास ले लो ।" यह बात महाराजश्री ने एकदम इस प्रकार कही थी कि मैं अवाक् रह गया । बड़ी देर तक बोला ही नहीं । काफी देर के पश्चात् मुझे होश आई । महाराजश्री भी एक ही वाक्य बोल कर मौन हो गए थे । मैंने कहा, "यह आपकी इच्छा है तो मेरे लिए यह आदेश ही है, किन्तु आप की अनुमति से मैं एक निवेदन करना चाहता हूँ । प्रश्न वही पुराना ही है योग्यता का । क्या संन्यास के मैं योग्य हूँ ? मेरे विचार में मुझ में योग्यता नहीं है । वैसे आप की इच्छा शिरोधार्य है, किन्तु अनधिकार संन्यास क्या लेना ठीक रहेगा ?"

उत्तर– तुम क्या समझते हो कि मैं विचार किए बिना ही यह बात कह रहा हूँ ? मैं जानता हूँ कि तुम में क्या-क्या कमियाँ हैं । उन कमियों के होते हुए किसी को भी अधिकारी नहीं कहा जा सकता । फिर भी मैंने तुम्हारे सामने संन्यास का प्रस्ताव क्यों रखा, विचारणीय है ।

प्रायः समाज में ऐसी धारणा है कि पूर्ण सिद्ध हो जाने के पश्चात् ही संन्यास लिया जाता है, या लिया जाना चाहिए, किन्तु यह धारणा गलत है । एक बात तो स्पष्ट ही है कि अध्यात्म के अतिरिक्त अब तुम्हारा और कोई लक्ष्य नहीं । तुम संन्यास के योग्य हो कि नहीं, यह एक अलग प्रश्न है किन्तु तुम्हारा लक्ष्य अब निश्चित हो चुका है । इसी पृष्ठभूमि में इस प्रश्न का उत्तर निहित है ।

संन्यास दो प्रकार का होता है,– एक विद्वत् संन्यास, अर्थात् जो कुछ पाना था पा लिया, अब कुछ पाना-जानना शेष नहीं रहा, इसलिए मैं संन्यास लेता हूँ । यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो वर्तमान युग में शायद ही कोई ऐसा संन्यासी मिलेगा, जिसने अन्तिम तत्त्व के दर्शन कर लिए हों, अर्थात् पूर्ण सिद्ध हो । कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि बिना किसी गुरु के, अपने आप ही जो संन्यास ले लिया जाता है, वह विद्वत् संन्यास होता है । उनकी इस धारणा का आधार क्या है, मैं नहीं जानता ।

संन्यास का दूसरा प्रकार होता है विद्विशा संन्यास । जिस में अन्तिम तत्त्व का दर्शन करना ही लक्ष्य होता है । बुद्धि में ऐसा निश्चय हो जाता है कि जगत दुःखों का ही घर है, इसलिए जगत के सुख प्राप्त करने में कोई रुचि नहीं होती । अब सारा जीवन अन्तिम तत्त्व

की प्राप्ति के लिए ही लगाना है, इसलिए मैं संन्यास लेता हूँ । आजकल प्रायः संन्यासी इसी कोटि में आते हैं । यह अलग बात है कि उनमें से कितने अन्तिम तत्त्व की प्राप्ति के लिए गंभीरतापूर्वक यत्नशील हैं । किन्तु विद्विशा संन्यास का अर्थ तथा लक्ष्य यही है ।

तुम्हारा संन्यास भी विद्विशा संन्यास होगा जिसमें पहले तुम्हें विद्वत संन्यास की योग्यता तथा अधिकार प्राप्ति का प्रयत्न करना है । योग्य हो जाने पर अपने आप तुम्हारी स्थिति विद्वत् संन्यास में स्थापित हो जाएगी । यह इस जन्म में भी संभव है तथा एक से अधिक जन्म भी लग सकते हैं । यदि विचार करके देखा जाए तो तुम इस समय भी विद्विशा संन्यासी ही हो, केवल तुम्हारा अभी संस्कार नहीं हुआ । लक्ष्य तो तुम्हारा उधर ही जा रहा है, मैं तो केवल संस्कार कर लेने की बात कहता हूँ ।

महाराजश्री की बातों का मेरे पास कोई उत्तर नहीं था किन्तु जैसा कि प्रायः होता है कि मनुष्य अपने हृदय में कोई भाव या विचार उदय कर लेता है, या धारणा बना लेता है तो उसी से ही चिपका रहता है । उसे कोई कितना भी समझाए, युक्तियाँ दे, किन्तु वह अपनी बात छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता । ऐसा लगता है जैसे सारी समझाइश उसके कानों को छू कर लौट जाती है, अन्दर प्रवेश नहीं कर पाती । मेरा मन भी योग्यता-अयोग्यता के भँवर में अटका हुआ था । महाराजश्री की बातें मेरे हृदय तक पहुँच ही नहीं रही थीं । संभवतया विचार के दृष्टिकोण का अन्तर था तथा मानसिक स्तर का भी । इसीलिए महाराजश्री की बात मुझे जम नहीं रही थी । किन्तु यह गुरु महाराज की इच्छा थी, जिसमें कोई स्वार्थ नहीं है । सदैव ही शिष्य की हित-कामना होती है । गुरु इच्छा के निरादर का दुष्परिणाम मैं भुगत ही चुका था, इसलिए विवश था । मैंने "बहुत अच्छा महाराजजी" कह दिया ।

महाराजश्री बोले, "गुरु का कार्य ही यही है कि करने योग्य कोई कार्य यदि शिष्य नहीं कर रहा हो, तो उसे उसमें लगाना । यदि नहीं करने योग्य कुछ कर रहा हो तो वहाँ से हटाना । यदि शिष्य कोई दुविधा में हो तो उसे मार्गदर्शन देना । यदि कोई बात उपेक्षित हो, शिष्य उधर से उदासीन हो तो याद दिलाना । इसीलिए गुरु की आवश्यकता है । जब तक भले-बुरे का निर्मल विवेक अपने अन्दर जाग्रत नहीं हो जाए, तब तक गुरु आदेशानुसार ही कार्य करना श्रेयस्कर है । वैसे हर व्यक्ति को अपनी बुद्धिमत्ता पर अभिमान है किन्तु प्रत्येक व्यक्ति भूलें करता है । बाद में पछताता भी है किन्तु अभिमान का फिर भी त्याग नहीं करता । इस अभिमान को मिटाने का सरलतम उपाय है कि अपने आप को किसी के समर्पित कर दिया जाए ।"

(५५) यात्रा वृत्तान्त

अब मेरे संन्यास दीक्षा की चर्चा होने लगी । महाराजश्री ने एक दिन कहा कि उन्होंने स्वयं तो किसी को संन्यास-दीक्षा दी नहीं । मैं सोच रहा हूँ कि तुम्हें संन्यास कहाँ से

दिलवाया जाए । मैं यह सुन कर चौंक उठा । मैंने कहा, "महाराजजी ! मेरी श्रद्धा, भावना, समर्पण सब कुछ आप के ही चरणों में है, किसी दूसरे स्थान की मेरे मन में कल्पना ही नहीं होती । मुझे दूसरा घर नहीं दिखाने की ही कृपा करें । आप के चरणों में ही आनन्दित हूँ ।" महाराजश्री ने कहा कि "तुम फिर वही भूल कर रहे हो । तुम अपने पूर्व-आग्रह को छोड़ने के लिए तैयार ही नहीं हो । जो अपने पूर्वाग्रहों से चिपका रहता है, वह साधक ही नहीं है । पूर्वाग्रह का अर्थ है स्मृतियों का मन में गहरा उतर जाना । फिर मनुष्य चाह कर भी, उन स्मृतियों से नहीं उभर पाता । अपनी बुद्धि तथा भावनाओं के वशीभूत होकर ही तुम ऐसा कह रहे हो । अनावश्यक तर्क देकर, गुरु-इच्छा को झुठलाने का प्रयत्न क्यों करते हो ।"

मैं चुप हो गया । वास्तव में ही गुरु-इच्छा का आदर, मेरी दृष्टि से ओझल हो गया था । फिर भी मैंने डरते-डरते एक प्रश्न कर ही दिया, "कहते हैं कि अन्तर्गुरु की आवाज बहिर्गुरु की बात से अधिक महत्त्वपूर्ण है ।" महाराजश्री बोले, "अवश्य है, किन्तु अन्तर्गुरु की आवाज हो, तब न । प्रायः साधक के विकारों, भावनाओं तथा पूर्वाग्रहों की आवाज़ होती है, जिसे वह अन्तर्गुरु की आवाज़ मान लेता है । अभी तुम अन्तर्गुरु की आवाज़ की बात मत करो । यह बहुत बाद की अवस्था है । फिर महाराजश्री ने कहा, "मैंने सोचा है कि तुम हमारे गुरु-बंधु, काशी के स्वामी नारायण तीर्थ जी से संन्यास दीक्षा ले लो ।"

स्वामी नारायण तीर्थजी महाराज से मैं भली-भाँति परिचित था । उत्तर-काशी में उन की सेवा में दो-तीन महीने व्यतीत कर चुका था । उनका स्नेह-भरा मुस्कराता चेहरा आज भी मेरी आँखों के सामने था । उनकी सरलता तथा सौम्यता आज भी मेरे मन को मोहित किए हुए थी । उनका नाम सुना तो मुझे संतोष हुआ । श्री स्वामीजी महाराज की मुझ पर कृपा भी थी । निश्चय हुआ कि उन्हें पत्र लिखकर पूछा जाय । अन्ततः पत्र लिखा गया, स्वीकृति भी आ गई । काशी जाकर सारी बात करने तथा कार्यक्रम तय करने का भी निश्चय हो गया ।

कार्यक्रम ऐसे बना कि पहले जगन्नाथपुरी, कलकत्ता, गया, बैजनाथ धाम होते हुए काशी पहुँचा जाय । वहाँ बात करके फिर ऋषिकेश जाया जाय । काफी लम्बे समय तक देवास से बाहर रहने का कार्यक्रम था । महाराजश्री तथा मैं भोपाल, सागर, जबलपुर, बिलासपुर होते हुए रायपुर पहुँचे । वहाँ एक दिन भिलाई स्टील प्लांट देखने गए । रायपुर से एक दम्पति हमारे साथ हो गए तथा हम जगन्नाथपुरी पहुँच गए । रास्ते में रेलगाड़ी में महाराजश्री ने तीर्थयात्रा के विषय में बोलते हुए कहा कि यह चंचल-मन वालों के लिए साधना है । मन की चंचलता से शरीर भी चंचल होकर, भटकता फिरता है । यदि भटकना ही है तो कहीं अच्छा है, भगवान के लिए भटका जाए । दूसरे तीर्थ-यात्रा में कष्ट बहुत उठाने पड़ते हैं, जिससे सहन करने की आदत हो जाती है । शान्त रहते हुए, कई बार अपमान भी सहन करना पड़ता है । यह सब तप का ही स्वरूप है । यदि तीर्थ-यात्रा काल में शास्त्रीय

नियमों का पालन किया जाय, सत्य, क्षमाशीलता, इन्द्रिय-निग्रह, दया तथा सरलता आदि सद्‌गुणों का अभ्यास किया जाये, तो सामान्य जीवन में भी वैसा ही स्वभाव बन जाता है ।

प्रश्न– यदि व्यवहार में रहते हुए ही, सद्‌गुणों का अभ्यास किया जाय तो तीर्थ-यात्रा की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर– कोई आवश्यकता नहीं । किन्तु यदि यह सद्‌गुण स्वभाव में नहीं हों, तो व्यवहार में रह कर, स्वभाव बनाना कठिन है । इसीलिए शास्त्रकारों ने तीर्थ यात्रा का विधान किया ताकि कुछ समय के लिए मनुष्य, व्यवहार से हटकर कष्ट सहन करने तथा सद्‌गुणों को धारण करने का अभ्यास कर सके ।

हम लोग भी इस समय तीर्थयात्री हैं किन्तु इस बात का ध्यान रहे कि केवल जल में शरीर डुबो देने से ही तीर्थ-स्नान नहीं हो जाता । यह स्नान तो केवल बाहर का ही है । ऐसा स्नान आप नित्य प्रति करते हैं । तीर्थ स्नान में मन निर्मल होना चाहिए । तीर्थ-यात्रा के बहाने साधकों को कई बातों के अभ्यास का अवसर मिल जाता है । आज जो लोगों पर तीर्थ-यात्रा का कोई प्रभाव दिखाई नहीं दे रहा, उसका कारण यही है कि शास्त्रीय नियमों पर ध्यान नहीं दिया जाता । यदि स्नान का महत्त्व होता तो सबसे पहले जलचरों का कल्याण होना चाहिए था, जो जल में ही जन्मते-मरते हैं तथा जीवन का प्रत्येक क्षण स्नान करते हुए व्यतीत करते हैं । विषयों के प्रति आसक्ति को ही मल कहा है तथा विषयों के प्रति वैराग्य ही निर्मलता है ।

चित्त में यदि विकार भरे हों तो केवल तीर्थ-स्नान से ही मन निर्मल नहीं हो जाता । यदि किसी पात्र में विष भरा हो तथा उसे सैकड़ों बार भी तीर्थ-जल में डुबोया जाय, तो उसके अन्दर का विष समाप्त नहीं होता । हाँ, यदि डुबोने से पूर्व पात्र का मुँह खोल दिया जाए तो तीर्थ जल, विष को धो डालता है । नियमों का पालन ही, मन का मुँह खोलना है । यदि मन के अन्दर का भाव शुद्ध न हो तो तीर्थों पर जाकर किया गया सभी दान, यज्ञ, तप, पठन-पाठन व्यर्थ है । तीर्थ सेवन मन में भाव भरने का बहाना है तथा भाव मन को निर्मल करता है, अर्थात् वास्तव में भाव ही तीर्थ है ।

जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है, मन में सत्य, संतोष, दया, धर्म को धारण करता है, राग-द्वेष, क्रोध तथा पापाचार से दूर रहता है तथा सदा अपने स्वामी प्रभु की ही सेवा में लगा रहता है, वह जिस भी देश में रहता है, वही उसका तीर्थ हो जाता है । सबसे बड़ा मानस तीर्थ है । इसमें यदि ज्ञान, प्रेम तथा भाव का जल भरा है तो उससे स्नान करने से मन का मल धुल जाता है । तीर्थ-यात्रा मन में झाँकने का अवसर प्रदान करती है ।

प्रश्न– किन्तु तीर्थ का मुख्य केन्द्र तो देवदर्शन होता है जैसे बद्रीनारायण, जगन्नाथ मंदिर, रामेश्वरम, सोमनाथ आदि, या गणपति, दत्त या भगवती के स्थान, जबकि आप केवल स्नान की ही बात कर रहे हैं ?

उत्तर- तीर्थ का अर्थ ही पावन जल है, जिसके पान करने, जिसमें स्नान करने तथा जिसके दर्शन करने से मन का मैल धुलकर, निर्मलता आ जाती है । फिर नेत्रों की तुष्टि के लिए देव मंदिर प्रकट किए गए । उन्हें भी तीर्थों के अन्तर्गत ही माना गया । फिर कानों की तुष्टि के लिए भजन, कीर्तन, सत्संग तथा घण्टा, घड़ियाल की व्यवस्था का विकास हुआ । यह सब तीर्थ रूप ही हैं क्योंकि सब निर्मलता का कारण हैं, किन्तु उपरोक्त निर्मलता वही प्राप्त कर पाता है, जिसके मन में भाव हो । वास्तविक तीर्थ, देव दर्शन, सत्संग तथा घण्टा घड़ियाल सब अन्तर में हैं ।

हम लोग जगन्नाथ पुरी पहुँच गए थे । किसी सज्जन के द्वारा वहाँ ठहरने के लिए एक मकान की व्यवस्था कर दी गई थी, जो आदि शंकराचार्य द्वारा स्थापित गोवर्धन मठ के एकदम समीप था । दूसरे दिन पहले स्वर्गद्वार जाकर, समुद्र स्नान किया फिर जगन्नाथजी के मंदिर के दर्शन करने गए । समुद्र से मंदिर एक- डेढ़ मील होगा । सड़क के दोनों ओर भीख माँगने वाले जमे थे । इतने भिखमंगे एक साथ अन्यत्र मैंने कहीं नहीं देखे । रास्ते भर भीड़ इतनी थी कि चलना कठिन था । मंदिर में पण्डों की भरमार थी ।

महाराजश्री जगन्नाथजी के मंदिर के विषय में बतला रहे थे, "किसी समय मालव प्रदेश में महाराज इन्द्रद्युम्न का राज था । उसने सुना कि उत्कल प्रदेश में कहीं पर श्री नील माधव भगवान की प्रतिमा है जिसे देवगण भी आकर पूजते हैं । उन्होंने स्थान की खोजबीन आरम्भ की तथा उन्हें मिल भी गया, किन्तु उनके पहुँचने से पूर्व ही देवगण उस प्रतिमा को लेकर, स्वर्ग जा चुके थे । तब आकाशवाणी हुई अथवा राजा को अन्तर से ऐसा प्रतीत हुआ कि अब काष्ठ रूप में भगवान के दर्शन होंगे ।

"महाराज इन्द्रद्युम्न को वह स्थान मन भा गया नीलांचल पर्वत, जहाँ पर नील माधव भगवान की प्रतिमा स्थापित थी, के पास ही रहने लगे । एक दिन उन्होंने देखा कि समुद्र में काष्ठ का एक बड़ा भारी लट्ठ तैर रहा है । उन्होंने उसे निकलवा कर मूर्ति बनवाने का निश्चय किया । एक कारीगर भी मिल गया । कारीगर ने प्रतिमा बनाना मान तो लिया किन्तु यह भी कह दिया कि जब तक वह प्रतिमा पूरी करके सूचित नहीं करे, तब तक न कोई घर में प्रवेश करे, न ही द्वार खोला जाए । कारीगर ने लट्ठा साथ लेकर अपने आपको एक मकान में बन्द कर लिया । कई दिन बीत जाने पर भी, जब कारीगर से कोई सूचना प्राप्त नहीं हुई तो रानी को कारीगर की चिन्ता सताने लगी । उसने राजा से आग्रह किया कि क्या पता कि उस कारीगर का क्या हुआ ? इतने दिनों तक क्या कोई बिना खाए- पिए जीवित रह सकता है ? राजा के आदेश से दरवाजा तोड़ा गया । अन्दर जाकर देखा तो भगवान जगन्नाथ सुभद्रा तथा बलरामजी की अधूरी प्रतिमाएँ रखी थीं । उन्हें ही उसी अधूरी दशा में ही स्थापित कर दिया गया । कारीगर का कुछ पता नहीं था ।

"यह तो हुई मन्दिर की पृष्ठभूमि में प्रचलित कथा, किन्तु मैं इन अपूर्ण प्रतिमाओं को जगत के लिए एक संदेश के रूप में देखता हूँ ।

(१) सर्वप्रथम तो साधक का धैर्य टूट जाता है । उसे कई प्रकार की चिन्ताएँ सताने लगती हैं । उसे प्रभु के दर्शन की शीघ्रता भी होती है, परिणाम होता है पूर्णत्वहीन दर्शन ।

(२) जगत के अन्य मंदिरों में स्थापित प्रतिमाएँ चाहे कितनी भी सुशोभित क्यों न हों, किन्तु हैं सब अपूर्ण ही, क्योंकि भगवान के गुणों तथा स्वरूप को कोई भी कलाकार पूरी तरह, मूर्ति में उतार ही नहीं सकता । जगत के सभी साधन अनित्य हैं, उनके आधार पर नित्य की कल्पना को कैसे साकार किया जा सकता है ! मनुष्य मन बुद्धि के आधार पर कितनी भी ऊँची उड़ान भर ले, किन्तु उस तक नहीं पहुँच सकता । हाँ, प्रतिमा, ईश्वर प्राप्ति का यत्न करने में आधार अवश्य बन सकती है । वह आधार कोई कल्पना, मूर्ति, पुस्तक, पर्वत, नदी, चन्द्र, सूर्य कुछ भी हो सकता है ।"

दर्शन तथा पूजन के पश्चात् हम लोग अपने स्थान पर लौट आए । महाराजश्री कोई पन्द्रह दिन पुरी में ठहरे । समुद्र स्नान तथा जगन्नाथजी के दर्शन, नित्य का कार्यक्रम था । एक दिन गोवर्धन मठ भी पधारे । स्वामी निरंजन देव तीर्थ महाराज, उन दिनों यहाँ के शंकराचार्य थे । इसी मठ से स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ महाराज ने, तत्कालीन शंकराचार्य स्वामी भारती कृष्ण तीर्थ महाराज से संन्यास ग्रहण किया था । शंकराचार्य ने महाराजश्री को स्वामी भारती कृष्ण तीर्थ महाराज के, अमेरिका में दिए गए भाषणों की एक प्रति भेंट की ।

अब तो भारत में दो- एक सूर्य मन्दिर और भी बन चुके हैं, किन्तु उस समय मेरी जानकारी में शायद ही दूसरा कोई सूर्य मन्दिर था जो पुरी से सड़क मार्ग से ५५ मील दूर स्थित है तथा कोणार्क के नाम से प्रसिद्ध है । एक मोटर गाड़ी की व्यवस्था करके हम लोग कोणार्क पहुँचे । मंदिर चारों ओर बनी एक दीवार के बीचों-बीच, थोड़ी नीचाई पर है । बीच में सूर्य देव का विशाल मन्दिर है जो रथ के आकार में बना हुआ है । रथ के पहिए भी हैं, साथ ही घोड़े तथा सारथी का स्थान भी है । पहले मन्दिर की ऊँचाई काफी थी, किन्तु शिखर टूट चुका है । अब मूल मन्दिर नहीं है, केवल सामने के मण्डप का कुछ भाग ही खड़ा है ।

जिस समय हम गए थे, उस समय मन्दिर के अन्दर दीवारों पर खुदी मूर्तियों की सुरक्षा के लिए, मन्दिर में पत्थर भरकर उसे बन्द किया हुआ था । महाराजश्री के ब्रह्मलीन हो जाने के पश्चात् जब मैं दूसरी बार वहाँ गया तो उस अन्दर के पत्थर को निकालने का काम चल रहा था । मन्दिर काफी टूट-फूट चुका है, पर जो भी कुछ बाकी है वह भी खूब है ।

कोणार्क में जो एक बात हमें समझ नहीं आई वह यह थी कि मन्दिर में भरपूर अश्लील मूर्तियाँ बनी हुई थीं जैसे मन्दिर में अश्लीलता नाच रही हो । मन्दिर में भला इसका क्या काम ? ऐसी मूर्तियाँ और भी कुछ मन्दिरों में देखने को मिलीं । यह बात केवल उड़ीसा

में ही नहीं, समस्त भारत में, विशेष कर पूर्वी भाग के प्राचीन मन्दिरों में देखी गई । नेपाल में मेरा जाना तो नहीं हुआ, पर सुना है कि यह बात वहाँ भी है । महाराजश्री का इस विषय में विचार जानने के लिए उनसे पूछा गया ।

उत्तर– युग-युग में विचारधारा तथा साधना प्रणाली बदलती रहती है । कहा तो यह जाता है कि वज्रपात् से रक्षा के लिए ऐसा किया जाता था, परन्तु यह बात कुछ समझ में नहीं आती कि वज्रपात् का इससे क्या संबंध है ? ऐसा लगता है कि जब तांत्रिक-साधनाओं का अवमूल्यन हो गया तथा वाममार्गीय साधनाओं का प्रचार बढ़ गया, तभी से संभवतः ऐसे मन्दिरों का निर्माण आरंभ हो गया, या विद्यमान मन्दिरों में ऐसी मूर्तियाँ बना दी गईं । मूल रूप में वाममार्ग भी आध्यात्मिक ही था, जिसने कालान्तर में विकृत रूप धारण कर लिया था। मन्दिर में अश्लील मूर्तियों का यह अर्थ भी हो सकता है कि अध्यात्म वासनाओं-आशाओं तथा आकर्षणों से घिरा है, उनको लाँघ कर ही साधक को ठाकुर तक पहुँचना है । मन्दिर जाते समय भक्त के आसपास वासनाएँ बिखरी पड़ी होती हैं, किन्तु उसे अपना लक्ष्य, मन्दिर की केन्द्रीय पूज्य प्रतिमा पर ही स्थिर रखना है । सुना है कि कही-कहीं गर्भ-गृह के अन्दर तक अश्लील मूर्तियाँ हैं । यहाँ भी देखो, शिखर पर भी ऐसे चित्र खुदे हुए हैं, अर्थात् जगत-वासनाएँ, काफी दूर तक भक्त का पीछा करती हैं, जिन्हें भक्त को अनदेखा करना होता है ।

कोणार्क से हमारी गाड़ी साक्षी गोपाल के मन्दिर की ओर चल दी । मन्दिर पहुँच कर दर्शन करने के पश्चात् महाराजश्री कहने लगे, "इस मन्दिर से संबंधित प्रचलित कथा के विस्तार में, मैं नहीं जाता, बस इतना ही समझो कि एक भक्त को कभी किसी साक्षी की आवश्यकता पड़ी, जबकि साक्षी कोई था नहीं । तब गोपालजी स्वयं प्रकट हो गए तथा उस भक्त की साक्षी दी । वही गोपाल यहाँ साक्षी के रूप में पूजे जाते हैं ।

मैं इसको आध्यात्मिक दृष्टि से लेता हूँ । गो का अर्थ है इन्द्रियाँ, जो शक्ति इन्द्रियों को क्रियाशील करती है, उन्हें बोलाती, चलाती तथा पकड़ती-छोड़ती है, जिस शक्ति से युक्त होकर मन संकल्प करता है, वह शक्ति इन्द्रियों के शुभाशुभ कर्मों तथा मन के अच्छे-बुरे भावों, विचारों तथा संकल्पों की साक्षी भी है, अर्थात् वह शक्ति ही साक्षी गोपाल है । उसी साक्षी तथा शक्ति प्रदाता, साक्षी गोपाल की यहाँ प्रतिमा के माध्यम से पूजा होती है । वही शक्ति पूज्य, उपास्य तथा प्राप्तव्य है । इसलिए इसका नाम साक्षी गोपाल है ।

हम लोग पुरी वापिस लौट आए । पुरी एक बड़ा तीर्थ तो है ही, पर हमारी परम्परा का तो वह मुख्य तीर्थ है क्योंकि शक्तिपात् विद्या के आदि प्रवर्तक स्वामी गंगाधर तीर्थ जी महाराज की यही साधन-स्थली है । यहीं पर चन्दन तालाब के किनारे, एक छोटी सी कुटिया में उनका निवास था । शान्त एकान्त जीवन, सतत् साधन-साधना न किसी से मिलना, न

कहीं जाना। यहीं पुरी में ही उन्होंने स्वामी नारायण तीर्थ देव महाराज को शक्तिपात् की दीक्षा देकर, परम्परा की नींव रखी। एक दिन हम चन्दन तालाब देखने गए।

स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज के समय के चन्दन तालाब की आस-पास की परिस्थितियों तथा वातावरण में अब काफी बदलाव आ चुका था। उस समय सब जंगल था जिस में विरक्त साधुओं की कुटियाएँ थीं। अब आबादी, मकान, गलियाँ विकसित हो चुके थे। एक नगर का पूरा वातावरण वहाँ विद्यमान था। चंदन तालाब के जिस ओर स्वामीजी महाराज की कुटिया थी, वहाँ महाराजश्री ने इधर-उधर घूमना आरंभ कर दिया। आगे-आगे महाराजश्री, हाथ में छड़ी लिए हुए तथा पीछे-पीछे हम सब। पहली गली में गए, फिर दूसरी में, फिर तीसरी में। तीसरी गली में प्रवेश करते ही, महाराजश्री के चेहरे के भाव बदलने लगे। थोड़ी ही दूर जाकर रुक गए। कुछ देर खड़े रहे, फिर बोले, "यहाँ थी गंगाधर तीर्थ महाराज की कुटिया।" वहाँ लकड़ी कोयले का एक टाल था। महाराजश्री कहते रहे, "यहीं थी, यहीं थी। श्री स्वामी महाराज की साधन रश्मियाँ, अभी तक इस स्थान पर तरंगित हैं। लकड़ी कोयला बेचने वाले इन बेचारे लोगों को क्या पता कि यह कैसे पवित्र स्थान पर अपना धंधा चला रहे हैं।"

हम लोग अपने स्थान पर लौट आए। इतने दिनों में कुछ स्थानीय लोगों से भी परिचय हो गया था। कुछ लोग शाम के समय नियमित आने भी लगे थे। रायपुर से आए दम्पति एक सप्ताह हमारे साथ रहने के पश्चात् वापस चले गए थे। पीछे महाराजश्री तथा मैं, दो ही रह गए थे। कार्यक्रम पूर्ववत् चलता रहा। प्रातः समुद्र स्नान, फिर जगन्नाथजी के दर्शन। सायंकाल थोड़ा घूमना तथा आने वाले लोगों से मिलना। भोजन के लिए मंदिर से प्रसाद आ जाता था।

आने वाले लोगों से महाराजश्री ने चर्चा की। "हमारे आदिपुरुष स्वामी गंगाधर तीर्थ जी महाराज, इस नगर में आज से सत्तर-अस्सी वर्ष पूर्व तक चन्दन तालाब के किनारे एक कुटिया में रहा करते थे।" फिर दिशा समझ कर कहा, "जहाँ इस समय लकड़ी-कोयले का एक टाल है, वहीं उनकी कुटिया थी, ऐसा हमको अनुभव होता है। आपमें से यदि कोई म्यूनिसिपल कमेटी के कार्यालय में जाकर पुराना रिकार्ड देख सके तो यह ज्ञात हो सकता है कि वहाँ क्या था?" दूसरे दिन एक सज्जन ने आकर बताया, "महाराजजी, वहाँ तो किसी कराली नाम के ब्रह्मचारी की कुटिया थी।" महाराजश्री एकदम उछल पड़े, "बस, बस; ठीक है, वह कुटिया कराली ब्रह्मचारी की ही थी तथा वह स्वामीजी महाराज का ही ब्रह्मचारी था। कुटिया उसी के नाम पर ही थी, जो उसने स्वामीजी महाराज को रहने के लिए दे दी तथा स्वयं समीपस्थ एक धर्मशाला में रहने के लिए चला गया। श्री स्वामीजी महाराज की भिक्षा वही ब्रह्मचारी लाया करता था।"

अब महाराजश्री सोचने लगे कि किसी प्रकार यदि वह जगह मिल सके, तो वहाँ कोई स्थान निर्माण कर के, किसी साधु-ब्रह्मचारी को रख दिया जावे, महाराजंश्री ने कुछ लोगों से बात भी की, किन्तु कोई तैयार नहीं हुआ, मैंने निवेदन किया कि यदि मुझे आदेश हो, तो मैं रहने के लिए तैयार हूँ । पहले स्थानीय लोगों के माध्यम से जगह लेने का प्रयत्न करना होगा, किन्तु महाराजश्री ने कहा कि यह काम तुम्हारे लिए नहीं है । परिणाम यह हुआ कि महाराजश्री का यह विचार बिना कोई आकार लिए वैसे ही समाप्त हो गया ।

जगन्नाथपुरी से महाराजश्री तथा मैं कलकत्ता पहुँचे । एक मारवाड़ी परिवार के यहाँ रहने की व्यवस्था थी । मकान काफी बड़ा था जिसमें कई परिवार रहते थे । मारवाड़ी परिवार तीसरी मंजिल पर रहता था । हमारे ठहरने की व्यवस्था नीचे एक कमरे में थी । गली बहुत गंदी थी । नालियों का पानी रुका था जिससे सब ओर बदबू फैली थी । तीन दिन वहाँ रहे । नरक की कल्पना साकार हो गई । यहाँ हमने दक्षिणेश्वर, वैलूर मठ, काली मंदिर तथा बोटानिकल गार्डन की यात्रा की ।

दक्षिणेश्वर– यहाँ किसी समय विश्व प्रसिद्ध रामकृष्ण परमहंस रहा करते थे । रानी रासमणि द्वारा निर्मित कराया गया यह स्थान गंगाजी के ठीक किनारे पर है । गंगाजी की तरफ, किनारे पर एकादश शिवलिंग के मंदिर हैं । उनके सामने बीचोंबीच काली माता का मन्दिर है । एक तरफ वह कमरा है, जिसमें परमहंस जी रहा करते थे । गंगाजी की तरफ एक वराण्डा है जिस में परमहंस जी प्रायः खटिया पर बैठे, गंगाजी के दर्शन करते तथा भक्तों से मिला करते थे । कमरे में उनके आराम करने का पलंग तथा अन्य स्मृति चिह्न रखे हैं । मन्दिर के बाहर परमहंस जी की धर्मपत्नी शारदा देवी तथा रानी रासमणि की समाधियाँ हैं । वह वटवृक्ष जिसके नीचे ध्यान किया करते थे, यहीं है ।

महाराजश्री बोले, "जिस स्थान पर महापुरुष निवास करते हैं, उस स्थान पर दीर्घकाल तक अध्यात्म-रश्मियाँ साधकों-मुमुक्षुओं को आकर्षित करती रहती हैं । परमहंस जी के निवास ने इस स्थान को भी तीर्थ बना दिया है । यहीं बैठकर उन्होंने आत्मिक प्रकाश का प्रसार किया, जिससे सारा जगत आज जगमगा रहा है । रामकृष्ण परमहंस को हम शक्तिपात् का आचार्य मानते हैं । जो अनुभव उन्होंने विवेकानन्द जी तथा अन्य शिष्यों को करवाए, वह शक्तिपात् नहीं तो क्या है ? उन्होंने उदारता तथा क्षमाशीलता का अनुभवात्मक संदेश दिया । वह भक्ति, ज्ञान, योग के मूर्तिमान स्वरूप थे ।"

दूसरे दिन हम वैलूर मठ देखने गए जो कि स्वामी विवेकानन्दजी द्वारा स्थापित तथा ठीक गंगाजी के किनारे स्थित है । रामकृष्ण परमहंस जी का भव्य मन्दिर तथा स्वामी विवेकानन्द जी की समाधि है । रामकृष्ण मिशन का मुख्यालय है ।

मैंने पूछा कि रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द जी में क्या अंतर है? महाराजश्री ने कहा, "दोनों में तुलना करना ठीक नहीं। गुरु-शिष्य दोनों खूब थे, दोनों का अपना-अपना रंग था। वैसे स्वामी विवेकानन्द जी ने स्वयं कहा है कि मैं जिस समुद्र के किनारे खड़ा लहरें ही गिन रहा था, वहीं मेरे गुरुदेव परमहंस जी समुद्र की गहराइयों में डुबकी लगा रहे थे।

हमारा अगला दर्शनीय स्थल बोटानिकल गार्डन था, जहाँ पेड़- पौधों का विशाल भण्डार संग्रहीत था, किन्तु वह हमारा विषय नहीं था। हमारी रुचि तो केवल एक वटवृक्ष देखने तक सीमित थी। यह वृक्ष अकेले ही एक जंगल का दृश्य समेटे हुए था। उस समय उसके साढ़े तेरह सौ से अधिक तने थे। उसकी जड़ें, जिसे वटवृक्ष की दाढ़ी कहा जाता है, टहनियों से लटककर जमीन में घुसतीं तथा एक नए वृक्ष का रूप लेती जाती हैं, किन्तु यह सभी पेड़ एक- दूसरे से जुड़े होते हैं। इस समय उसके कितने तने हैं, पता नहीं। इसके अतिरिक्त हमने काली माता के मंदिर के दर्शन किए।

कलकत्ता से हमने गया के लिए प्रस्थान किया। रास्ते में 'डेरी आन सोन' नामक मीलों लम्बा रेलवे का पुल आया। गया पहुँचकर भारत सेवक समाज की धर्मशाला में ठहरे। महाराजश्री यह चाहते थे कि मैं संन्यास लेने से पूर्व सभी पितरों का पिण्डदान करूँ, इसीलिए वह मुझे गया लेकर आए थे। धर्मशाला के स्वामीजी ने एक ब्राह्मण को बुला कर, सारी व्यवस्था कर दी। दिन भर का कार्यक्रम था। महाराजश्री अकेले रहेंगे, इसलिए उन्हें स्नानादि करवाकर, खाने-पीने का सब सामान उनके पास रख कर मैं ब्राह्मण के साथ हो लिया। सभी कार्य निपटा कर सायकाल को लौटा।

दूसरे दिन हम बौद्ध-गया देखने गए। गया से कोई सात मील दूर। यहाँ बुद्ध भगवान का अति विशाल मंदिर है। मंदिर के पीछे बोधि वृक्ष, जिसके नीचे एक ओटला (चंबूतरा) बना है। इसी ओटले पर ध्यान करते हुए भगवान बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त किया था। बोधि वृक्ष तो अब तक कहाँ रहा होगा, उसके स्थान पर दूसरा वृक्ष लगा दिया गया होगा।

मंदिर में ढोल के आकार के घूमने वाले अनेकों ड्रम लगे थे, जिन्हें लोग घुमा रहे थे। मैंने महाराजश्री से उनके विषय में जिज्ञासा प्रकट की तो वह बोले, "यह उनकी माला है। ड्रम घुमाते तथा मंत्र पढ़ते जाते हैं। संभवतः उनकी मान्यता है कि ड्रम घुमाने तथा साथ-साथ जप करने से उनका आवागमन का चक्र टूट जाता है। सबकी अपनी-अपनी मान्यताएँ तथा साधन प्रणालियाँ हैं। साधक के लिए सभी प्रणालियों का आदर करना कर्त्तव्य है।"

गया से हम बैजनाथधाम पहुँचे। गाड़ी में महाराजश्री ने बताया कि तीन स्थानों पर बैजनाथ का मंदिर है। सभी ज्योतिर्लिंग होने की बात करते हैं। बिहार में बैजनाथ धाम,

महाराष्ट्र में परली बैजनाथ तथा काँगड़ा हिमाचल में बैज़नाथ । यह पुजारियों तथा आचार्यों का बुद्धि-विलास है, भक्त को तो शंकर से काम है ।

अब हमें काशी (वाराणसी) पहुँचना था जहाँ सिद्धयोग आश्रम के अधिष्ठाता स्वामी नारायण तीर्थजी महाराज का निवास था । यह काशी का मेरा प्रथम प्रवास था । महाराजश्री भी सारी यात्रा से अधिक यहाँ आकर प्रसन्न थे। नित्य गंगा स्नान तथा काशी विश्वनाथ-दर्शन का क्रम चलता रहा । कितने दिन यहाँ रहे, अब याद नहीं, दस एक दिन तो रहे ही होंगे ।

कालक्रम से मन्दिरों का भी प्रकटीकरण-अप्रकटीकरण चलता रहता है । विश्वनाथ का मंदिर ध्वस्त हुआ तो कहा जाता है कि आदि शंकराचार्य महाराज ने स्वयं इसकी पुनर्स्थापना की । फिर ध्वस्त हुआ तो इन्दौर की महारानी अहिल्याबाई ने पुनः इसे बनवा दिया । यह मंदिर भी बारह ज्योतिर्लिंगों में से एक है । वैसे तो काशी मंदिरों की नगरी है, किन्तु ढुण्डीराज गणेश, अन्नपूर्णा, काल भैरव, बिन्दु माधव मंदिर मुख्य हैं । गंगाजी तो हैं ही ।

महाराजश्री ने कहा कि ऐसा कहा जाता है कि काशी का कभी नाश नहीं होता, क्योंकि यह शंकर जी के त्रिशूल पर टिकी है । दूसरे, आध्यात्मिक विचारक काशी को एक आध्यात्मिक अवस्था-विशेष मानते हैं । चित्त चंचल है, वृत्तियाँ बदलती रहती हैं, भाव तथा आशाएँ भी परिवर्तित होते रहते हैं, किन्तु काशी-अवस्था सदा एक समान बनी रहती है । काशी में मरने पर मुक्ति लाभ होता है, अर्थात् जो उस अवस्था विशेष में देह त्याग करता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता । काशी सदा से ही भारत की आध्यात्मिक विचारधारा एवं पाण्डित्य का केन्द्र रही है । यहाँ हजारों की संख्या में मंदिर, आश्रम तथा पाठशालाएँ हैं । काशी का एक साधारण मनुष्य भी दूसरी जगहों के विद्वानों से श्रेष्ठ समझा जाता रहा है ।

स्वामी नारायण तीर्थजी महाराज से कार्यक्रम तय कर लिया गया । श्री स्वामीजी महाराज ने अप्रैल महीने में ऋषिकेश आना तथा मई महीने में संन्यास दीक्षा प्रदान करना स्वीकार कर लिया । मैं महाराजश्री के साथ इलाहाबाद चला गया जहाँ त्रिवेणी संगम है, महान तीर्थ है, बारह वर्ष में एक बार कुम्भ मेला लगता है, जिसमें करोड़ों लोग भाग लेते हैं प्रतिवर्ष माघ-मास में सत्संग की बहार रहती है । भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति मेलों के द्वारा विकसित, नियंत्रित एवं पुष्ट होती रही है । यहाँ धर्मसभाएँ होती हैं, सत्संग स्नान होता है, धार्मिक आयोजन होते हैं तथा यहाँ लिए गए निर्णय लाखों-लाखों भक्तों द्वारा भारत के कोने-कोने में पहुँच जाते हैं । कुम्भ मेला सब से बड़ा है । एक विदेशी सज्जन ने मेले में इतने लोगों को देखा तो पूछा, "इन लोगों को निमंत्रण पत्र किसने भेजा ?"

हम ऋषिकेश पहुँच चुके थे। गंगाजी तो काशी तथा इलाहाबाद में भी थी, किन्तु महाराजश्री जितने हर्षित, ऋषिकेश में गंगाजी के दर्शन पाकर अनुभव करते थे, अन्यत्र नहीं। पता नहीं ऋषिकेश तथा गंगाजी का कौनसा संबंध उन्हें दिखाई देता था? इस बार हम एक भक्त के खाली पड़े त्रिवेणी घाट वाले मकान में ठहरे थे। दो कमरे नीचे थे, दो ऊपर थे। छह महीने तक हम इसी मकान में रहे।

(५६) ऋषिकेश वार्ता

ऋषिकेश तथा हरिद्वार को एक ही तीर्थ के अन्तर्गत समझा जाना चाहिए। ऋषिकेश, हरिद्वार का ही विस्तार मात्र है। हरिद्वार की समानता स्वर्गद्वार के तुल्य की जा सकती है क्योंकि इसके आगे सब हिमालय तथा गंगाजी की तपोभूमि है जिसमें अनेकानेक महात्माओं की कुटियाएँ तथा आश्रम हैं। दृश्य अत्यन्त मनोहारी एवं शान्त है। हरिद्वार से नीचे की ओर गंगाजी, यदि मैदानों में बहती है, तो ऊपर हिमालय की सुरम्य वादियों में। हरिद्वार में हर की पौड़ी तो मुख्य तीर्थ है ही, चण्डीदेवी, दक्षेश्वर महादेव, भीम गोडा आदि अनेक तीर्थ हैं। अब कई आश्रमों ने बड़े सुन्दर मंदिर निर्माण कर लिए हैं।

ऋषिकेश आकर, महाराजश्री का गंगा-वास का भाव पुनः जाग्रत हो उठा। गंगा-किनारे शरीर त्यागने का विचार तो था ही। वैसे भी महाराजश्री प्रतिवर्ष दो एक महीने ऋषिकेश आया ही करते थे तथा हर बार यहाँ ठहरने की व्यवस्था करना पड़ती थी। इसलिए विचार हुआ कि क्यों न एक छोटा सा स्थान यहाँ बना लिया जाए। ऋषिकेश तथा हरिद्वार में जगह की तलाश शुरू हो गई। अन्ततः महाराजश्री के एक पुराने श्रद्धालु भक्त ने, मुनि की रेती में महाराजश्री के पसन्द का भूखण्ड, सेवा में अर्पित कर दिया। यह १९६५ के आरंभ की बात है। स्थान बनना आरंभ हो गया। वही स्थान वर्तमान योगश्री पीठ आश्रम है।

इन्दौर से कुछ और लोग भी, महाराजश्री के सानिध्य में रहने के लिए आ गए थे। हर बार की तरह इस बार भी गरुड़ चट्टी जाने का कार्यक्रम बना। गंगाजी को नाव से पार किया गया। स्वर्गाश्रम में एक सेवानिवृत्त जज साहिब रहते थे। श्री योगानन्दजी महाराज के शिष्य थे। उनके मकान के पास ही एक कुटिया में, कभी योगानन्दजी महाराज रहा करते थे। महाराजश्री की शक्तिपात् दीक्षा इसी मकान में हुई थी। हम लोगों ने वह कमरा देखा जिसमें दीक्षा हुई थी। वह कुटिया देखी जिसमें योगानन्दजी महाराज रहा करते थे, फिर गरुड़ चट्टी की ओर आगे चल दिए।

वहीं गंगाजी के साथ-साथ बल खाता रास्ता, दोनों ओर ऊँचे पहाड़ तथा पहाड़ों पर हरियाली, बंदरों की उछल-कूद, शान्त आनन्ददायक वातावरण। गरुड़ चट्टी में कोई बदलाव नहीं, उजड़ी धर्मशाला, चाय की एक दुकान, गरुड़जी का मंदिर, नीचे उतर कर

गंगाजी पर छोटा सा एक घाट । वहीं भोजन बनाया, खाया । गरुड़जी के मंदिर के प्रांगण में इस बार भी सत्संग जमा । महाराजश्री कह रहे थे-

"कहते हैं एक बार ऋषिगण, राक्षसों के उत्पातों से अत्यन्त पीड़ित होकर भगवान के शरणापन्न हुए तो भगवान भी द्रवित हो गए । उन्होंने राक्षसों का नाश किया तथा यह भूमि ऋषिओं को प्रदान कर दी । इसका नाम ऋषिकेश हुआ तथा यह हिमालय की तपोभूमि के द्वार पर, किन्तु द्वार के अन्दर है । जब तक मन जगत का प्रभाव ग्रहण करता रहता है, तब तक साधक को शुद्ध सात्विक वातावरण में रहने की आवश्यकता बनी रहती है । वास्तव में अपना मन ही ऋषिकेश है तो अपना मन ही कोई राक्षस नगरी । मन ही तपोभूमि है तथा मन ही वासनामय जगत । जब तक मन जगत का प्रभाव ग्रहण करता है, तब तक मनुष्य को तपः स्थलियों की आवश्यकता प्रतीत होती है ।

"वैसे तो भारत का प्रत्येक कोना तीर्थ है, क्योंकि हर जगह कभी न कभी किसी महापुरुष ने आत्म-लाभ के लिए साधनरत् होकर, आध्यात्मिक रश्मियों को प्रसारित किया है तथा उस स्थान को पवित्रता तथा सात्विकता प्रदान कर, तीर्थ बना दिया है, परन्तु कालक्रम से आसुरी प्रवृत्तियों के प्रभाव से, आध्यात्मिक रश्मियाँ लुप्त हो गईं । तब मनुष्य किसी स्थान को तीर्थ तथा किसी को जगत-प्रसार के रूप में देखता है किन्तु भारत भर में आध्यात्मिकता, कहीं सूक्ष्म तो कहीं प्रकट बिखरी पड़ी है ।

"मनुष्य का शंकालु स्वभाव ही उसकी मुख्य बाधा बनकर खड़ा है । शंका कई प्रकार की कल्पनाओं की जननी है । साधक वर्ग भी शंकाओं से अछूता नहीं है, संसारी जन तो इससे पूरी तरह पीड़ित हैं ही । शंकालु मनुष्य स्वयं तो अपने मन में शंका पाले होता है, दूसरों के मन को भी शंकाओं से भरता रहता है । शंका तथा श्रद्धा दो विपरीत छोर हैं । जिस मन में श्रद्धा होगी, वहाँ शंका का विकास नहीं हो सकता । श्रद्धालु को भारत का हर स्थान तीर्थ दिखाई देता है, प्रत्येक जीव में ईश्वर को खोजता है तथा प्रत्येक क्रिया में ईश्वर को ही कर्त्ता मानता है । वहाँ शंकालु जगत में बुराइयों को सूँघता फिरता है । हर बात में उसे चालाकी तथा चालबाजी दिखाई देती है । उसकी यह भावना तीर्थ को भी अतीर्थ बना देती है ।

"शंका मनुष्य की निकृष्टतम भावना है जो भगवान को भी राक्षस बना देती है । कभी-कभी ईश्वर के अस्तित्व में ही संदेह होने लगता है । शंका, हँसते-खेलते परिवारों को आपस में लड़वा कर, नष्ट कर देती है । सुखी, खुशहाल तथा सुदृढ़ साम्राज्यों की नींव हिला देती है । पिता-पुत्र, मित्र तथा गुरु-शिष्य के मधुर संबंधों में विष घोल देती है तथा साधक का सारा प्रयत्न विफल कर देती है । भारत में तीर्थों का जितना अहित शंका ने किया है,उतना

किसी ने नहीं किया । इसने भक्तों की श्रद्धा को क्षत-विक्षत कर दिया, उनकी वृत्तियों को जगदामुख मोड़ दिया, तीर्थों को अतीर्थ बना दिया ।

"कोई समय था जब श्रद्धालु भक्त, हिमालय की तपोभूमि की ओर बढ़ने के लिए, हरिद्वार में प्रवेश करते थे । ऋषिकेश में उनका पाँव अन्दर पड़ता था तथा गरुड़चट्टी से यात्रा आरंभ हो जाती थी । अर्थात् गरुड़ चट्टी अन्तर-यात्रा का प्रथम पड़ाव है जहाँ गरुड़ रूपी प्राण अपने पंख फैला कर, अन्तराकाश में उड़ता हुआ, बद्री केदार तथा गंगोत्री, यमुनोत्तरी की यात्रा करवाता था । वह गंगोत्री जो शंकर जटाओं से, अर्थात् हिमालय की टेढ़ी-मेढ़ी पहाड़ियों में बहती हुई, नीचे मैदान में जब उतरती है तो जीव इसमें गंदगी घोलने लग जाता है । यह आन्तरिक यात्रा जीव को उसके उद्‌गम तक ले जाती है, जहाँ निर्मल अमृत है, आनन्द एवं सुख है । जहाँ केदारनाथ अपनी स्वाभाविक निराकार अवस्था में स्थित हैं । जहाँ नारायण क्षीरसागर में सुख से आराम करते हैं । गरुड़ चट्टी उसी आन्तरिक यात्रा के आरंभ का प्रतीक है तथा प्रथम पड़ाव है ।

"आजकल तो उत्तराखण्ड की यात्रा सुविधाजनक गाड़ियों से, सुविधाओं के साथ, आठ दिन में ही पूरी हो जाती है । जगत से हटकर, किसी आन्तरिक सौंदर्य तथा आनन्द में खो जाने का मनुष्य को अवसर ही कहाँ मिलता है ? पहले, यात्रा का रूप बाहर से दुखमय होता था, किन्तु अन्तर में सुखमय । अब की यात्रा में गरुड़ चट्टी का पड़ाव आता ही नहीं । न बाह्य प्रतीक, न आन्तरिक स्तर या अवस्था । न प्राण रूपी गरुड़ पंख फैला कर वायु के सहारे उड़ता है, न ही यात्रा करते हुए भी कोई तीर्थ-यात्रा होती है । मनोरंजन तथा घूमना-फिरना बाकी रह गया है ।"

प्रश्न– तो आप के कथनानुसार बाह्य यात्रा में गरुड़ चट्टी का वही स्थान है जो आन्तरिक यात्रा में मूलाधार का ?

उत्तर– मूलाधार का प्रतीक हरिद्वार है जहाँ शक्ति सुषुम्ना में प्रवेश करती है । द्वार के बाहर जगत है तो अन्तर में अध्यात्म की अनन्तता तथा अपारता । एक कदम द्वार के बाहर रखा तो जगत में । एक कदम हरिद्वार के अन्दर रखा तो अध्यात्म अर्थात् ऋषिकेश में । हरिद्वार को इसीलिए गंगाद्वार भी कहा जाता है, क्योंकि यह द्वार गंगाजी के उद्‌गम की ओर खुलता है, नहीं तो गंगाजी तो नीचे मैदानों में भी है । नीचे है तो गंगाजी ही, किन्तु जगत के प्रभाव से दबी हुई । जहाँ से उसके उद्‌गम को मार्ग जाता है वह हरिद्वार (मूलाधार) ही है । इसीलिए हरिद्वार को मूलाधार का प्रतीक कहा जा सकता है ।

गरुड़ चट्टी आन्तरिक यात्रा का स्वाधिष्ठान है । जब हरिद्वार रूपी द्वार की दहलीज लाँघ कर अन्दर एक पाँव रखा, तो ऋषिकेश में पड़ा । जब दूसरा पांव बाहर से उठाकर अन्दर आगे बढ़ाया, तो गरुड़ चट्टी रूपी स्वाधिष्ठान पर पड़ा । स्वाधिष्ठान का अर्थ ही है

अपना अधिष्ठान या घर । इसीलिए गरुड़ जी का मंदिर ऋषिकेश या हरिद्वार में नहीं, गरुड़ चट्टी में है, यहीं से प्राण रूपी गरुड़जी, अन्तर उड़ान भरने के लिए वायु रूपी आधार पर, अन्तर आकाश में गमन करने के लिए, उड़ने की तैयारी करते हैं । अर्थात् यात्रा स्वाधिष्ठान से ही आरंभ होती है ।

प्रश्न– किन्तु इन बाहरी तीर्थ यात्राओं का आन्तरिक यात्रा से क्या संबंध है ?

उत्तर– आजकल तीर्थ यात्रा ने जो स्वरूप ले लिया है, उससे तो कोई संबंध नहीं । क्योंकि आज यात्रा का मूल उद्देश्य ही गौण हो गया है । ऐसा कोई एकाध भावुक तथा गंभीर यात्री होगा, जिसके समक्ष आन्तरिक यात्रा का उद्देश्य हो । किसी समय तीर्थ-यात्रा कष्ट सहन करने, मान-अपमान की भावना से ऊपर उठने, साधु-संग करने तथा मन को निर्मल करके, प्रभु-प्रेम मन में भरने के लिए होती थी । यह सभी आन्तरिक यात्रा की तैयारी के रूप में किया जाता था । बाकी सभी बातें गौण थीं । आज आन्तरिक यात्रा गौण हो गई है । सुविधा सम्मान मुख्य हो गया है ।

बाह्य यात्रा, वृत्ति-निर्माण के लिए, जगत से हटने के लिए, प्रतीक रूप में अपनाई जाती है । यह साधक की प्रारंभिक तैयारी होती थी जिसमें उसे उदारता तथा सहनशीलता का शिक्षण प्राप्त होता था । यात्रा के साथ जप, देव-दर्शन, साधु-संग इत्यादि भी चलता था । धीरे-धीरे साधक हरिद्वार की देहरी अर्थात् मूलाधार को लाँघ कर, ऋषिकेश से होता हुआ गरुड़चट्टी अर्थात् स्वाधिष्ठान में स्थित हो जाता था । तब उसकी बाह्य यात्रा का उद्देश्य पूर्ण हो जाता था ।

प्रश्न– यात्रा करने में समय तो नष्ट होता है, जिसका उपयोग साधन में अधिक अच्छी प्रकार हो सकता है ।

उत्तर– यह मैंने कब कहा कि तीर्थ यात्रा सभी के लिए आवश्यक है । यदि किसी का मन साधन में लगता है तो उसे यात्रा की कोई आवश्यकता नहीं, एक जगह बैठ के साधन करो । किन्तु यदि मन चंचल है, साधन में लगाने में कठिनाई आती है, तभी तीर्थ-यात्रा का प्रश्न उपस्थित होता है ।

अब हम ऋषिकेश की ओर चल दिए थे । रास्ते में महाराजश्री ने कहा, "जो लोग हरिद्वार, ऋषिकेश या गरुड़ चट्टी में रहते हैं, उनका इन बातों की ओर ध्यान ही नहीं जाता, क्योंकि वह यात्री की श्रेणी में ही नहीं हैं । वे गंगा किनारे रहकर भी गंगा स्नान नहीं करते । उनको पता ही नहीं कि वे कहाँ खड़े हैं । जो गरुड़ चट्टी गाँव में रहते हैं उनकी स्थिति स्वाधिष्ठान में स्थित नहीं होती । यही हाल सभी तीर्थों पर रहने वालों का है । पुजारी सारा जीवन मंदिर में बिता देता है, पर उसका लक्ष्य चढ़ावे पर होता है । कीर्तनकार सारा जीवन हरि-भजन में बिताता है किन्तु सुर-ताल में अटका रहता है । यात्री भी प्रायः तीर्थ-यात्रा करने

को ही लक्ष्य समझते हैं, वह किसलिए है ? इधर से उदासीन रहते हैं । आज परिणाम हमारे सामने है ।

(५७) गीता-ज्ञान

महाराजश्री गंगा स्नान के लिए प्रायः चन्द्रभागा तथा गंगाजी के संगम पर जाया करते थे । स्नान के पश्चात् चन्द्रभागा में स्थित शंकरजी के मन्दिर जाया करते थे, फिर वहाँ से अपने स्थान पर लौट आते थे । सायंकाल घूमते हुए कई बार मुनि की रेती, जहाँ स्थान बन रहा था, देखने चले जाते थे । लोगों ने महाराजश्री से आग्रह किया कि गीता पर कुछ समझाने का कार्यक्रम बनाएँ । महाराजश्री ने सहर्ष स्वीकार कर लिया । सायंकाल का समय इसके लिए निश्चित हुआ ।

महाराजश्री ने कहा, "गीता इतना महान एवं गूढ़ ग्रन्थ है कि उसके यथार्थ को समझना-समझाना सरल कार्य नहीं । इसका प्रयोजन क्या है ? इसका सिद्धान्त एवं साधना प्रणाली क्या है ? इस पर विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने अर्थ निकाले हैं तथा उसके आधार पर कई तरह की टीकाएँ लिखी हैं । जितनी टीकाएँ, विभिन्न भाषाओं में गीता पर लिखी गई हैं, अन्य किसी ग्रन्थ पर नहीं । जहाँ एक ओर आदि शंकराचार्य इसे अद्वैतपरक ज्ञान-प्रधान ग्रन्थ मानते हैं, वहीं दूसरी ओर भक्ति के आचार्य इसे भावना तथा प्रेम प्रधान ग्रन्थ की संज्ञा देते हैं । गुरु-भक्त विद्वान इसे गुरु-शिष्य संबंध को उजागर करने वाला ग्रन्थ मानते हैं । तिलक महाराज की दृष्टि में गीता का प्रतिपाद्य विषय कर्मयोग है । छठे से नवें अध्याय के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि गीता में मुख्यतः योग का विषय समझाया गया है । शक्तिपात् मार्गीय इसे शक्तिपात् का ग्रन्थ मान्य करते हैं तथा राजविद्या राजगुह्य को शक्तिपात् का ही साधन बताते हैं । भाव यह है कि गीता के अन्दर इतना कुछ भरा है, कि जिस को जो चाहिए वही मिल जाता है ।

"गीता एक ऐसा ग्रन्थ है जिसने विषाद को भी योग का रूप दे दिया है । विषाद में तो मन दुःखी होता है, फिर उसमें योग कैसा ? यही तो गीता की खूबी है । गीता की विशेषता यह है कि जहाँ प्रायः ग्रन्थ तथा सिद्धान्त, विषाद से निकलने का उपाय विषाद छोड़ना बताते हैं, वहीं गीता विषाद त्याग के लिए विषाद को ही आधार बनाती है । किसी बाधा को पार करने के लिए बाधा को भी तो आधार बनाया जा सकता है । ऊँचा पर्वत किसी का मार्ग रोके खड़ा है, तो उसी पर्वत पर चढ़कर ही उसे पार किया जाता है । जो विघ्न बना हुआ था, वही विघ्न पार करने के लिए सहायक बन गया । समुद्र पार करने के लिए नाव, समुद्र के जल का आधार लेकर ही आगे बढ़ती है, इसी प्रकार यदि जगत का त्याग करना चाहते हो तो जगत से भागना नहीं, जगत में कूद पड़ो, उसे तैर कर पार करो । जगत त्याग का मार्ग जगत के बीच में से होकर ही जाता है । शत्रु से लड़ने के लिए शत्रु की आवश्यकता होती है । शत्रु यदि

सामने युद्ध में न हो, तो मारा कैसे जाएगा ? आप युद्ध छोड़कर भाग जाओगे तो शत्रु कैसे भगाओगे ? कौन मारेगा, कौन भगायेगा ?

"यदि कोई जगत को ही जगत से पार जाने का माध्यम या आधार बना लेता है तो जगत बाधक नहीं साधक हो जाता है, मार्ग हो जाता है । यही विषाद योग का आधार है, जिस पर सारा गीता-ज्ञान खड़ा है । गीता का भक्ति-मार्ग भगवान के सामने घण्टे- घड़ियाल बजाने या व्रत-उपवास करने का मार्ग नहीं, अपितु जगत में इस तरह रहना है कि आप जगत से प्रभावित नहीं तथा जगत आप के व्यवहार से प्रभावित नहीं हो । गीता का कर्मयोग केवल कर्म करने का नाम नहीं है, कर्म करते हुए भी अकर्मी बने रहना कर्मयोग है । धर्म या कर्त्तव्य के पालन में मोह, लोभ, भ्रान्ति या ईर्ष्या-द्वेषादि को बाधा नहीं बनने देना ही कर्मयोग है । कर्म द्वारा, कर्म-बंधन से मुक्त होना ही कर्मयोग है । गीता का ज्ञान-मार्ग केवल शास्त्र के पन्ने उलटते रहने का ही नाम नहीं है । केवल वाद-विवाद में पड़े रहना तथा नित्य नए सिद्धान्तों को घड़ते रहने का नाम ही ज्ञान योग नहीं है । ज्ञान अन्तर से उदय होता है । जब तक भ्रम है तब तक कितना भी शास्त्र-ज्ञान संचय करो, कोई लाभ नहीं । ज्ञान के लक्षण आपके व्यवहार में प्रकट होने चाहिए । ज्ञान, जगत में चारों दिशाओं में फैला हुआ है, किन्तु भ्रम के कारण अज्ञान की ही प्रतीति हो रही है । जगत यदि किसी के चित्त में अज्ञान का कारण बनता है तो वही , अज्ञान को हटाकर, ज्ञान का प्रकाशक भी है ।

"गीता को समझने के लिए विक्षेप तथा विषाद के अन्तर को समझना आवश्यक है, क्योंकि भगवान ने विषाद को आधार बनाया है, विक्षेप को नहीं । चित्त की विक्षिप्त अवस्था में मन, जगत के विषयों तथा सुख-सुविधाओं के लिए दुखी होकर, चंचल हो जाता है । काम, क्रोध, लोभ तथा अभिमान-स्वार्थ तात्कालिक कारण बनते हैं। चित्त में रजोगुण तथा तमोगुण का प्रभाव होता है । मन जगत विषयों में उड़ता फिरता है । जब विषय प्राप्त नहीं होते अथवा प्राप्त होकर, उनके वियोग की संभावना समक्ष आ खड़ी होती है, तो मन विक्षिप्त हो जाता है । ऐसा मन गीता-ज्ञान को प्राप्त करने के लिए अनुपयुक्त होता है ।

"परन्तु अर्जुन का मन विक्षिप्त नहीं था, विषादयुक्त था, अर्थात् सत्वगुण प्रधान था । वह जगत के भोगो के लिए लालायित नहीं था, यदि होता तो झट अपने सगे-संबंधियों को मारने के लिए तैयार हो जाता, किन्तु ऐसा नहीं हुआ । भले ही अर्जुन के मन में अपनों के लिए मोह उत्पन्न हो गया था, किन्तु वह मोह एक वैराग्ययुक्त चित्त का मोह था, विषयों से आसक्त मन का नहीं । इसीलिए अर्जुन के मुँह से निकला, "हस्तिनापुर का राज्य तो क्या, मुझे तीनों लोकों का राज्य भी मिले, तो भी मैं इन का वध नहीं करूँगा । ये लोग मुझे नि: शस्त्र देखकर मेरा वध भी कर डालें, किन्तु मैं इन्हें नहीं मारूँगा । यदि युद्ध क्षेत्र से विमुख होकर भाग जाने पर मुझे कायर कहकर निन्दा करें, तो उसे भी सहन कर लूँगा । वन में जाकर भिक्षा माँगते हुए

तपस्या करना स्वीकार है, किन्तु इनसे युद्ध नहीं करूँगा ।" यह सब बातें मन का वैराग्य ही दर्शाती हैं । चित्त की ऐसी अवस्था होने पर ही भगवान कृष्ण जैसे गुरु की प्राप्ति होती है, जो अपनी ज्ञान रूपी खड्ग से शिष्य के मोहरूपी बंधन को काट फेंकते हैं । तभी गीता-ज्ञान का अधिकार स्थापित होता है, तभी गीता-ज्ञान प्राप्त होता है ।

"आज गुरु-शिष्य संबंध काफी विकृत हो गया है, न अर्जुन जैसे शिष्य ही देखने को मिलते हैं, न भगवान कृष्ण जैसे गुरु ही उपलब्ध हैं । गुरु-शिष्य संबंध भी एक खेल बनकर रह गया है । यदि कोई गुरु स्वयं ही मोहयुक्त हो तो शिष्य को बंधनमुक्त कैसे कर सकता है ? शिष्य भी प्रायः वैसे ही हैं । वास्तव में शिष्य के भाव के अनुरूप ही उसे गुरु भी प्राप्त होते हैं । अन्तर में सुख-कामना हो, तो विषय-भोगों की प्राप्ति का सब्ज-बाग दिखाने वाले गुरु ही मिलेंगे । अर्जुन ने कहा था, "शाधि मां त्वां प्रपन्नम्"- शरण में आए हुए मुझ को उपदेश दीजिए । शिष्य का पहले शरणापन्न होना आवश्यक है । यह नहीं कि शरणागति एवं जिज्ञासा प्रकट अभी तक शिष्य ने की नहीं कि गुरु उपदेश चालू । ऐसे उपदेश के पीछे शिष्य के मंगल की कामना नहीं होती, अन्दर में छुपी वासना होती है, शिष्य को फँसा कर अपने चंगुल में लेने की भावना होती है । शिष्य भी मुँह से चाहे कुछ भी कहे किन्तु शरण ग्रहण करने के स्थान पर अपना अभिमान सुरक्षित रखता है ।

"गुरु उपदेश का भी उपयुक्त समय होता है । भगवान कृष्ण तथा अर्जुन, एक- दूसरे के मित्र थे तथा संबंधी भी थे । हजारों समय ऐसे आए होंगे जब भगवान कृष्ण उपदेश दे सकते थे किन्तु उस समय तक न गुरु-शिष्य संबंध स्थापित हुआ था, न ही अर्जुन शरणापन्न हुआ था तथा न ही उसके चित्त की स्थिति ऐसी निर्मित हुई थी कि उपदेश को ग्रहण कर सके । उस समय लोहा तो था किन्तु गरम नहीं था । कितनी भी चोटें करने पर भी अपना आकार नहीं बदलता । ऐसी स्थिति कुरुक्षेत्र के युद्ध में उपस्थित हुई । जब गुरु-शिष्य संबंध, जिज्ञासा, शरणागति, चित्त-स्थिति, सभी कुछ था । लोहा गरम था, भगवान ने चोट कर दी । गीता-ज्ञान प्रकट हो गया ।

"द्रोणाचार्य आदि को जब अर्जुन ने प्रतिद्वन्द्वी के रूप में सामने खड़ा पाया तो मोह जाग उठा । एक ही मन में मोह तथा वैराग्य का एक साथ उदय हो जाना, अद्भुत घटना है । जहाँ मोह के वशीभूत उसने लड़ने से इनकार कर दिया, वहीं वैरागी बनकर, तपस्वी जीवन का निर्णय भी घोषित कर दिया । उसके चित्त में द्वन्द्व चल रहा था, मोह तथा वैराग्य का द्वन्द्व उसे उचित-अनुचित की कुछ भी सूझ नहीं पड़ रही थी । ऐसे में ही तो गुरु की आवश्यकता होती है । तब वह अपने आप को भगवान के समक्ष शिष्य के रूप में उपस्थित कर, शरणापन्न हो गया, जिसे भगवान ने भी कृपा करके स्वीकार कर लिया । तब गीता ज्ञान प्रकट हुआ । शिष्यत्व तथा समर्पण, दो महत्त्वपूर्ण शर्तें हैं, तब कहीं ज्ञान प्रकट होता है । अर्जुन अधिकारी

शिष्य था । वह जितेन्द्रिय, वैराग्यवान तथा समर्पित था । केवल उसके चित्त पर मोह का आवरण आ गया था, जिससे वह भ्रमित हो गया था । वह विक्षिप्त नहीं, विषादयुक्त था ।

"यह विषय गुरुओं तथा शिष्यों, दोनों के लिए विचारणीय है । शिष्य को दीक्षा के लिए प्रार्थना करने से पूर्व यह सोचना चाहिए कि क्या वह उसका अधिकारी है, जिसकी वह माँग कर रहा है ? गुरु को यह विचार करना चाहिए कि शिष्य का अधिकार कहाँ तक है ? मैं यह नहीं कहता कि गुरु को, शिष्य को अनधिकारी समझ कर इनकार कर देना चाहिए अपितु उसके अधिकार के अनुरूप उसे किसी साधना में लगा देना चाहिए तथा अधिकार स्थापित हो जाने पर ही दीक्षा देना चाहिए । गुरु होने के नाते, वह एकदम किसी को इनकार तो कर ही नहीं सकता, किन्तु अधिकार-अनधिकार की भी एकदम उपेक्षा नहीं की जा सकती । प्रायः शिष्य विक्षिप्त होकर गुरु के पास आता है । उसका वैराग्य, क्षणिक विक्षेप के कारण होता है । विक्षेप का कारण दूर होने पर वैराग्य का नशा भी उतर जाता है, किन्तु विषाद का बहुत कुछ आधार विवेक होता है । वह अध्यात्म की ही बात सोचता है, जगत-भोग की नहीं ।

"ऐसा ही विषाद रामचन्द्रजी को भी हुआ । तीर्थ यात्रा से लौटे तो मन में वैराग्य का भाव प्रबल था । कोई काम करने की इच्छा ही नहीं होती थी । मन यही चाहता था कि वन में जाकर साधना करूँ । तब महर्षि वसिष्ठ के द्वारा उन्हें ज्ञान प्रदान किया गया । उन्होंने रामचन्द्रजी को जगत का मिथ्यात्व बतला कर, केवल कर्त्तव्य-बुद्धि से कर्म में लगा दिया ।

"कई लोग गीता का वास्तविक आरंभ दूसरे अध्याय से मानते हैं । प्रथम अध्याय को केवल वातावरण-निर्माण कहते हैं, किन्तु प्रथम अध्याय में गीता का आधार स्थापित किया गया है, गीता-ज्ञान का अधिकार निरूपित किया गया है । अर्जुन के मन में, प्रथम अध्याय में ही विषाद उदय होता है । जितना गुरु के द्वारा उपदेश दिया जाना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक, शिष्य का विषाद तथा वैराग्ययुक्त होना है । तंत्र शास्त्रों में कहा गया है कि जब साधक में पाप तथा पुण्य के संस्कारों में समानता होती है, वह समय दीक्षा के लिए उपयुक्त होता है । अर्जुन में भी मोह तथा वैराग्य दोनों, एक समान, एक साथ तरंगित थे । उसने शिष्यत्व ग्रहण किया, शरणागत हुआ, तभी तो गीता-ज्ञान प्रकट हुआ ।

"आज लोग बिना अर्जुन बने गीता जानना चाहते हैं । बिना कृष्ण को प्रकट किए ही गीता-ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहते हैं । अर्जुन तथा कृष्ण के शिष्य एवं गुरु के रूप में मिलन होने पर ही, गीता-ज्ञान प्रकट होता है । दोनों में से एक के भी नहीं होने पर, यह ज्ञान भी आवरण-युक्त अवस्था में गुप्त ही रहता है । प्रायः न अर्जुन समान शिष्य होता है, न कृष्ण समान गुरु, फिर गीता-ज्ञान कैसा ? गीता-ज्ञान पुस्तकों या टीकाओं से नहीं मिल सकता, प्रवचनों तथा सत्संग से उपलब्ध नहीं होता, चिन्तन-मनन तथा साधन से भी नहीं मिल

सकता । अन्दर के सोए अर्जुन को जाग्रत करना होगा, अन्तर में अप्रकट कृष्ण को प्रकट करना होगा, तभी अन्तर में गीता-ज्ञान प्रकट होगा ।"

दूसरे दिन गंगा-स्नान के लिए गए महाराजश्री तथा अन्य भक्तगण, गंगा किनारे रेत पर बैठे थे । किसी ने प्रश्न किया, "एक समय एक ही भाव मन में उदय हो सकता है, या क्रोध होगा या प्रेम, या उदारता होगी या संकुचितता, या विवेक होगा अथवा मोह । दोनों भाव एक साथ कैसे हो सकते हैं ?"

उत्तर– हो सकते हैं । यदि एक ही भाव मन में हो, तब तो कोई बात नहीं, किन्तु आप सबका अनुभव है कि कई बार आप दुविधा में पड़ जाते हैं । दुविधा का अर्थ ही है दो भावों का मन में एक साथ उदय होना । तब आपको समझ नहीं आती कि कौनसे भाव को अपनाऊँ । जगत की ओर जाना ठीक है कि अध्यात्म की ओर जाना उचित है ? आप इस स्थिति को ऐसे व्यक्त करते हैं कि एक मन यह कहता है, दूसरा मन वह कहता है, जबकि मन एक ही है, जिसमें दो भाव एक साथ उदय हो गए हैं । दुविधा में पड़े व्यक्ति को ही मार्गदर्शक की आवश्यकता होती है । जब मन में पाप तथा पुण्य का द्वन्द्व चल रहा हो, वही समय दीक्षा के लिए उपयुक्त होता है । जगत-व्यवहार में भी कई बार मनुष्य दुविधा ग्रसित हो जाता है तथा अध्यात्म में भी । एक ओर जगत खेंचता है तो दूसरी ओर अध्यात्म आकर्षित करता है । कई बार ऐसा भी होता है, कि मनुष्य जाना तो अध्यात्म की ओर चाहता है, किन्तु अपने कर्त्तव्य का निर्णय नहीं कर पाता, क्योंकि आसक्ति छद्म वेष में, विवेक का आवरण ओढ़ कर भ्रमित करती रहती है ।

प्रश्न– दुविधा तो समाप्त हो ही जाती है, इधर या उधर, कुछ तो मन निर्णय ले ही लेता है, इसमें समस्या की क्या बात है ?

उत्तर– समस्या उचित तथा कल्याणकारी निर्णय की है । मन अनुचित निर्णय भी ले सकता है, जबकि साधक यह चाहता है कि उसे ऐसा निर्णय लेने में कोई सहायता करे, जो उसे अध्यात्म की ओर आगे ले जाए । साधक की समस्या यह है कि वह जाना तो अध्यात्म की ओर चाहता है, किन्तु बीच-बीच में मोह उत्पन्न होकर दिशा बदलने का प्रयत्न करता है । अर्जुन को सुख-भोग की चाह नहीं थी, वैराग्यवान था, प्रेय उसका मार्ग नहीं था, फिर भी बंधु जन उसे प्रिय थे । मोह ने उसकी इसी दुर्बलता का लाभ उठाया । अर्जुन मोह ग्रसित हो गया, दुविधा में पड़ गया ।

(५८) गीता, प्रथम अध्याय

दूसरे दिन गीता पर चर्चा का आरंभ एक सज्जन ने एक प्रश्न से किया, गीता-ज्ञान का अधिकारी कौन है ?

उत्तर– गीता-ज्ञान का अधिकारी वही व्यक्ति है जो विषादयुक्त हो । विषाद तथा विक्षेप के अन्तर के बार में मैं कल चर्चा कर चुका हूँ । वैसे तो हर व्यक्ति जो अध्यात्म की ओर जाना चाहता है, इसका अधिकारी है, किन्तु वास्तविक अधिकार वैराग्य होने के पश्चात् ही स्थापित होता है । गीता के अधिकार निर्णय के लिए हमें अर्जुन की चित्त स्थिति को समझना होगा, क्योंकि वह इसका अधिकारी था तथा उसे गीता ज्ञान प्राप्त भी हुआ । भगवान ने दुर्योधन को उपदेश नहीं दिया क्योंकि उसका चित्त विक्षिप्त था । जब भगवान शान्ति-दूत बनकर हस्तिनापुर गए थे तो उन्होंने दुर्योधन को समझाने का कुछ प्रयत्न भी किया, परन्तु दुर्योधन पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ । सच ही कहा है कि जो समझना नहीं चाहता, उसे भगवान भी नहीं समझा सकता । अर्जुन का चित्त विषादयुक्त था, समझना चाहता था, इसीलिए भगवान् के शरणागत हुआ था । जितेन्द्रिय तथा वैरागी था, उपदेश के लिए तैयार था । भूमि नरम तथा हल चली हुई थी, भगवान ने बीज डाल दिया ।

प्रश्न– किन्तु दूसरे पाण्डव भी वैराग्यवान एवं जितेन्द्रिय थे फिर केवल अर्जुन को ही गीता-ज्ञान क्यों प्रकाशित किया ?

उत्तर– क्योंकि केवल अर्जुन को ही विषाद हुआ था ।

प्रश्न– इसका अर्थ यह हुआ कि गीता पर जो इतनी टीकाएँ लिखी गई हैं, सब व्यर्थ हैं । जब ज्ञान अन्दर से प्रकट होता है तो गीता की भी क्या आवश्यकता ?

उत्तर– विषादावस्था मनुष्य के जीवन में कई बार उदय होती है, किन्तु वह उसका लाभ नहीं उठा पाता । धर्म संकट उपस्थित होने पर जगत की ओर खिसक जाता है । गीता-ग्रन्थ तथा इस पर लिखी गई टीकाओं के सतत् अध्ययन एवं अन्य साधनाओं के अनुष्ठान तथा कर्मयोग के निरन्तर अभ्यास से उसकी चित्त अवस्था, विषाद का लाभ उठा पाने में सक्षम हो जाती है । हमने गीता के अठारहों अध्यायों पर एक-एक श्लोक लिखा है । प्रथम अध्याय का श्लोक इस प्रकार है—

विषादेऽपि स्थितो योगी, गीताऽध्ययन तत्परः ।
मुच्यते शोक सन्तापात्-शान्तिमाप्नोति शाश्वतम् ॥

योगी यदि विषाद में भी स्थित हो जाय किन्तु गीता के अध्ययन में तत्पर बना रहे, तो वह शोक तथा संताप से मुक्त हो जाता है तथा शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है । गीता के सात सौ श्लोक हैं, अट्ठाईस सौ चरण अर्थात् सूत्र हैं, जिनमें समस्त ज्ञान पिरो दिया गया है । सामान्य जन के लिए उसे समझ पाना कठिन है । इसलिए विद्वानों ने उस पर टीकाएँ लिखकर, विषय को सरल करने तथा समझाने का प्रयत्न किया है, किन्तु कुछ विद्वानों ने इतने परस्पर विरोधी विचार प्रकट किए हैं कि और भी अधिक दुविधा खड़ी हो जाती है तथा मनुष्य उसी में उलझ कर रह जाता है । प्रायः वह गीता के साहित्यिक एवं शाब्दिक अर्थों में

ही भटकता रहता है तथा अपने मन का अध्ययन करना भूल जाता है जिसके लिए गीता-ज्ञान प्रकाश-स्तम्भ के समान है । यदि मनुष्य गीता को पहले स्वतंत्र रूप से समझने का प्रयत्न करे एवं तत्पश्चात् टीकाएँ देखे तथा जो बात अच्छी लगे उसे अपना ले, तो उसका जीवन पलट सकता है । इस श्लोक में गीता-ज्ञान का अधिकारी योगी अर्थात् वैराग्य सम्पन्न साधक को बतलाया गया है ।

(५९) अकस्मात् क्रिया का आरंभ : गीता, दूसरा अध्याय

देहरादून के एक सेवानिवृत्त कर्नल साहिब थे, शुद्ध संसारी, अध्यात्म से कुछ लेना देना नहीं । एक दिन बैठे-बैठे उन को क्रियाएँ आरंभ हो गईं, अत्यन्त वेगवान । रोक पाना प्राय: असंभव । बहुत प्रयत्न करते किन्तु सब बेकार । लोगों ने कहा कि उन्हें पागलपन का दौरा पड़ता है तो कर्नल साहिब ने कहा कि मुझे आवेश में सब होश रहता है, फिर पागलपन कैसा ? डॉक्टरों को दिखाया तो वे भी कुछ निदान न कर सके । ऋषिकेश के एक सज्जन, उनके मित्र थे । उन्हें मिले तो अपनी अवस्था कह सुनाई । वह सज्जन मन में सब समझ गए तथा देवास में महाराजश्री को पत्र लिखने का परामर्श दिया । महाराजश्री ने उत्तर में लिखा कि वे ऋषिकेश आ रहे हैं, वहीं मुझे मिलें ।

महाराजश्री के ऋषिकेश पहुँचने पर उन सज्जन ने कर्नल साहिब को सूचित कर दिया । एक दिन वे दर्शन करने के लिए आ गए । परिचय के पश्चात् अपनी समस्या प्रकट की - "महाराजजी ! मुझे पता नहीं क्या होता है । बैठे-बैठे एक आवेश आता है तथा मैं नाचने, कूदने, काँपने तथा रोने लगता हूँ । नियंत्रित करने का प्रयत्न करता हूँ तो कर नहीं पाता । लोग कहते हैं कि पागलपन का दौरा है तो और भी डर जाता हूँ ।" तब तक महाराजश्री देख चुके थे कि कर्नल साहिब को कुछ नहीं हुआ, यह सब शक्ति जाग्रति के लक्षण हैं, पर यह लोग समझ नहीं पा रहे हैं । समझ भी नहीं सकते, क्योंकि इनको कुछ पता ही नहीं है ।

महाराजश्री ने कहा, "कर्नल साहिब ! यह आपकी बीमारी नहीं, यह आपका का सौभाग्य है । यह सब शक्ति जाग्रति के लक्षण हैं जो किसी जन्म के पुण्य कर्मों का ही फल है । आप इन लक्षणों से घबरा रहे हैं जबकि तपस्वी, योगी तथा भक्त, सभी इस के लिए तरसते हैं । मैं आप को विश्वास दिलाता हूँ कि आप को कोई व्याधि नहीं है । आप शारीरिक एवं मानसिक रूप से पूर्णतया स्वस्थ हैं । आपकी शक्ति अन्तर्मुखी होकर, क्रियाशील हो गई है । इन बातों की जानकारी के अभाव में आप को भ्रम हो गया है ।"

प्रश्न– किन्तु लोग कहते हैं कि यह पागलपन है । डॉक्टर लोग भी कुछ गोल-मोल बात ही करते हैं तथा मुझे दुविधा में डाल देते हैं ।

उत्तर– यह डॉक्टरी का विषय है ही नहीं। डॉक्टर केवल शारीरिक स्तर पर ही परीक्षा कर सकता है। अन्तर के संस्कार तथा शक्ति की क्रियाओं का उनको क्या पता ? लोग भी अज्ञानता के कारण ऐसा कहते हैं। शक्ति की जाग्रति अध्यात्म पथ का एक महत्त्वपूर्ण मोड़ है।

प्रश्न– किन्तु महाराजजी ! मेरे जीवन में आध्यात्मिकता का कभी कोई स्थान रहा ही नहीं। खाना-पीना तथा मौज-मस्ती करना। न कभी कोई पूजा-पाठ, न जप-कीर्तन, न ही कोई अध्ययन। फिर यह आध्यात्मिकता कहाँ से प्रकट हो गई ! न ही गुरु है ?

उत्तर– वर्तमान जीवन-यात्रा, सतत् चलने वाली जन्म-मरण की यात्रा का ही एक भाग मात्र है। किसी जन्म में, जीव के मन में अध्यात्म प्रबल होता है तो किसी जन्म में उसके प्रति पूर्ण उदासीनता। किसी जन्म में आपने अवश्य ही कठोर तप किया होगा। शक्ति की जाग्रति भी प्राप्त की होगी तथा अति उग्र क्रिया भी प्रकट हुई होगी। फिर आपके पाप कर्म उदय हो गए, आप साधन विमुख हो गए, क्रिया भी अप्रकट हो गई। आप शुद्ध संसारी बनकर रह गए। यह क्रम इस जीवन में भी चलता रहा। जीवन के साठ वर्ष व्यतीत हो गए। आप में संस्कारों की स्थिति फिर बदल गई। शक्ति जाग्रति के लक्षण, क्रियाओं की उग्रता, फिर दिखाई देने लगे। संस्कार बदलने के साथ जीवन क्रम भी बदल जाता है। सारा ज्ञान आपके अन्दर होते हुए भी, आप इससे अंजान थे।

प्रश्न– तो यह पागलपन नहीं है ?

उत्तर– एकदम नहीं। पागलपन में मानसिक विकृत्ति का वेग आता है। उस वेग में मनुष्य स्वयं नहीं जानता कि वह क्या कर रहा है। आपको मानसिक विकृति का नहीं, शक्ति का आवेश होता है तथा मन स्वस्थ बना रहता है। उग्रता के कारण आपका नियंत्रण अवश्य शिथिल हो जाता है जो कि होना नहीं चाहिए, किन्तु आपको पता सब रहता है कि आप क्या कर रहे हैं। यही पागलपन तथा क्रिया में अन्तर है।

फिर महाराजश्री ने एक देवात्म शक्ति तथा एक शक्तिपात, यह दो पुस्तकें उन्हें दीं तथा महायोग विज्ञान की भी एक प्रति खरीद लेने के लिए कहा। फिर बोले, इनके अध्ययन से आप जान जाओगे कि ऐसा भी होता है। होता है तो क्यों होता है तथा ऐसा होने का प्रयोजन क्या है। तब आप का भ्रम निवृत्त हो जाएगा। फिर आगे देखा जाएगा कि क्या करना है।

सायंकाल का समय हो गया था। महाराजश्री घूम कर लौट आए थे। गीता पर सत्संग का समय हो गया था। सत्संग तो कई दिन चला। सत्संग से दूसरे समय में भी चर्चा चला ही करती थी। कुछ स्मृतियों के धुंधला पड़ जाने के कारण तथा कुछ पुस्तक के सरलीकरण को ध्यान में रखते हुए अत्यन्त कठिन स्थल हटा दिए गए हैं, यथा संभव उन्हें

सरल भाषा में देने का प्रयत्न किया गया है, क्योंकि यह पुस्तक सामान्य साधकों-पाठकों को ध्यान में रखकर लिखी गई है ।

महाराजश्री ने कहना आरंभ किया, "गीता के दूसरे अध्याय से संबंधित, हमने जो श्लोक लिखा है, वह इस प्रकार है—

कर्मणा बध्येते जीवः, कर्मणा मुच्यते हि सः ।
कर्मसु कौशलं योगं, साख्य तत्त्वं भजे सदा ।।

"सच भी है, कर्म ही जीव को बंधन में डालता है, कर्म ही जीव को बंधनमुक्त भी करता है । कुशलतापूर्वक कर्म करना ही योग है । इसके लिए जीव को ज्ञान-तत्त्व का भजन तथा कुशलतापूर्वक कर्म ही करना चाहिए ।

"सर्वप्रथम यह समझना आवश्यक है कि कुशलतापूर्वक कर्म है क्या ? कर्म करते हुए कर्म के बंधन में न आना कुशलता है । कर्म करते हुए भी अकर्मी बने रहना कुशलता है । कर्म करते हुए भी संस्कार संचय न करना कुशलता है । कर्म करते हुए भी उसमें आसक्त नहीं हो जाना कुशलता है । कर्म-फल से सुखी-दुःखी नहीं होना कुशलता है । कर्त्तव्य कर्म ही करना, अकर्त्तव्य नहीं करना कुशलता है । अपना हित त्याग कर भी, दूसरों का हित करना कुशलता है । विपरीत परिस्थितियों में भी मन को संतुलित बनाए रखना कुशलता है । अनुकूल परिस्थितियों में मन को अभिमान से बचाए रखना कुशलता है । सामान्यतया किसी कार्य को सुन्दर ढंग से कर देना ही कुशलता कहा जाता है किन्तु गीता का कुशलता का भाव भिन्न है । संसार में प्रायः जगत, शरीर, कर्म करने के ढंग तथा कर्म-फल के आधार पर कुशलता का निर्णय किया जाता है, क्योंकि दृश्यमान शरीर ही दृश्यमान संसार के समक्ष होता है । उसी की क्रियाओं के आधार पर कर्मों की कुशलता की कल्पना करता है । वह नहीं जानता कि शरीर तथा मन केवल माध्यम हैं, कर्त्ता नहीं । वह मन के भावों-संकल्पों के अनुरूप ही क्रियाशील होता है । कुशलता का माप-दण्ड तो मानसिक स्तर पर ही आँका जाना उचित है । सुख-दुःख या मान-अपमान को मन ही अनुभव करता है । आसक्ति, मोह या घृणा-द्वेष भी मन में होता है । ईश्वर के प्रति समर्पण भी मन से होता है । कर्मों के प्रति आसक्त-अनासक्त भी मन ही होता है ।

"अकुशल कर्म बंधन-कारक है, कर्त्तापन का भाव है, संस्कार संचय का कारण है, आसक्तियुक्त है, कर्म-फल का प्रभाव है, अकर्त्तव्य तथा स्वार्थ है । अकुशल कर्म जगदाभिमुखी है, अध्यात्म विरोधी है, वासना का जन्मदाता है । उसमें अकल्याण ही अकल्याण है । इसीलिए भगवान कृष्ण कहते हैं कि कुशलतापूर्वक किया गया कर्म, जीव के लिए मुक्ति प्रदाता है, जबकि अकुशलतापूर्वक कर्म, जीव के बंधन का कारण है ।

"जीव तथा जगत के परस्पर संबंध को जोड़ने वाली कड़ी का नाम है आसक्ति । यदि यह आसक्ति रूपी कड़ी बीच में न हो तो जगत में रहते हुए भी जीव जगत् से परे है । कर्म करते हुए दिखाई अवश्य देता है किन्तु वास्तव में वह अकर्मी होता है । आसक्ति रूपी गाँठ ही, रस्सी के दो सिरों को जोड़ती है, दोनों सिरे जुड़े होने पर भी, दोनों का पृथकत्व बना रहता है पर ऐसा भाव उत्पन्न हो जाता है कि हम एक हैं । जीव तथा चित्त के एकत्व का भाव, मन तथा शरीर के एकत्व का भाव, मन तथा जगत के एकत्व का भाव, शरीर तथा जगत के एकत्व का भाव । यह भाव उभरते-विलीन होते रहते हैं, फिर उसके स्थान पर एकत्व का कोई दूसरा भाव आ जाता है परन्तु गठान पड़ी रहती है । जीव भावों की भूल-भुलैयों में ही उलझा रहता है । अकुशलतापूर्वक कर्म करता रहता है तथा शक्ति, प्रसव-क्रम में प्रवाहित बनी रहती है, यही जीव की विडम्बना है । जीव को सुख शान्ति के लिए घर की ओर, अन्तर की ओर मुड़ना ही होगा ।

"वास्तविक घर की ओर यात्रा तो तभी आरंभ होती है जब शक्ति अन्तर्मुखी प्रवाहित होने लगती है । कर्मयोग अर्थात् कुशलतापूर्वक कर्म तथा अन्य सभी साधनाएँ उसी की तैयारी हैं । शक्ति अन्तर्मुख होने में सबसे बड़ी बाधा प्रारब्ध है जो कि अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ उपस्थित करता रहता है । जीव भी आसक्ति के कारण प्रभावित होता है तथा अकुशलतापूर्वक कर्म करता है जिससे प्रारब्ध-निर्माण के क्रम के टूटने का अवसर ही नहीं आता । कुशलतापूर्वक कर्म, प्रारब्ध टूटने का आरंभ है । यही कर्मयोग है, यही कर्त्तव्य-पालन है, यही सेवा-भाव है ।

"कुशलतापूर्वक कर्म ही स्थितप्रज्ञता या बुद्धियोग प्राप्त करने का मार्ग है । अकुशलता का यह अर्थ कदापि नहीं कि जीव में कुशलता है ही नहीं । जीव स्वभावतः कुशल है, पर उसने अकुशलता का आवरण ओढ़ लिया है । कुशलता प्राप्त करने के लिए अभ्यास नहीं किया जाता, वरन् अकुशलता का आवरण हटाने के लिए किया जाता है । कुशलता तो जीव का स्वभाव है जबकि अकुशलता अस्वाभाविक । कुशलतापूर्वक कर्म, जीव के स्वाभाविक गुण को प्रकट करने का ही प्रयत्न है ।

"प्रारब्धवशात् उदय होने वाले सुख-दुःख को सहन करने तथा मनः स्थिति को समावस्था में बनाए रखने की क्षमता कुशलशीलता ही प्रदान करती है । कुशलशीलता या दक्षता ही प्रारब्ध-क्षय का कारण है । सहनशीलता, संतोष, क्षमाशीलता तथा उदारता का कुशल-कर्म से घनिष्ठ संबंध है, जिनके अभाव में मनुष्य कर्म-कुशलता प्राप्त नहीं कर सकता है । यदि स्वभाव में उग्रता हो तो साधक कभी भी सहनशीलता या क्षमाशील नहीं हो सकता । क्रोध या प्रतिशोध की भावना भी कुशलता में बाधक है, क्योंकि तब व्यक्ति मन का संतुलन खो देता है ।

"शंकाशीलता भी कर्मकुशलता को प्रभावित करती है । शंकाशील मनुष्य हर वस्तु, व्यक्ति तथा परिस्थिति को शंका की दृष्टि से देखता है । उसका चित्त हर समय चंचल, भयग्रस्त तथा जगदाभिमुख बना रहता है । कुशलता की ओर से हट जाने तथा जगत के प्रति आसक्त होने से, अकुशलता का विकास हो जाता है ।

"चित्त में संस्कारों के रूप में रहने वाला जगत तथा दृश्यमान जगत के साथ संयोग, जीव की कुशलता में बाधक है । जगत को एक ऐसी नदी की उपमा दी गई है जिसके पाँच उद्‌गम, पाँच धाराएँ तथा पाँच ही भँवर हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध से संबंधित भोगों के संस्कार ही पाँच उद्‌गम हैं । पाँच कर्मेन्द्रियों द्वारा किए गए कर्म, नदी की लहरों के समान हैं जिनका कारण पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । पाँचों विषय पाँच भँवर हैं । इस नदी की लहरों तथा भँवरों में डूबा व्यक्ति ही अकुशल होता है । वह काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा मद की लहरों में डूबता रहता है । कभी किनारे पर आने की इच्छा भी करता है, तो नहीं आ पाता, क्योंकि तब तक अगली लहर आकर, बहा ले जाती है । कुशलता का अर्थ है, नदी को तैर कर पार कर जाने की क्षमता ।

"यथार्थ ज्ञान तो कालान्तर में अन्तर से उदय होगा, जो सदा के लिए जीव को जन्म-मरण से मुक्त कर देगा, किन्तु इस आन्तरिक यात्रा का प्रथम पड़ाव बुद्धियोग, स्थितप्रज्ञता या चित्त की संतुलित अवस्था है, जिसके लिए बौद्धिक ज्ञान सहायक होता है । यह ज्ञान पठन-पाठन, चिन्तन-मनन, सत्संग अथवा भजन-गायन से प्राप्त हो सकता है । इससे मन की शंकाओं की निवृत्ति, हृदय में उत्साह, प्रभु चरणों में श्रद्धा तथा मार्गदर्शन मिलता है । यह सब साधना आणवोपाय के अन्तर्गत् ही होती है । यदि साधक को कर्म-बंधन में न उलझने की युक्ति पकड़ में आ जाए, तो बड़े भारी दुःख से छूट जाता है । इसमें अपने चित्त को एक अवस्था विशेष में लाने का यत्न है, किन्तु यह अवस्था आगे की आन्तरिक यात्रा के लिए आधार है । चित्त के संतुलित हो जाने का अर्थ है जगत का महत्व समाप्त । यही अवस्था ध्यान-धारण के लिए आवश्यक है । जगत में घटित होने वाले परिणामों में नित्य-स्थिर तत्त्व की खोज कर पाना, इस अवस्था को प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही संभव हो पाता है ।"

घर के एक ओर गंगाजी थी किन्तु पीछे की ओर सड़क थी तथा सड़क के पार अन्य मकान थे । उन मकानों में कुछ लोग आपस में ऊँचे-ऊँचे झगड़ रहे थे, कुछ गालियाँ भी बक रहे थे, इतने में लाठियाँ चलने तथा चीखने-चिल्लाने की आवाजें आने लगीं । एक कुहराम सा मच गया । इसलिए सत्संग बन्द हो गया । इतने में कुत्तों के भौंकने की आवाजें आने लगीं । संभव है कोई विदेशी कुत्ता दूसरे दल में जा घुसा हो ।

प्रश्न- ऐसी क्या बात है कि जीव छोटी छोटी बात पर झगड़ने लगता है ?

उत्तर– प्रश्न छोटी या बड़ी बात का नहीं है । प्रश्न यह है कि किस बात को कोई कितना महत्व देता है । यदि महत्व अधिक दे दिया जाए तो छोटी सी बात भी, बहुत बड़ी हो जाती है । फिर अभिमान उठ खड़ा होता है, क्रोध भी साथ हो जाता है । इस प्रकार झगड़ा आरंभ हो जाता है । अधिकांश झगड़े सहनशीलता की कमी के कारण होते हैं । दूसरा पक्ष भी अभिमानवश सहन नहीं कर पाता, इस प्रकार बात बढ़ जाती है ।

प्रश्न– किन्तु झगड़े तो पशुओं में भी होते हैं ।

उत्तर– पशुओं के अधिकांश झगड़े खाने की वस्तुओं को लेकर होते हैं । पशुओं में मान-सम्मान का भाव नहीं होता । उनमें किसी बात की लम्बी सोच भी नहीं होती । उनका लोभ प्रायः खाने की वस्तुओं तक सीमित होता है । उसी के लिए झगड़ते हैं । पशु-पक्षियों में भी स्वभावतः अपने बच्चों के प्रति मोह होता है । कुतिया के जब बच्चे पैदा होते हैं, तो भूख एकदम लगती है । दो-तीन बच्चों का नाश्ता कर लेती है । बाकी बचे बच्चों के प्रति उसमें मोह जाग जाता है । फिर बच्चे को कोई नुकसान पहुँचाने की चेष्टा करे तो लड़ने के लिए तैयार हो जाती है ।

(६०) स्थितप्रज्ञ के लक्षण-१

अगले दिन महाराजश्री ने कुशलतापूर्वक कर्म से सम्पादित, स्थितप्रज्ञ की व्याख्या, गीता के दूसरे अध्याय के अन्तिम अठारह श्लोकों के आधार पर की तथा स्थित प्रज्ञ के लक्षण बतलाए । "कुशलतापूर्वक कर्म करते-करते जब प्रारब्ध क्षय हो जाता है, सभी कामनाएँ-वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं, जगत प्रभु की लीला मात्र दिखाई देता है, मनुष्य अपने मन में अन्तर से ही प्रसन्नता का अनुभव करता है, तो समझना चाहिए कि बुद्धि अब स्थिरता धारण कर चुकी है । आत्मतुष्टि का बाह्य आधार समाप्त हो जाता है, अर्थात् उसका सुख किसी विषय के निमित्त से नहीं होता ।

"इस उपरोक्त आन्तरिक सुख को समझ पाना, संसारी मनुष्य के लिए कठिन है, क्योंकि बिना बाहरी सुख के वह सुख की कल्पना कर ही नहीं सकता । जगत के सुख-भोगों को ही सुख का आधार समझे बैठा है । वह यह नहीं जानता, कि जिसे वह सुख समझता है, वह सुख की छाया-मात्र है, किन्तु जब तक बाहर की ओर खुलने वाला द्वार बन्द नहीं होता, तब तक अन्तर की ओर का द्वार नहीं खुलता । आसक्ति रहित होकर कुशलतापूर्वक कर्म, अन्तर की ओर खोलने का उपाय है ।

"स्थितप्रज्ञ प्रतिकूल परिस्थितियाँ समक्ष उदय होने पर, विचलित नहीं हो जाता । अनुकूलता, सुख, इच्छित परिस्थितियों की कामना नहीं करता । राग, भय तथा क्रोध से मुक्त व्यक्ति को ही स्थितप्रज्ञ कहा जाता है, अन्यथा मन की निर्मलता का अर्थ ही क्या रहा ?

उद्विग्न हो जाने पर ही तो क्रोध आता है । किसी वस्तु के वियोग की संभावना होने पर भय होता है । यही मलीनता के लक्षण हैं । निर्मलता हो जाने पर स्थिरता प्रकट हो जाती है ।

"जिस प्रकार कछुआ, अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ मनुष्य की इन्द्रियाँ भी, अपने-अपने विषयों से हटकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं । इस अवस्था को योग-मार्ग में प्रत्याहार कहा है, अर्थात् इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का त्याग कर देती हैं । इस अवस्था में साधक जगत विषयों से हट जाता है । तभी अध्यात्म की सच्ची भूख जागती है तथा ईश्वर के विरह की अनुभूति होती है । तभी आन्तरिक साधना आरंभ हो जाती है ।

"यह स्थितप्रज्ञता स्वाभाविक होना चाहिए । अस्वाभाविक रूप से अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने से भले ही इन्द्रियाँ विषयों का अस्थाई रूप से त्याग कर देती हैं, किन्तु विषयों का रस अन्दर ही अन्दर बना रहता है, जो अनुकूल समय आने पर, वासना के रूप में प्रकट हो जाता है । जब तक अन्तर में विषयों के संस्कार शेष हैं तब तक इन्द्रियों को दबा कर, अस्थाई संयम ही प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु यदि चित्त पूर्णतया निर्मल हो जाए तो जहाँ एक ओर तत्व लाभ होता है, वहीं विषयों के प्रति लालसा भी समाप्त हो जाती है ।"

दूसरे दिन दोपहर को कर्नल साहिब देहरादून से आ गए थे । उन्होंने दिन-रात एक करके पुस्तकों का अध्ययन कर लिया था । आकर कहने लगे, "महाराजजी, आप की दी हुई पुस्तकों के पठन से मन की सारी शंका जाती रही । अभी तक मुझे ज्ञात ही नहीं था कि ऐसा भी हो सकता है । मजे की बात तो यह है कि मुझ में क्रियाओं के नियंत्रण का विकास भी होने लगा है । अब तक तो समझता ही नहीं था कि क्रिया क्या होती है । अब जब साधन में बैठने की इच्छा होती है, तो बैठ जाता हूँ । खूब वेगवान क्रियाएँ होती हैं । जब उठने की इच्छा होती है तो क्रिया बंद हो जाती है । इस परिवर्तन से मेरे सगे-संबंधी भी हैरान हैं तथा उन्हें भी यह विश्वास हो चला है कि यह पागलपन नहीं है, किन्तु यह क्या है ? इसको वह नहीं समझ पा रहे ।"

महाराजश्री ने कहा, "वह समझेंगे भी कैसे ? जब उनको इस विषय की कोई जानकारी या अनुभव ही नहीं है । उनसे समझने की आशा भी कैसे की जा सकती है ? अनुभव तो आप नहीं करा सकते, जानकारी अवश्य दे सकते हैं । इससे उनके मन की रही-सही दुविधा भी समाप्त हो जाएगी । तुम्हारे साधन करने में बाधा भी नहीं डालेंगे । उन्हें पढ़ने के लिए पुस्तकें भी दे सकते हैं ।"

कर्नल साहिब ने कहा, "पुस्तकें पढ़ कर मुझे यह समझ आई कि यह ईश्वरीय शक्ति है, जो अन्तर में क्रियाशील होकर संस्कारों के आधार पर, चित्त तथा शरीर के आधार पर, विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ करती है । किन्तु मेरे तो कोई गुरु नहीं हैं ।"

महाराजश्री ने कहा, "यह तो मैं आपको बतला ही चुका हूँ कि पूर्व जन्म के, जाग्रति के संस्कार हैं तथा किसी कारण आपके अन्तर में क्रियाशीलता रुक गई थी जो इस जन्म में पुनर्जाग्रत हो गई, किन्तु यह पुनर्जागरण अनियंत्रित था । आप समझते हैं कि पुस्तकें पढ़कर ही आप मेंनियंत्रण का विकास हुआ है । आप पिछली बार जब मेरे पास आए थे, उसी समय मेरे अन्तर की शक्ति प्रसारित होकर, आपके चित्त के तादात्म्य में आई थी तथा आप की शक्ति को संयमित कर दिया था । यह अनुभूति संभवतः आपको नहीं हुई, पर मुझे हुई । क्या यह गुरु कार्य नहीं है ? आपका मेरा गुरु-शिष्य संबंध, आपके यहाँ आने पर ही स्थापित हो गया था । हाँ, विधिवत् दीक्षा नहीं हुई ।"

प्रश्न– तो विधिवत् दीक्षा देने की भी कृपा करें ।

उत्तर– विधिवत् दीक्षा तो अब औपचारिकता मात्र है । फिर भी यदि आपकी ऐसी इच्छा है तो मैं देखकर आपको कोई शुभ मुहूर्त बतला दूंगा ।

(६१) स्थित प्रज्ञ के लक्षण-२

सायंकाल को फिर से गीता का विषय आरंभ हो गया, वही स्थित-प्रज्ञ के लक्षण । "कहने कों तो स्थित-प्रज्ञ के लक्षण हैं, किन्तु देखा जाए तो भक्त, ज्ञानी, ध्यानी या गुणातीत, सब के यही लक्षण हैं, जिन्हें विभिन्न ढंगों से कहा गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि गीता में भगवान कृष्ण का प्रयोजन मनुष्य को भगवान से मिलाना नहीं, अपितु जगत बंधन से छुड़ाना है । ठीक भी है, ईश्वर तो सदैव ही प्राप्त है किन्तु जब तक बंधनमुक्त नहीं होगा, यह अनुभव कैसे होगा ? ईश्वर को प्राप्त नहीं करना, केवल ईश्वर प्राप्ति का अनुभव प्राप्त करना है । संभवतः साधक यही भूल कर जाता है तथा अपनी साधना का लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति निश्चित कर लेता है, जगत से आसक्ति को हटाना नहीं । पाँव में वासना-कामना की बेड़ियाँ पड़ी हों, मार्ग झाड़-झंकार, काँटों-पत्थरों से भरा हो, हिंसक पशु सर्वत्र घूमते हों, तो साधक अध्यात्म की कठिन चढ़ाई कैसे चढ़ सकता है ? इसलिए भगवान कृष्ण का सारा जोर, मन पर जगत के पड़ने वाले प्रभाव को समाप्त करना है ।

"भगवान आगे कहते हैं कि यदि कोई मनुष्य बुद्धिमान भी है, उसे उचित- अनुचित का विवेक भी प्राप्त है तथा पूरे प्रयत्न से अपनी इन्द्रियों को वश में भी किए हुए है, किन्तु फिर भी विषयों का आक्रमण होने पर यदि उसका मन तनिक सा भी विषयाभिमुख हो, तो विषय उसके मन को हर ले जाते हैं, इसलिए साधक को सदैव ही सावधान बने रहना होता है । थोड़ा भी असावधान हुआ तो विषय तो पहले से ही उसे घेरने के लिए तैयार खड़े होते हैं, अवसर पाते ही आक्रमण कर देते हैं । इसके लिए भगवान, सदा सावधान रहते हुए योग-युक्त बने रहने की बात करते हैं । पता नहीं कब, किधर से जगत के विषय सिर उठा लें ।

बुद्धि की स्थिरता के लिए, इन्द्रियों का संयत बने रहना आवश्यक है । साधक कभी भी यह न सोचे कि अब वह सिद्ध हो गया है तथा जगत-विषयों का कोई भय नहीं रहा ।

"जो मनुष्य अपने मन में विषयों का ध्यान-चिन्तन करता है, उसके मन का उन विषयों के साथ संग हो जाता है, जिससे उस विषय को प्राप्त करने की कामना पैदा हो जाती है । जब कामना पूरी नहीं होती तो क्रोध आ जाता है, बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, स्मृति का नाश हो जाता है । इस प्रकार मनुष्य का जीवन ही व्यर्थ हो जाता है । मनुष्य जिस भी विषय का विचार करता है, उसी के रंग में रँगा जाता है । सोते-उठते उसी का ध्यान बना रहता है । उसी की कामना, उसी का ध्यान, कभी मोह तो कभी क्रोध । इसलिए यदि चिन्तन करना ही है तो क्यों न जगत की असारता एवं क्षण-भंगुरता का किया जावे ताकि जगत त्याग की भावना-कामना मन में पैदा हो । क्यों न ईश्वर के सद्गुणों का ध्यान किया जाय, ताकि उनको धारण करने की शुभ-वासना पैदा हो । क्यों न संतों के चित्त की निर्मलता का ध्यान किया जाए, ताकि उसके तादात्म्य से साधक का मन भी निर्मलता ग्रहण करे । यदि बुद्धि इन्द्रियों को संचालित करती है तो इन्द्रियाँ भी बुद्धि को दिशा- निर्देश देती हैं । जिस की इन्द्रियाँ, राग-द्वेष से रहित हैं, वह विषयों को भोगता हुआ भी, मन को वश में रखकर स्थितप्रज्ञ रह सकता है ।

महाराजश्री कहते जा रहे थे, मैं बैठा शान्त-चित्त सुन रहा था । मेरे मन के जैसे दो भाग हो गए थे । एक महाराजश्री के प्रवचन सुनने में लगा था, दूसरा हृदय मंथन में । प्रवचन के पश्चात् दोनों मन एक होकर, हृदय मंथन में लग गए । 'मैंने घर त्याग दिया, दीक्षा ले ली, ब्रह्मचर्य की दीक्षा भी ले ली, अब संन्यास भी लेने जा रहा हूँ, किन्तु अभी भी मैं अध्यात्म के यथार्थ तत्व से कितना दूर हूँ ? राग-द्वेष से परे रहने का यत्न अवश्य करता हूँ, फिर भी मन में राग-द्वेष हैं ही । निन्दा भले ही मैं नहीं करता-सुनता, पर दूसरों के दोषों की ओर दृष्टि चली ही जाती है । बाहर से देखने पर मैं जगत में नहीं हूँ, पर जगत मेरे अन्दर घुसा बैठा है । मन अन्दर ही अन्दर चंचल होता रहता है । सोचता तो बहुत कुछ हूँ, पर मन कुछ करने नहीं देता, फिर भला केवल सोचने से ही क्या लाभ ? पहले मन को समझाना होगा, पर कैसे ? उसे यदि समझाने का प्रयत्न किया जाये तो वह बड़ी चतुराई से बच निकलता है । यदि डाँटा जाये तो आगे से आँखें दिखाता है, और भी अधिक उछल-कूद करता है ।

'क्या जगत में, मैं ही एक ऐसा दुविधाग्रस्त हूँ या सारे जगत की यही दशा है ! पर तुम्हें जगत से क्या लेना है ? दूसरों की समस्या से, तेरी समस्या समाप्त नहीं हो जाती । जिस के सामने समस्या है, यदि वह उससे निकलना चाहे, तो उसे उपाय सोचने दो । तुम तो अपनी निबेड़ो । जब मैं निन्दा करने में थोड़ी बहुत रुचि रखता था, तो मैंने देखा कि जिस व्यक्ति की

मैं कई बार निन्दा कर चुका था, वह मेरे से तो बहुत अच्छा निकला । निन्दा करते समय मुझे अपने अवगुणों का भान नहीं रहता था । जब अपनी ओर दृष्टि गई तो देखा कि मेरे दोषों के समक्ष, उसके दोष नगण्य हैं । अभी भी मेरे अन्दर अपने तथाकथित गुणों का अभिमान बार-बार उभर आता था तथा अपने दोषों की ओर से उदासीन था ।'

उग्रता अभी तक पीछा नहीं छोड़ रही थी । देखने में मैं बड़ा शान्त था, किन्तु अंदर से बड़ा उग्र । छोटी सी बात पर अन्दर ही अन्दर तिलमिला उठता था । उस समय ऐसे भाव उदय होते थे कि क्या कर डालूँ । जिनकी उग्रता बाहर प्रकट हो जाती है, देखने में वह बहुत बुरे लगते हैं, किन्तु उनकी उग्रता का वेग निकल जाता है, पर मुझे तो उग्रता अन्दर ही अन्दर खाए जा रही थी तथा मैं उसकी तपश को सहन करने पर विवश था ।

एक बार फिर मेरे सामने प्रश्न खड़ा हो गया कि संन्यास लूँ या नहीं । मुझे अपने अंदर कई कमियाँ दिखाई दे रही थीं । मैं मन के दोषों का एक अखण्ड भण्डार था । कब समाप्त होंगे तथा कैसे समाप्त होंगे यह दोष ? अभी तक तो दोषों का अन्त कहीं दिखाई नहीं देता था । ऐसे में दण्ड धारण कर, नारायण रूप का स्वांग धारण कर, लोगों से प्रणाम करवाते फिरना क्या उचित होगा ? अंदर से हर बार नहीं की ध्वनि ही निकलती थी । किन्तु महाराजश्री की इच्छा का क्या होगा ? उन्होंने भी कुछ सोचा ही होगा । मेरे चित्त की स्थिति से वह अपरिचित तो नहीं ही होंगे । फिर भी उन्होंने मेरे सामने संन्यास का प्रस्ताव रख दिया । एक बार फिर से मन में दुविधा खड़ी हो गई । संन्यास लेना ठीक है या नहीं लेना ठीक है ? अन्त में गुरु-इच्छा के सामने सिर झुकाना ही ठीक समझा । महाराजश्री ने कहा भी था कि अभी तुम्हारा विद्विषा संन्यास है ।

अगले दिन महाराजश्री ने गीता पर आगे बोलना शुरू किया—

"अपना प्रयत्न करना तो ठीक है तथा करना भी चाहिए, किन्तु यह प्रयत्न ईश्वर के शरणापन्न होकर होना चाहिए । स्थितप्रज्ञता प्रयत्न से नहीं, प्रभु-कृपा से प्राप्त होती है। यदि उसको अपने प्रयत्न का फल मान लिया जाए तो अभिमान उदय हो जाने की आशंका है । अतः मनुष्य को जो कुछ भी प्राप्त होता है, सब ईश्वर का प्रसाद ही है । अध्यात्म में जगत-भोगों की प्राप्ति प्रसाद नहीं, उनका त्याग प्रसाद है । त्याग ही प्राप्ति है । त्याग की प्राप्ति में ही मन की शान्ति निहित है । यह प्राप्ति प्रसाद रूप में ही प्राप्त होती है । तब जीव सब दुखों से छूट जाता है तथा मन प्रसन्न रहने लगता है । परिणामतः उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है । जो योग-युक्त नहीं होता, न ही उसकी बुद्धि स्थिर रह पाती है तथा न ही उसमें अध्यात्म-भावना जाग्रत होती है । जो अध्यात्म भावना से शून्य होता है उसे शान्ति कैसे मिल सकती है ?

"भाव यह है कि लोग शान्ति की तलाश में जगत में भटकते हैं, किन्तु जो वस्तु जहाँ है ही नहीं, वहाँ मिले भी कैसे ? जगत सदैव परिवर्तनशील है, इसलिए जगत में स्थिरता नहीं है । स्थिरता में ही शान्ति है, इसीलिए जगत भी शान्ति से शून्य है । शान्ति, जगत का पदार्थ है ही नहीं, मन का है । यदि मन शान्त है तो जगत में भी सर्वत्र शान्ति है ।

"यदि इन्द्रियाँ चंचल हों तो मन भी साथ-साथ भागता फिरता है, तब वह बुद्धि का उसी प्रकार हरण कर लेता है जैसे जल में तैरती नाव को वायु खेंच ले जाती है । अतः जिस की इन्द्रियाँ, विषयों से अप्रभावित बनी रहती हैं, उसी की बुद्धि प्रतिष्ठित होती है ।"

"इन्द्रिय-निग्रह के महत्व तथा आवश्यकता को यहाँ, भगवान समझा रहे हैं । जहाँ मनोनिग्रह का महत्व है, वहीं इन्द्रिय-निग्रह का भी कम नहीं । कभी मन इन्द्रियों को चंचल करता है तो कभी इन्द्रियाँ मन को, इसलिए दोनों के निग्रह की आवश्यकता है । विषयासक्त मन को भगवान ने रात्रि की उपमा दी है । विषयासक्त मन का जगत के भोगों की ओर आसक्त होना, उसके लिए जागना है । जैसे सोते हुए मनुष्य के लिए संसार लुप्त हो जाता है, ऐसे विषयासक्त मन के लिए अध्यात्म भी ओझल हो जाता है । ठीक इसके विपरीत, जो मनुष्य संयमी है, उसके लिए भोगों का आकर्षण रात्रि के तुल्य है तथा अध्यात्म के प्रति सजग बने रहना उसका जागना है । अर्थात् वासना अंधकार है, किन्तु संसारी जीव उसे ही प्रकाश समझता है । जो संयमी है उसे वासना अंधकार ही दिखाई देती है । वह अध्यात्म में रुचि तथा वृत्ति को बनाए रखकर, मन को सावधान किए रहता है तथा प्रकाश की ओर बढ़ता रहता है । जैसे सभी दिशाओं से, जल से भरी नदियाँ समुद्र की ओर प्रवाहित होते हुए, हजारों वर्षों से समुद्र को भरने में लगी हैं, किन्तु समुद्र अपनी सीमा का उल्लंघन नहीं करता, उसी प्रकार जगत के विषय तथा कामनाएँ, चित्त से टकरा-टकरा कर समाप्त हो जाते हैं, किन्तु स्थितप्रज्ञ की बुद्धि सदैव ही अडोल बनी रहती है ।

"जो मनुष्य इच्छाओं-कामनाओं का त्याग करके निस्पृह, ममतारहित, अहंकाररहित हो संसार में व्यवहार करता है, उसे शान्ति प्राप्त होती हैं । इसे ही भगवान ने ब्राह्मीस्थिति कहा है । ब्रह्म भी जगत में सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता । ऐसे ही स्थितप्रज्ञ भी अभिमान रहित, कर्त्ता होकर भी अकर्त्ता, सब व्यवहार करता है ।

"यही कर्मयोग, बुद्धियोग, सेवायोग अथवा कर्म कुशलता कहा जाता है जो कि सभी साधनाओं का आधार है । प्रारब्ध-क्षय के लिए इससे उत्तम साधन दूसरा नहीं । निवृत्ति-परायणता भी, सतत् कर्मयोग के पश्चात् ही आती है । जगत में रहते हुए भी तथा सभी कर्म करते हुए भी, जगत से अतीत बने रहने का रहस्य यही कर्मयोग ही है । यह सभी साधनाओं का प्रवेशद्वार है, उन्हें पुष्ट करता है तथा प्रारब्ध-क्षय के साथ स्वयं भी विलीन हो जाता है ।"

(६२) अदृश्य महापुरुष, गीता, तीसरा अध्याय

दिन के कोई तीन बजे होंगे, महाराजश्री थोड़े आराम के पश्चात् उठकर, अपने आसन पर विराजमान थे । अब याद नहीं कि महाराजश्री के सामने मैं बैठा कौन सी पुस्तक पढ़ रहा था, किन्तु ध्यान पुस्तक में नहीं लग रहा था। महाराजश्री का कथन है कि विन्ध्याचल में अदृश्य महापुरुष निवास करते हैं । उनमें से कुछ के महाराजश्री को दर्शन भी यदा-कदा होते रहते हैं । क्या हिमालय में भी ऐसे अदृश्य-महापुरुष हैं ? यहाँ भी कभी किसी के दर्शन होते हैं क्या ? महाराजश्री ने इस विषय में कभी कुछ कहा नहीं । क्या महाराजश्री ऐसी बातें गुप्त ही रखना चाहते हैं ? यदि ऐसी बात है तो देवास में वह ऐसी बात क्यों करते हैं ? उन महापुरुषों के दर्शन हमें क्यों नहीं होते ? संभवतः हम इस योग्य नहीं होंगे । ऐसे कई विचार अन्तर में घूमते रहे । अन्ततः महाराजश्री से पूछ ही लिया । वह पहले तो जोर से हँसे, फिर एकदम गंभीर होकर बोले,

"अदृश्य महापुरुष यहाँ भी हैं । उनके निवास काफी अधिक ऊँचाइयों पर हैं । स्वतंत्र कुटियाएँ भी हैं तथा आश्रम भी । उन महापुरुषों की भाँति ही, उनके स्थान भी अदृश्य हैं । जिस पर उनकी कृपा होती है, उसे ही दर्शन देते हैं तथा कईयों को अपने स्थान पर भी ले जाते हैं । कुछ तो एक स्थान पर रहकर ही साधन करते हैं तो कुछ इधर-उधर भ्रमण भी करते हैं । उनकी गति अत्यन्त तीव्र है । पल झपकते ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाते हैं ।

"इन महापुरुषों को प्रकट हो जाने, अदृश्य हो जाने, वायु गमन इत्यादि कई प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हैं, जिनका उपयोग केवल साधकों के लाभार्थ ही करते हैं । अपने आपको प्रकट या अदृश्य कर लेना सिद्धि तो है ही, किन्तु यह कितना बड़ा आश्चर्य है कि वे अपने साथ, अपने स्थान को भी अदृश्य या प्रकट करवा सकते हैं। यह उनकी स्वाभाविक अवस्था है, अन्यथा उनका उन्हें कुछ भी अभिमान नहीं है । यदि अभिमान होता तो अपने आपको गुप्त न रखकर, जगत में सिद्धियों का प्रचार करते फिरते । सिद्धियों का सदुपयोग करने तथा उनका प्रदर्शन करने में बड़ा अन्तर है । उनकी सिद्धियों का उपयोग साधकों को खोजने, उनकी आध्यात्मिक समस्याओं को जानने तथा उनके निराकरण में सहायक होने के लिए होता है । ऐसे महापुरुष भाग्य से ही किसी को मिल पाते हैं, क्योंकि प्रायः वह भ्रमण कम ही करते हैं । अधिकांशतः समाधि में ही लीन रहते हैं । उनकी यह सिद्धियाँ मायावी अथवा भूत सिद्धियाँ नहीं, अपितु यौगिक हैं, जो कि उनकी साधना का स्तर मात्र है ।"

प्रश्न– उनकी कुटियाएँ या आश्रम कैसे हैं ?

उत्तर– उनकी कुटियाओं का अर्थ हैं गुफाएँ, प्राकृतिक गुफाएँ । जहाँ किसी भी प्रकार की कोई भौतिक सुविधा नहीं हैं, क्योंकि उन्हें सुविधाओं की आवश्यकता ही नहीं है ।

न बैडरूम, न किचन तथा न ही बाथरूम । आराम करने के लिए समाधि से बड़ा कोई उपाय नहीं, किचन की उन्हें आवश्यकता नहीं क्योंकि वह कुछ खाते ही नहीं । सभी पदार्थ पंच भौतिक तत्त्वों से बने हैं, वह इन तत्वों से सीधे ही शक्ति ग्रहण कर लेते हैं । यह बात वैज्ञानिकों की समझ में आने वाली नहीं है । यह एक यौगिक प्रक्रिया है जिसका संबंध यौगिक-विज्ञान से ही है । यह प्रक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म स्तरों पर घटित होती है । उनके आश्रम का अर्थ है कोई बड़ी गुफा, जिस में पाँच-सात, या कम-अधिक महापुरुष साधनरत् होते हैं ।

प्रश्न– आप को इन बातों का कैसे पता लगा ?

उत्तर– भौतिक शरीर से तो मैं कभी वहाँ नहीं गया, किन्तु सूक्ष्म शरीर से ऐसे स्थानों पर घूमने का अवसर यदा-कदा प्राप्त हो जाता है । एक बार सूक्ष्म शरीर से मैं भ्रमण करता हुआ वहाँ गया, तो पहले तो दो-तीन गुफाएँ दिखीं, जिसमें एक-एक महात्मा का निवास था । फिर एक बड़ी गुफा में गया जिसको हम आश्रम कह सकते हैं । छः महापुरुष वहाँ समाधि मग्न बैठे थे । किसी से कोई बात नहीं हो सकी, क्योंकि सब समाधि में थे ।

प्रश्न– उन्हें हिंसक पशुओं का भय नहीं सताता क्या ?

उत्तर– प्रथम बात तो यह है कि यदि कोई हिंसक पशु गुफां में चला भी आए, वह वहाँ की आध्यात्मिक तरंगों से प्रभावित होकर, हिंसा वृत्ति का त्याग कर देता है । दूसरी बात यह है कि भौतिक नेत्रों से उन महापुरुषों को देखा ही नहीं जा सकता, जब तक कि वह स्वयं अपने आपको किसी के समक्ष प्रकट नहीं करते । पशुओं के नेत्र स्थूल ही होते हैं, इसलिए वह उन्हें देख ही नहीं पाते ।

प्रश्न– हमने तो यह सुना है कि साधकों के सामने, जन्म-मरण कोई समस्या ही नहीं होती । वह एक शरीर का त्याग करते हैं, तो दूसरे जन्म में फिर से साधन में तत्पर हो जाते हैं, जबकि ये महापुरुष हजारों साल की लम्बी आयु में साधनरत् रहते हैं । क्या इन्हें जन्म-मरण से भय लगता है, या एक ही शरीर के प्रति आसक्त हो जाते हैं ?

उत्तर– यह सोचने का एक ढंग है । उन्हें न शरीर से आसक्ति होती है, न जन्म-मरण का भय । वह एक ही लम्बे जीवन में, बार-बार जन्म-मरण का अनुभव करते रहते हैं । यह अनुभव, सामान्य जीव जन्म-मरण से ही प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु अदृश्य महापुरुषों को जीवित अवस्था में ही प्राप्त होता रहता है ।वे जन्म-मरण को अपने से पृथक घटित होता हुआ अनुभव करते हैं तथा उसका आनन्द लेते हैं । सामान्य जीव के मरने पर साधन में व्यवधान आ जाता है, फिर जन्म होने पर पहले शिशु रूप में रहना पड़ता है फिर उसका यह अनुभव भी होता है कि मैं मर रहा हूँ । फिर यदि संस्कार शुभ हों, तभी मनुष्य जन्म प्राप्त होकर साधन आगे बढ़ता है, किन्तु इन महापुरुषों का साधन अनवरत चलता है ।

कई बार किसी प्रयोजन सिद्धि के लिए, इन महापुरुषों में से किसी को जगत में अवतरित भी होना पड़ता है । यह महापुरुष अपने आपको पूर्ण रूप से ईश्वर के आदेश के अधीन किए होते हैं । बिना किसी प्रकार का मन में विचार किए, आदेश का पालन करते हैं । प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर फिर से अपने स्थान पर लौट जाते हैं ।

इनमें से कुछ महापुरुषों का प्रारब्ध, अभी तक भी पूरी तरह क्षीण नहीं हुआ होता । चाहे कितना भी शुभ प्रारब्ध हो, है तो प्रारब्ध ही । इतनी सिद्धियाँ प्राप्त करने पर भी, इतने आनन्द में रहने पर भी, न जाने कब, कौनसा, किस जन्म का दबा हुआ संस्कार उदय हो जाए तथा उसे भोगने के लिए महापुरुष को जगत में आना पड़े । चूँकि उनकी अवस्था बहुत ऊँची होती है, इसलिए वे संस्कार-संचय नहीं करते तथा प्रारब्धानुसार व्यवहार के पश्चात्, वापिस लौट जाते हैं ।

प्रश्न– यह बातें आधुनिक तथा कथित प्रगतिवादी तथा वैज्ञानिक युग को तो स्वीकार्य नहीं हो सकतीं ?

उत्तर– किसी को मनवाने की कोई आवश्यकता भी नहीं । ऐसी बातें सर्वसाधारण में की भी नहीं जातीं, न ही सर्वसाधारण इनका अधिकारी होता है, न उसकी समझ में ही कुछ आता है । उनका चित्त इतना मलीन होता है कि वह जगत को वासनामय ही देख सकते हैं । उनके लिए आध्यात्मिकता विलासिता मात्र है, जिसका जीवन में समय काटने के अतिरिक्त दूसरा उपयोग नहीं । ऐसे लोग यदि इन बातों को मान्य नहीं भी करें तो हमारा क्या बनता-बिगड़ता है ! जो बात सत्य है वह किसी के लाख बार झुठला देने से भी सत्य ही रहती है ।

प्रश्न– किन्तु देवास में तो आपने ऐसी बातें की हैं। क्या वहाँ के लोग अधिकारी हैं ?

उत्तर– मैं देवास में भी ऐसी बातें नहीं करता, किन्तु वहाँ पर आगाशा के कुछ भक्तों के पत्र आने लगे थे, जिससे बात खुल गई तथा मुझे भी थोड़ी करना पड़ी । विन्ध्याचल के अदृश्य महापुरुषों के संबंध में विस्तार से कभी कुछ नहीं कहा । जब कुछ साधकों को उनके अनुभव हुए तो इतना ही कहा कि यहाँ कुछ महापुरुष अदृश्य अवस्था में रहते हैं ।

अब तक मकान के निचले भाग में ठहरे हुए लोग ऊपर आ चुके थे, इसलिए महाराजश्री ने भी यह विषय यहीं समाप्त कर दिया। मैंने भी आगे और कोई प्रश्न नहीं किया ।

सायंकाल गीता प्रवचन का कार्यक्रम आरंभ हुआ तो महाराजश्री ने तीसरे अध्याय का अपना श्लोक पढ़ा—

यस्यानुकम्पया बुद्धिः कर्मपाशैर्विमुच्यते ।
योगेश्वरं हृषिकेशं प्रणमामि पुनः पुनः ।।

"जिसकी अनुकम्पा से बुद्धि कर्मपाश से मुक्त हो जाती है, ऐसे योगेश्वर ऋषिकेश को मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ ।

"दूसरे अध्याय में भगवान कृष्ण ने स्थितप्रज्ञता या बुद्धि योग को सर्वप्रथम प्राप्तव्य बतलाया है । अर्जुन के मन में स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि यदि बुद्धियोग या चित्त की स्थिरता ही उत्तम है तो मुझे युद्धरूपी भयानक कर्म में क्यों धकेला जा रहा है ? यह समस्या प्रायः साधकों के समक्ष आती है । सभी व्यवहार या कर्म की उपेक्षा करके, चित्त की एकाग्रता प्राप्त करना चाहते हैं तो भगवान उसका सीधा उत्तर देते हैं कि यदि कर्म नहीं करोगे तो चित्त की स्थिरता भी कैसे प्राप्त करोगे ? क्योंकि प्रारब्ध से अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती ही हैं । उन परिस्थितियों का सामना करने के लिए, शान्त तथा अनासक्त होकर कर्म करते हुए ही प्रारब्ध को क्षीण किया जा सकता है । इसी से स्थित-प्रज्ञता उदय होती है । यदि परिस्थितियों का सामना नहीं करोगे, तो न मन निर्मल होगा, न बुद्धि स्थिर होगी । इसी बात को आगे चलकर गीता में भगवान ने इस प्रकार कहा है कि प्रवृत्ति से ही निवृत्ति आती है ।

"कर्म किए बिना कर्मातीत अवस्था प्राप्त नहीं होती । यदि कर्मों का त्याग कर दोगे, तो सिद्धि भी कैसे पाओगे ? प्रारब्ध-क्षय का उपाय, प्रारब्ध-फल को सहन करना ही है । कर्म किए बिना कोई रह भी नहीं सकता । सत्, रज, तम, तीन गुणों में से जो भी गुण चित्त में प्रभावी हो, उसके अनुसार जीव कर्म करने में विवश है । आलसी मनुष्य यदि अपनी इन्द्रियों को निष्क्रिय बनाए रखता है तो भी मनोराज्य में विचरण करता रहता है । जो मनुष्य इन्द्रियों को वश में करके, अनासक्त भाव से कर्म करता रहता है वह एक दिन ईश्वर-कृपा से बुद्धियोग का अधिकारी हो जाता है ।

"जो लोग अज्ञानी हैं तथा जिस प्रकार आसक्त होकर कर्म करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी जनों को भी लोक-कल्याण के लिए तथा दूसरों को मार्गदर्शन प्राप्त करवाने के लिए अनासक्त होकर, कर्म करना चाहिए । ज्ञानी को यह भी चाहिए कि वह स्वयं तो अनासक्त कर्म करे ही, किन्तु जो अज्ञानी मनुष्य समझने की मनःस्थिति में नहीं हैं, उन्हें अनासक्त कर्मयोग का उपदेश भी नहीं करें, क्योंकि वे आसक्ति का त्याग तो कर नहीं पाएँगे, कर्म करने का उत्साह अवश्य त्याग कर, निष्क्रिय हो जाएँगे ।"

प्रश्न– मनुष्य पाप कर्म में प्रवृत्त ही क्यों होता है ?

उत्तर– मनुष्य के अन्तर प्रभावी गुण ही उसे पाप या पुण्य करने पर विवश करते हैं। सारा जगत गुणात्मक है, गुणों के अधीन है तथा गुणों से ही परिचालित है। जब अन्तर में तम-रजोगुण का प्रभाव बढ़ जाता है, तो मनुष्य काम-क्रोध-आसक्ति के अधीन हो जाता है।

काम की इच्छा की कभी तृप्ति नहीं होती। कामाग्नि अन्तर में सुलगती ही रहती है। यदि यह कहा जाय कि यह अग्नि बढ़ती ही रहती है तो अत्युक्ति न होगी। जब तक इस वासना के संस्कार तथा मनुष्य तमोगुण-रजोगुण प्रधान अवस्था में रहेगा, यह अग्नि शान्त नहीं होगी। कामेच्छा पूरी न होने पर, विघ्न आ जाने पर, मन की अनुकूलता प्राप्त न होने पर, क्रोध आ जाता है। कामाग्नि की तरह ही क्रोधाग्नि भी, कभी भी भड़क उठती है। काम-क्रोध में मनुष्य आपा खो बैठता है, उचित-अनुचित का विवेक जाता रहता है तथा काम-क्रोध में अंधा बना मनुष्य, कुछ भी अनर्थ कर जाता है। इसलिए काम-क्रोध को अपना महान शत्रु समझो। इनसे बचने का प्रयत्न करो। संस्कारों के रूप में चित्त में इनके कारण को समाप्त करो। इसका निश्चित उपाय सहनशील होकर शान्त मन से, कर्म-फल से अनासक्त होकर, कर्मयोग का अभ्यास ही है। आप यह सब कर सकते हो। मन में से सभी शंकाएँ तथा भ्रान्तियाँ निकाल दो। आप आत्मिक शक्ति के स्वामी हैं, कुछ भी कर पाना आपके लिए असंभव नहीं। ईश्वर का वरद् हस्त आप के सिर पर है।

जिस प्रकार अग्नि के धुएँ से दर्पण मैला हो जाता है उसी प्रकार विकार रूपी अग्नि के प्रभाव से मन भी मलीन हो जाता है। राग से काम तथा द्वेष से क्रोध उत्पन्न होता है। राग से आशाएँ जागती हैं तथा निराशा से क्रोध आ जाता है। काम-क्रोध को जीतने के लिए, राग-द्वेष की वृत्ति का निराकरण ही उपाय है।

प्रश्न– यह मार्ग क्या शक्तिपात् से हटकर है?

उत्तर– नहीं। यह शक्तिपात् के साधन के साथ अभ्यास करने का है। शक्ति जाग्रति के बिना तो अध्यात्म संभव ही नहीं। प्रारब्ध-क्षय का प्रयत्न ही कर्मयोग है। अभी तो भगवान, अर्जुन को बौद्धिक उपदेश ही दे रहे हैं, आगे चलकर शक्ति के प्रयोग से आन्तरिक अनुभूतियाँ कराएँगे। शास्त्र का विस्तार क्रम-क्रम से होता है। आन्तरिक यात्रा बाहर से आरंभ होती है। बाहर रहकर अन्तर की यात्रा की कल्पना ही की जा सकती है।

मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है कि वह संयमी रहकर कर्त्तव्य कर्म करता हुआ, अन्तर में बैठे काम-क्रोध को मार भगाए तथा अध्यात्म का मार्ग प्रशस्त करे।

दोपहर के बाद जब महाराजश्री थोड़ा आराम करके उठते थे, वह समय एकान्त में मिल पाता था। मैंने पिछले दिन की, अदृश्य महापुरुषों की बात को आगे बढ़ाते हुए निवेदन किया, "आप कल अनासक्त कर्म योग की बात कर रहे थे तथा साधक के हेतु इसे आवश्यक बतला रहे थे, किन्तु यह अदृश्य महापुरुष साधन के अतिरिक्त कोई काम नहीं करते?"

महाराजश्री बोले, "बात को समझो। अध्यात्म के नियमों का स्वरूप तथा उनकी आवश्यकता देश काल, अवस्था, परिस्थितियों तथा स्तर के बदलने के साथ बदल जाती है। जो बात प्रारंभिक स्तर पर आवश्यक होती है, वह ऊपर के स्तरों पर अनावश्यक हो जाती है। संसार में पड़े हुए वासनाओं तथा कामनाओं से ग्रसित अशुद्ध चित्त साधक में तथा निर्मल मन, जगत से बहुत ऊपर उठे हुए साधक में अन्तर होना आवश्यक है। जो बात संसारी साधक के लिए अनिवार्य नियम है, उसी नियम की परिधि से, उन्नत साधक बाहर निकल चुका है। अनासक्त कर्मयोग की बात, इन अदृश्य महापुरुषों को लक्ष्य करके नहीं कही गई। ऐसे महापुरुष हैं ही कितने, जबकि जगत बंधन में पड़े हुए जीव अनेक हैं। उन्हीं जीवों के लिए इस नियम का विधान है।"

प्रश्न– इन महापुरुषों को कभी आपने छू कर देखा है ?

उत्तर– मैं तुम्हारा भाव समझ गया। तुम्हें यह शंका है कि अदृश्य महापुरुषों के दर्शन, कहीं साधन का अनुभव मात्र तो नहीं है ? क्या उनकी भौतिक सत्ता तथा अस्तित्व है भी या नहीं। इस शंका का कारण यह है कि जीव भौतिकता में इतना रम गया है कि हर बात को भौतिकता की दृष्टि से ही नापता है। वह भगवान को भी भौतिक स्तर पर उतार लाना चाहता है। स्वयं तो स्थूलता छोड़ना नहीं चाहता, हाँ, सूक्ष्मता का अनुभव स्थूलता के आधार पर अवश्य करना चाहता है।

मैंने छूकर तो कभी नहीं देखा। छूकर देखना शिष्टाचार के विपरीत भी है। मैंने प्रणाम भी उन्हें हर बार दूर से ही किया, किन्तु जब मुझे प्रथम बार ऐसा अनुभव हुआ, तब मेरी दीक्षा हुए थोड़ा ही समय हुआ था। मैंने एक धर्मशाला में एक कमरे की व्यवस्था कर ली थी। ठण्डक का मौसम होने से यात्री कम ही आते थे। धर्मशाला में मैं अकेला ही था, जिससे साधन की खूब सुविधा थी। उन दिनों मुझे हठयोग की क्रियाओं का वेग अधिक था। कई बार सिर के बल उलटा खड़ा होकर तथा पाँव फैलाकर, लट्टू की तरह घुमता था। संभवतः किसी जन्म के हटयोग के संस्कार होंगे। एक दिन साधन में बैठा था। दरवाजा अन्दर से बंद था। सहसा मेरे नेत्र खुल गए तथा वायुमण्डल में से एक लम्बे, हृष्ट-पुष्ट, वृद्ध शरीर, चेहरे पर अलौकिक तेज, महात्मा प्रकट हुए। नंग-धड़ंग, आध्यात्मिक नशे में चूर। उस समय मुझे यह भी ध्यान नहीं रहा कि जब दरवाजा अन्दर से बंद था, यह महात्मा अन्दर आ कैसे गए ! मैंने उठकर प्रणाम किया। उनकी वृद्धावस्था का एकमात्र लक्षण उनके सफेद बाल थे। वह मौन खड़े रहे, मेरी ओर देखते रहे। फिर हाथ के इशारे से मुझे बैट जाने के लिए कहा। मेरे बैठ जाने पर, धीरे-धीरे मेरी ओर बढ़े तथा मेरे सिर पर हाथ रखा। इस तरह मैंने तो उन्हें नहीं छुआ, पर उन्होंने मुझे छू लिया। मैंने अपने सिर पर उनकी उंगलियों का स्पर्श अनुभव किया। मेरे नेत्र बन्द हो गए।

स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर के बाहर निकलने का पहली बार अनुभव मुझे तभी हुआ, यह उन महात्मा का ही कृपा प्रसाद था । मेरा स्थूल शरीर आलती-पालती मारे, आँखें बन्द किए पड़ा था तथा मैं उसे देख रहा था । दूसरी ओर वह महात्मा भी खड़े, मेरे शरीर को निहार रहे थे, फिर वह मेरे सूक्ष्म शरीर की ओर घूमे तथा बिना कुछ बोले ही, हाथ उठाकर मुझे आशीर्वाद दिया । फिर मेरे देखते ही देखते, वायुमण्डल में विलीन हो गये । इस प्रकार पहले मैंने उन्हें स्थूल-शरीर से देखा, फिर सूक्ष्म शरीर से देखा एवं तत्पश्चात् वह सूक्ष्म शरीर के सामने से भी विलीन हो गए । इसका यह अर्थ है कि उनकी स्थिति सूक्ष्म से भी कहीं अधिक सूक्ष्म, सूक्ष्मातिसूक्ष्म थी किन्तु जब चाहते थे तो उन्हें स्थूल नेत्रों से भी देखा जा सकता था, अर्थात् वह अपने-आपको स्थूल-स्तर पर प्रकट कर देते थे । यदि वह चाहते थे तो उन्हें केवल सूक्ष्म शरीर से सूक्ष्म-स्तर पर ही कोई देख पाता था किन्तु जब वह स्थूल तथा सूक्ष्म, दोनों स्तरों से ऊपर सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्तर पर ऊपर उठ जाते थे, तो स्थूल-शरीर से तथा न ही सूक्ष्म शरीर से, उन्हें कोई देख सकता था ।

प्रश्न– जब उनकी स्थिति इतनी सूक्ष्म है तो फिर स्थूल शरीर कैसे धारण कर लेते हैं ?

उत्तर– सामान्य मनुष्य न तो अपनी इच्छा से स्थूल-शरीर धारण कर सकता है, न स्थूल शरीर को छोड़ ही सकता है । यह उसकी विवशता है कि जब तक वह जीवितावस्था में है, तब तक स्थूल शरीर ही उसका घर है । उन अदृश्य-महापुरुषों की यह क्रिया, उनके संकल्प के अधीन है । जब चाहें सूक्ष्म-शरीर से स्थूल-शरीर में आ जाएं, जब चाहे स्थूल-शरीर को सूक्ष्म-शरीर में समेट लें तथा जब चाहें स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों शरीरों को, अति-सूक्ष्म में विलीन कर लें ।

प्रश्न– क्या स्थूलावस्था में उनका शरीर, अन्य भौतिक शरीरों की तरह ही होता है ?

उत्तर– होता तो भौतिक शरीरों की तरह ही है, किन्तु उसमें प्राण-तत्व की बहुत अधिकता होती है । यह कहा जा सकता है कि भौतिक अवस्था में भी उनका शरीर चिन्मय अवस्था के समीप होता है । आकाश-गमन की सिद्धि-प्राप्त साधकों को आकाश गमन से पूर्व, शरीर में वायु की मात्रा बढ़ानी पड़ती है, जिससे उनका शरीर हलका होकर आकाश में उठ जाए, किन्तु इन महापुरुषों को ऐसी क्रिया की आवश्यकता नहीं है । उनका शरीर पहले से ही चिन्मय होता है । जब वह स्थूल शरीर को सूक्ष्म शरीर में विलीन कर लेते हैं, तो एकदम अदृश्य हो जाते हैं ।

योग दर्शन में भी अन्तर्धान होने की सिद्धि का वर्णन है । उसमें योगी अपनी काया के रूप पर संयम करके, देखने वाले की दृष्टि को स्तम्भित कर देता है तथा इस प्रकार उसकी दृष्टि की ग्रहण शक्ति को कार्य करने से रोक देता है, जिससे योगी के शरीर की

उपस्थिति का ज्ञान प्राप्त नहीं होता, किन्तु इन महापुरुषों के अदृश्य होने की क्रिया भिन्न है । यह स्थूल शरीर को ही सूक्ष्म शरीर में विलीन कर लेते हैं जिससे शरीर, स्थूल इंद्रियों की ग्राह्यता से दूर हट जाता है । अभ्यासी योगी का स्थूल शरीर वहीं होता है, किन्तु देखने वाले को दिखाई नहीं देता, जबकि इन महापुरुषों का स्थूल शरीर ही सिमट कर सूक्ष्म शरीर में जा मिलता है ।

प्रश्न– संभवतः इसीलिए इनको भूख नहीं लगती !

उत्तर– हाँ, जब प्राण स्थूल शरीर के आधार पर कार्यशील होता है, तो शरीर की कार्यशीलता के लिए खाने की आवश्यकता होती है । जब शरीर खाने को माँगता है तो उसे भूख कहा जाता है । जब कोई सिद्ध पुरुष प्रायः सूक्ष्म शरीर में ही निवास करे, यदि कभी स्थूल शरीर प्रकट ही करे तो केवल चिन्मय ही, फिर खाने-पीने की आवश्यकता ही क्या ?

प्रश्न– उन महापुरुष के अदृश्य हो जाने के बाद क्या हुआ ?

उत्तर– कुछ देर तो मैं अपने स्थूल शरीर के पास खड़ा रहा, फिर अकस्मात् उड़ने लगा, गंगाजी को पार किया, स्वर्गाश्रम का एक चक्कर लगाया, फिर पहाड़ों को लाँघता हुआ देव प्रयाग जा पहुँचा, गंगाजी में स्नान किया, फिर उसी प्रकार उड़ता हुआ वापिस आया । दरवाजा बन्द होने से स्थूल शरीर प्रवेश नहीं कर सकता, किन्तु सूक्ष्म शरीर को कोई भी बाधा नहीं रोक सकती । मेरा स्थूल शरीर उसी प्रकार आलती-पालती मारे बैठा था । उस की इस अवस्था को समाधि अवस्था भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें उस समय अहम् था ही नहीं, वह तो सूक्ष्म शरीर में स्थित होकर, स्थूल शरीर से पृथक उसे देख रहा था । पर स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर को नहीं देखता था, क्योंकि उसकी इन्द्रियाँ उस समय निष्क्रिय थीं । वैसे भी सूक्ष्म शरीर, स्थूल इन्द्रियों की पहुँच से बाहर है । मैं अपने स्थूल शरीर में प्रवेश कर गया ।

इतने में लोगों के सीढ़ियाँ चढ़ने की आवाज़ें आने लगी थीं, इसलिए अदृश्य-महापुरुषों का विषय आगे नहीं बढ़ पाया । लोगों ने आकर, सत्संग का विषय ही बदल दिया । एक सज्जन ने प्रश्न किया ।

प्रश्न– आपकी कल की सारी बातचीत का यही अर्थ है न कि बिना कर्म किए प्रारब्ध क्षय नहीं हो सकता ?

उत्तर– अर्थ तो यही है पर कर्म तो सभी करते हैं किन्तु प्रारब्ध क्षीण नहीं हो पाता । इसके विपरीत बढ़ता ही रहता है क्योंकि लोग, कर्म उस प्रकार तथा भावना से नहीं करते, जैसे करना चाहिए । आसक्ति तथा अभिमान का त्याग करना नहीं चाहते, विकारों को छोड़ना नहीं चाहते तथा न ही भगवान के लिए कर्म करना चाहते हैं । सेवा तथा कर्त्तव्य का स्वरूप क्या है ? इसको कोई जानता-समझता ही नहीं । साधना के लिए जितने उत्साह, धैर्य,

गंभीरता तथा सहनशीलता की आवश्यकता है, वह किसी में है नहीं, तो फिर प्रारब्ध क्षीण भी कैसे होगा ? समर्पण एवं सेवा-भाव के बिना प्रारब्ध कैसे क्षीण हो सकता है ? कर्म तो सभी करते हैं पर आसक्तियुक्त । प्रायः लोग तो निष्काम का अर्थ, स्वरूप तथा भाव समझते ही नहीं । दान-पुण्य करके भी उसके बंधन में आ जाते हैं । सेवा-साधन करते हुए भी अभिमान बढ़ता जाता है ।

प्रश्न– महाराजश्री, व्यवहार से ऊपर उठकर कोई बात करें !

उत्तर– आप ही लोग व्यवहार से ऊपर नहीं उठ रहे हो । आगे की बातें तो बहुत हैं पर आप व्यवहार से पीछा छुड़ाओ, तब न । आप लोग तो व्यवहार को ऐसे पकड़ के बैठे हो कि छोड़ ही नहीं रहे हो । बात आगे बढ़े भी तो कैसे ?

प्रश्न– तो इसका यह अर्थ हुआ कि जब तक व्यवहार-शुद्धि नहीं हो जाती, साधना आरंभ करने का कोई प्रश्न ही नहीं ?

उत्तर– नहीं ।इसका यह अर्थ नहीं है । व्यवहार-शुद्धि के लिए प्रयत्न तथा साधना, दोनों एक साथ करना होंगे, किन्तु व्यवहार-शुद्धि के बिना अन्दर प्रवेश पाना कठिन है । व्यवहार-शुद्धि का अर्थ है मन को बाहर से अन्दर की ओर धकेलना तथा साधना का अर्थ है मन को अन्दर से अन्दर की ओर खेंचना । दोनों का प्रयोजन एक ही है, मन को अन्तर्मुख करना, किन्तु मन यदि बाहर जगत में ही, कर्म की बेड़ियों में जकड़ा होगा, विषयों तथा आसक्ति में बँधा होगा, तो न बाहर से अन्दर की ओर धकेला जा सकेगा तथा न ही अन्दर से अन्दर की ओर खिंच पाएगा । व्यवहार-शुद्धि व आसक्ति की बेड़ियों को खोलने के लिए ही है, यह है कर्मयोग ।

प्रश्न– आपकी बातों से यह ध्वनि निकलती है कि सब साधन, प्रयत्नसाध्य ही हैं । शक्ति की स्वाभाविक क्रियाओं तथा समर्पण का साधन में कोई स्थान नहीं है ?

उत्तर– नहीं, मेरा यह भाव नहीं है । जब तक अहम् प्रबल है तब तक कर्म करने में प्रयत्न किन्तु फल-प्राप्ति में समर्पण । अन्ततः जब तक अभिमान को मन में समेटे बैठे हो, तब तक वहीं से तो आरंभ करोगे । प्रारब्ध की जो गठड़ी सिर पर लादे घूमते हो, उसे तो उतार कर फेंकना ही होगा । प्रारब्ध का यही चमत्कार है कि यदि तुम उसे घटाओगे नहीं, तो वह बढ़ता जाता है । अभिमान को कम करने तथा प्रारब्ध को घटाने के उपाय का नाम ही कर्मयोग है ।

शक्ति की जाग्रति तो मुख्य है ही । इससे जहाँ एक ओर अभिमान के मिथ्यात्व का अनुभवयुक्त ज्ञान होता है, वहीं चित्त में दबे हुए संस्कारों को उखाड़ फेंकने का अवसर भी प्राप्त होता है जिससे भविष्य में वह प्रारब्ध का रूप नहीं ले पाते, किन्तु समस्या यह है कि साधन के अनुभव को साधक, व्यवहार में भुला देता है तथा व्यवहार करते समय फिर से

अभिमान में लिप्त हो जाता है । जब तक व्यवहार में द्रष्टाभाव को नहीं बना कर रख सकता, तब तक तो अभिमानयुक्त व्यवहार के रूप में परिवर्तन का यत्न करना ही साधक के लिए एकमात्र मार्ग है ।

प्रश्न– एक ओर आप अदृश्य महापुरुषों की उच्च भूमिका की बात करते हैं तो दूसरी ओर सामान्य व्यवहार शुद्धि की, इससे कुछ भ्रम उत्पन्न हो जाता है ।

उत्तर– इसमें भ्रम की तो कोई बात नहीं, यह साधक के स्तर तथा अवस्था की बात है । जैसा जिसका अधिकार होगा, वैसा ही उसका साधन होगा । साधन की निरन्तरता से, साधक की अवस्था भी बदलती रहती है तथा साधन का स्वरूप भी । शक्तिपात् के पश्चात् भी, साधकों की एक जैसी अवस्था कहाँ होती है ? गीता-ज्ञान, विषाद से आरंभ होता है । ज्ञान तथा भक्ति की सुरम्य घाटियों को पार करता हुआ समर्पण पर जाकर समाप्त हो जाता है। गीता का अन्तिम प्रयोजन आत्म-प्राप्ति या भगवत् दर्शन नहीं, समर्पण है। भगवद्-दर्शन समर्पण का फल है, किन्तु उसका प्रथम प्रयोजन बुद्धियोग है, सारी गीता कहकर भगवान अन्त में यही कहते हैं, 'सर्व धर्मान परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज । सब धर्मों का त्याग कर तथा मेरी शरण में आ । समर्पण का भाव समझने तथा उसका अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त करने के लिए शक्ति की जाग्रति आवश्यक है जिसे भगवान ने राजविद्या राजगुह्य कहा है । इसी राजविद्या के अनुभवात्मक समर्पण पर गीता की समाप्ति होती है । एक-एक कदम चढ़ते-चढ़ते ही, पहाड़ की चोटी तक जाया जाता है ।

गीता का अन्तिम उपदेश तो यही है कि मनुष्य कुछ नहीं कर सकता, केवल अभिमान ही कर सकता है तथा अभिमान से चित्त मलीन होता है । जो जीव प्रभु की शरण में चला जाता है, उसका चित्त भगवान निर्मल बना देते हैं । अतः भगवान की शरण ग्रहण करना ही गीता का सार है ।

प्रश्न– परन्तु आप तो प्रयत्न तथा कर्म करने के लिए कह रहे हैं ?

उत्तर– कोई कहे अथवा नहीं, जब तक अभिमान है जीव अपने प्रयत्न पर आश्रित रहेगा ही । कर्म करते-करते ही जीव का अभिमान खण्डित होता है तथा वह समर्पण के अभिमुख होता है । भगवान भी गीता में, पहले कर्म में ही लगा रहे हैं तथा बाद में कहते हैं कि देख लिया, अपना प्रयत्न करके ! सब प्रयत्न, अभिमान त्याग कर, अब मेरी शरण में आ जा । शरण ग्रहण कर लेने पर, मैं तुझे पाप मुक्त कर दूँगा ।

प्रश्न– इसका अर्थ यह हुआ कि सारी समस्या अभिमान त्यागने की है, फिर इसमें शक्ति जाग्रति की क्या आवश्यकता रहती है ?

उत्तर– अभिमान त्यागने के लिए ही शक्ति जाग्रति की आवश्यकता है, क्योंकि उसके पश्चात् ही द्रष्टाभाव का अनुभवगम्य ज्ञान होने पर, अभिमान के खोखलेपन का पता

चलता है तथा समर्पण-भाव उदय होता है । समर्पण चित्त की एक अवस्था है, कोरा अस्थाई भाव मात्र नहीं । अस्थाई भाव कोई पुस्तक पढ़ने से अथवा सत्संग करने से भी उदय हो जाता है, किन्तु स्थाई शक्ति-जाग्रति के पश्चात् ही हो पाता है ।

फिर जब भगवान यह कहते हैं कि मैं समर्पण भाव युक्त भक्त को पापमुक्त कर दूँगा तो इसका आशय यही है कि भगवान की शक्ति भक्त में जाग्रत हो क्रियाशीलता, से भक्त को संस्कार मुक्त कर देती है । समर्पण भावयुक्त कर्म ही, कर्मयोग है । समर्पण भाव ही बुद्धि योग प्रदाता है, समर्पण ही गीता का अन्तिम उपदेश है । समर्पण के उपदेश के साथ गीता की इतिश्री हो जाती है, क्योंकि इसके पश्चात् कहने के लिए कुछ बचता ही नहीं ।

प्रश्न– व्यास जी ने गीता को महाभारत के अन्तर्गत ही क्यों लिखा, जबकि वह इसे एक स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में भी लिख सकते थे ?

उत्तर– मेरे विचार में, गीता का महाभारत के अन्तर्गत लिखा जाना ही अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि गीता की सारी पृष्ठभूमि महाभारत ही है । गीता-ज्ञान, भगवान कृष्ण ने दिया चाहे अर्जुन को ही हो, किन्तु महाभारत का मुख्य पात्र अर्जुन नहीं, भीष्म पितामह हैं जिनके जन्म वृत्तान्त से महाभारत आरंभ होती है तथा उनकी मृत्यु के साथ अन्त हो जाता है । यदि गीता ज्ञान का कोई सर्वोत्कृष्ट उदाहरण देखना हो, तो वह भीष्म पितामह के जीवन में देखा जा सकता है । उन्होंने अपने पिता के सुख के लिए अपने सारे जीवन के सुख का त्याग कर दिया तथा राज सिंहासन की सुरक्षा का उत्तरदायित्व भी ले लिया । इस व्रत का पालन करने के लिए आगे चलकर, उन्हें अधर्म का साथ भी देना पड़ा तथा द्रौपदी चीर-हरण जैसी दुस्सह पीड़ा को भी सहन करना पड़ा । उनका हृदय तथा आशीर्वाद पाण्डवों के साथ थे, किन्तु युद्ध उन्हें दुर्योधन की ओर से ही करना पड़ा । उनके आशीर्वाद के फलस्वरूप पाण्डवों की विजय हुई, किन्तु अधर्म का साथ देने के कारण उन्हें प्राण भी गवाँने पड़े । उन्होंने स्वयं ही पाण्डवों को अपनी मृत्यु का उपाय भी सुझाया ।

गीता महाभारत का हृदय अर्थात् मध्य है । गीता ज्ञान के विस्तार का नाम ही महाभारत है । महाभारत गीता का आधार है । ऐसे गंभीरतम विषय को यदि बिना किसी आधार के प्रस्तुत कर दिया जाता तो उसका समझ पाना और भी कठिन हो जाता । अभी भी गीता को समझ पाना है तो कठिन ही, किन्तु महाभारत का कथानक तथा उसके पात्रों का चरित्र, विषय को काफी सरल बना देता है । यह निश्चित जान लो कि महाभारत का प्रत्येक पात्र तथा घटना, किसी न किसी उपदेश की व्याख्या के लिए ही है । कोई पात्र आसुरी वृत्तियों का प्रतिनिधित्व कर रहा है तो कोई दैवी सम्पदा का प्रतीक है । व्यासजी ने गीता को समझाने के लिए ही महाभारत जैसे विशाल ग्रन्थ को रचने का कष्ट उठाया ।

व्यास जी ने यदि मानव मन को धर्मक्षेत्र तथा तन को कुरुक्षेत्र के रूप में ग्रहण किया तो पाण्डवों तथा कौरवों को दैवी तथा आसुरी वृत्तियों के रूप में । आसुरी वृत्ति की

पराकाष्ठा दुर्योधन तथा शकुनी में देखी जा सकती है, तो दैवी वृत्ति के रूप में विदुर तथा युधिष्ठर उपस्थित हैं । मोहांध की भूमिका धृतराष्ट्र निभा रहे हैं । इन सब के बीच पिस रहे हैं सात्विक साधक के रूप में भीष्मपितामह । गीता-ज्ञान के प्रकटीकरण का माध्यम अर्जुन के विषाद को बनाया गया है । इस अन्तर्कलह के पीड़ादायक दृश्यों, घटनाओं तथा अन्तर्द्वन्द्वों को सिद्धान्त के आधार पर गीता में उपस्थित किया गया है, वहीं महाभारत में दृष्टांत देकर विस्तृत रूप से समझाया गया है । इससे महाभारत तथा गीता एक ही ग्रन्थ हो गए हैं, जो एक दूसरे के पूरक तथा आधार हैं ।

इतने में मकान के निचले तल से सायंकालीन चाय बन जाने की आवाज आई तो सब लोग नीचे चले गए । अवसर उपयुक्त देखकर, मैंने फिर से अदृश्य महात्माओं की बात चलाई । अदृश्य महापुरुषों के बारे में बतलाते हुए आप कह रहे थे कि वे हिमालय की गुफाओं में रहते हैं । विन्ध्याचल इतना ऊँचा है ही नहीं, क्या उसमें भी ऐसी गुफाएँ हैं ?

उत्तर– गुफा तो रहने के लिए एक बहाना मात्र है, अन्यथा उन्हें रहने के लिए किसी गुफा की भी कोई आवश्यकता नहीं । वह खुले में, नदियों के किनारे, उच्च पर्वत शिखरों पर या गहन जंगलों में, कहीं भी रह सकते हैं । घनी आबादी तथा एकांत, दोनों प्रकार की परिस्थितियां उन्हें स्वीकार्य हैं । न ही उन पर मौसम के परिवर्तन का प्रभाव पड़ता है, न जगत के कोलाहल का । इसलिए विंध्याचल में या जगत में कहीं भी, उन्हें रहने की कोई समस्या नहीं । वैसे गुफाएँ विंध्याचल में भी है ।

प्रश्न– बड़ी विचित्र बातें हैं, सुनकर आश्चर्य होता है

उत्तर– हाँ, संसारी जीवों के लिए तो यह अवश्य ही आश्चर्यजनक है । अधिकांशतः समाधि-अवस्था में ही रहने से उन्हें योगजनित कई प्रकार की अकल्पिता सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं । एक सिद्धि, जिसका योग ग्रन्थों में भी उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया, यह है कि बिना शरीर त्यागे ही उन्हें जन्म-मरण का अनुभव होता रहता है तथा इस प्रकार वह एक ही शरीर में रहते हुए अनेक योनियों में भ्रमण कर लेते हैं ।

प्रश्न– ऐसे महापुरुष कितने होंगे ?

उत्तर– यह कह पाना तो कठिन है कि ऐसे महापुरुष कितने होंगे, पर यहा निश्चित है कि पृथ्वी पर रेंगने वाले जीवों की तरह उनकी गिनती असंख्य नहीं है । युगों-युगों में कोई एकाध महापुरुष ही इस अवस्था को प्राप्त होता है ।

प्रश्न– क्या सभी साधकों को इस अवस्था में से होकर जाना होगा ?

उत्तर– मेरा विचार ऐसा नहीं है, किन्तु एक बात अवश्य है कि अध्यात्म यात्रा अत्यन्त लम्बी है । अभी तो जीव न जाने कब से, स्थूल स्तर पर ही भटक रहा है । सूक्ष्म स्तरों की यात्रा का उसे अनुमान आभास ही नहीं । शास्त्रानुसार काकभुषुण्डीजी कब से सृष्टियों

के प्रकटीकरण-अप्रकटीकरण को ही निहारते चले आ रहे हैं, जबकि यह अदृश्य महापुरुष, स्वयं सूक्ष्म स्तरों पर रमण करते हुए भी, स्थूल जगत में ही डोलते फिर रहे हैं । साधक का लक्ष्य ऐसी अवस्था प्राप्त करना है जो स्थूल-सूक्ष्म से अतीत भी है तथा स्थूल-सूक्ष्म के अन्दर भी । सभी साधकों के अपने-अपने अनुभव, स्तर, साधन के पड़ाव तथा मार्ग हैं । एक ही लाठी से सब को नहीं हाँका जा सकता । योगप्रधान साधक तथा प्रेम-प्रधान साधक के भावों, विचारों तथा स्तरों में बहुत अन्तर पड़ जाता है । ज्ञानमार्गी की डगर एकदम अलग हो जाती है । जब तक साधक मन तथा हृदय से युक्त है, तभी तक विचारों भावों का अन्तर है ।

(६३) संन्यास-दीक्षा

स्वामी नारायण तीर्थजी महाराज वाराणसी से पधार आए थे । उन्होंने आकर बद्रीनाथ-केदारनाथ की यात्रा पर जाने की अपनी जिज्ञासा प्रकट की, तो महाराजश्री ने उनकी सेवा में मुझे साथ जाने का आदेश दिया, जिससे महाराजश्री के गीता-विषयक विचारों के श्रवण से मैं वंचित रह गया । मैं श्री स्वामीजी महाराज के साथ, यात्रा पर चल दिया । उन दिनों केदारनाथ के मार्ग पर मोटर, बसें अगस्त्य मुनि के स्थान पर, कुण्ड चट्टी तक जाने लग गई थीं । बद्रीनारायण के मार्ग पर भी, रुद्र प्रयाग से आगे बढ़कर, जोशी मठ तक मोटर यात्रा हो सकती थी । श्री स्वामीजी महाराज की सेवा में भी उसी आनन्द की अनुभूति हुई जो महाराजश्री की सेवा में प्राप्त होती थी । कोई दस दिन हम लोगों को लौटने में लग गए ।

वापिस लौटकर, मेरी संन्यास दीक्षा की तैयारियाँ होने लगीं । गंगाजी के किनारे एक कुटिया की व्यवस्था की गई, जहाँ ठहर कर मैं तीन दिन तक कर्मकाण्ड तथा उपवास कर सकूँ । कर्मकाण्ड करवाने के लिए एक पण्डितजी को निश्चित किया गया । दीक्षा के दिन स्वामी नारायण तीर्थजी महाराज ने, गंगाजी में खड़े कर संन्यास प्रदान करने की कृपा की । उसके पश्चात् दण्डीवाड़ा में आकर मेरा नाम (योगपट) शिवोम् तीर्थ घोषित किया ।

दूसरे दिन महात्माओं की एक सभा हुई, जिसमें महाराजश्री का प्रवचन था । महाराजश्री ने कहा, "सर्वप्रथम मैं भगवद्पाद शंकाराचार्यश्री को प्रणाम करता हूँ, जिनके द्वारा प्रतिपादित संन्यास परम्परा आज तक अनवरत चली आ रही है । पिछले तेरह सौ वर्षों से इसका अखण्ड प्रवाह चलता ही रहा है । आचार्यश्री ने अद्वैत सिद्धान्त का लक्ष्य मनुष्य के समक्ष रखकर, मानव जाति पर असीम उपकार किया है । भगवान शंकराचार्य ने सभी साधनाओं तथा मार्गों का समावेश, अद्वैत में किया । पंचोपासना (शिव, भगवती, सूर्य, विष्णु तथा गणेश) को स्वीकार कर, इन उपासनाओं के द्वारा अद्वैत प्राप्ति का मार्ग दर्शाया । वेदान्त का अधिकारी होने के लिए, योग मार्ग की आवश्यकता स्वीकार की तथा 'योग तारावली' की रचना की । उन्होंने जगत के समक्ष 'सौंदर्य लहरी ' प्रस्तुत कर, तांत्रिक साधन

पद्धति को भी मान्यता प्रदान कर दी । उनका अद्वैतवाद जीवन का अन्तिम लक्ष्य था । उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य को किसी न किसी, साधन पद्धति का सहारा लेकर, चित्त को शुद्ध करते हुए अद्वैत का अधिकारी बनाना आवश्यक था। उनका अद्वैत अन्य साधन-पद्धतियों का विरोधी नहीं, अपितु आधार था । वह एक ऐसा समुद्र था, जिसमें असंख्य प्रकार की लहरें उठती रहती हैं तथा चारों दिशाओं से नदियाँ आकर मिल जाती हैं । वह एक ऐसे अनन्त आकाश के समान था, जिसमें छोटे-बड़े असंख्य तारे अपना-अपना प्रकाश फैलाते हैं ।

"बड़े खेद का विषय है कि हमने आज शंकर साहित्य को भी तुलनात्मक रूप प्रदान करते हुए, अन्य साधन पद्धतियों के खण्डन का विषय बना लिया है । हम भक्ति, योग, कर्म की उपेक्षा करते हुए सीधे ही अद्वैतावस्था तक कूद जाना चाहते हैं । अनासक्त कर्म जो कि प्रारब्ध को क्षीण कर, अद्वैतानुभव के लिए भूमिका तैयार करता है, उसकी हम उपेक्षा करते हैं । भक्ति जो कि हृदय में भाव भरकर अद्वैत प्राप्ति की तड़प पैदा करती है, की हम खिल्ली उड़ाते हैं । योग जो कि मन को संयत तथा विवेक को शुद्ध कर के वेदान्त का अधिकारी बनाता है, को हम अनावश्यक कहते हैं । द्वैत की खिड़की में खड़े होकर, द्वैत को देखते हुए तथा द्वैत से प्रभावित होते हुए भी, हम अद्वैत की बात करते हैं । माया में लिप्त होते हुए भी, माया को मिथ्या कहते हैं । यह ठीक है कि सिद्धान्त रूप में माया मिथ्या ही है किन्तु उसका मिथ्यात्व अनुभव भी होना चाहिए । जब तक मायावी जगत जीव को प्रभावित करता है, माया को मिथ्या कहना कल्पना मात्र है ।

"हम शंकर भगवद्पाद के समन्वयात्मक दृष्टिकोण से भटक गए हैं तथा तुलनात्मकता में उलझकर रह गए हैं । भगवद्पाद ने सभी साधनों का समावेश अद्वैत में किया, जबकि हम सभी साधनों का विरोध कर, उन्हें परे हटाकर, तुलना करके उन्हें अनुचित ठहरा रहे हैं तथा अद्वैत की स्थापना करना चाहते हैं, जबकि तुलनात्मक दृष्टि स्वयं में ही द्वैत है । दो को लेकर ही तुलना की जा सकती है, इसलिए तुलना करके कभी भी अद्वैत सिद्ध नहीं किया जा सकता ।

"वेदान्त का अधिकार कर्म, भक्ति योगादि साधनाओं के अभ्यास से ही सिद्ध होता है, जिसमें शक्ति जाग्रति की मुख्य भूमिका है । वेदान्त की साधना-प्रणाली साधन-चतुष्टय भी, एक प्रकार का योग ही है, पर आज हम उधर से आँखें बंद किए बैठे हैं । श्रवण, विचार, चिन्तन पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं । आन्तरिक अवस्था के अभाव में अनेक लोग साधक बने घूमते हैं । उन्हें ईश्वर-लाभ तो होता नहीं, हाँ, उनका चित्त अभिमान तथा अन्य विकारों से भरता चला जाता है ।

"ऋग्वेद का महावाक्य है, 'प्रज्ञानं ब्रह्म', अर्थात् प्रज्ञान ब्रह्म है । क्या प्रज्ञान का अनुभव प्राप्त करने की किसी ने चेष्टा की है ? केवल पुस्तकीय ज्ञान मात्र तथा विचार से

प्रज्ञान का अनुभव नहीं किया जा सकता । यदि किसी को प्रज्ञान को जानना है तो प्रज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव करना होगा । प्रज्ञान के अनुभव-युक्त ज्ञान के आधार पर ही साधना तथा अध्यात्म का विशाल भवन खड़ा किया जा सकता है । प्रज्ञान के प्रत्यक्ष ज्ञान के अभाव में कोरा तथा शुष्क वाद-विवाद कभी भी किसी को, भ्रम रूपी मोहाधंकार से मुक्त नहीं करा सकता । प्रज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान ही शक्ति की जाग्रति है । तभी किसी दिन कोई सोऽहम् कह सकेगा । जो वह है सो मैं हूँ । सोऽहम् जप का नहीं, अनुभव का विषय है ।

"प्रज्ञान ही कुण्डलिनी है, आह्लादिनी है, प्रत्यक् चेतना है । जाग्रत होने पर वह आनन्द एवं सौंदर्य की लहरियाँ प्रसारित करती है जिसका वर्णन भगवद्पाद ने सौंदर्य लहरी में किया है । आदि शंकराचार्य का दृष्टिकोण कितना उदार एवं विशाल था । यहाँ तक कि उन्हें अपने विरोधियों के उत्थान की भी चिन्ता थी । उन्होंने किसी साधन को छोटा कहकर, उसका तिरस्कार नहीं किया अपितु प्रत्येक साधन को एक धारा के रूप में, अद्वैत रूपी महासागर की ओर ही आते देखा । आज हम शंकर भगवद्पाद के उदार नाम को अपनाकर, संकुचित होते जा रहे हैं । दूसरों को छोटा, घृणित एवं भटका हुआ समझने लगे हैं । साधना तथा साधन की आवश्यकता की अनदेखी करके सीधे ही, वेदान्त-पथ पर आरूढ़ होने का प्रयत्न कर रहे हैं । आदि शंकराचार्य की पंचोपासना विधि को अनावश्यक मत समझो ।

"साधना तथा साधन, अध्यात्म का आधार-स्तम्भ है । साधना ही साधन में परिपक्वता लाती है । प्रेम से ही ईश्वर-प्राप्ति की तड़प जागती है । तड़प ही साधक को ईश्वर कृपा का अधिकारी बनाती है । वेदान्त अवस्था, कोई प्राप्त करने की वस्तु नहीं है । वह अन्तर, अपने अन्तर से ही, अपने आप प्रकाशित होती है । पर्वत शिखर पर लक्ष्य रखकर बढ़े चलो, चढ़े चलो । यह बढ़ना-चढ़ना ही साधन है चित्त की निर्मलता सम्पादित होते जाने के साथ आप ऊपर उठते जाओगे ।

"साधन, हाथ में लिए हुए लैम्प के समान है । जैसे-जैसे आप आगे बढ़ते जाओगे प्रकाश भी आगे बढ़ता जाएगा तथा आपके लिए, आगे का मार्ग प्रकाशित करता जाएगा । इस लैम्प में साधन वृत्ति ही बाती है तथा साधन करना ही तेल है । साधन करना त्याग दोगे तो लैम्प एक ही स्थान पर स्थिर रह जाएगा । साधन वृत्ति हटा लोगे तो लैम्प प्रकाशित होना बन्द हो जाएगा । यदि इसे हाथ में लेकर चल दोगे तो आगे का मार्ग दिखाएगा । गंतव्य पर पहुँच कर अपने आप लैम्प हाथ से नीचे रख दिया जाएगा ।"

एक स्वामीजी ने कहा, "महाराजजी, आप की बातें विचारणीय हैं किन्तु हमारी रुचि अब पठन-पाठन तथा विचार चिन्तन में ही विकसित हो चुकी है । हम सबकी आयु भी प्रायः साठ वर्ष के ऊपर है । जीवन का अधिकांश समय हम व्यतीत कर चुके हैं, थोड़ा ही शेष है, इस अवस्था में साधन का स्वरूप परिवर्तित कर पाना कठिन है ।"

महाराजश्री ने कहा, "मैं आपकी बात को स्वीकार करता हूँ । आयु ढलने के साथ ही मनुष्य की आदतें भी पक जाती हैं, इसीलिए तो युवावस्था से ही साधना की आदत डाल लेने का उपदेश दिया जाता है । आपकी पठन-पाठन की आदत भी पक चुकी है, उसमें कुछ गलत भी नहीं है, यह भी साधना का ही एक अंग है, किन्तु मेरा आपसे निवेदन है कि अभी तक आप जो पठन-चिन्तन करते रहे हैं, उसमें ब्रह्म विचार की ही बहुलता होती है, जबकि अभी तक वैराग्य की परिपक्व अवस्था आपने प्राप्त नहीं की । आपके लिए कहीं अधिक श्रेयस्कर होगा यदि नित्य तथा अनित्य के अन्तर पर विचार अधिक करें । आप देखेंगे कि सारा जगत ही अनित्य के अन्तर्गत है । तब जगत के प्रति, आपका वैराग्य बढ़ता जायेगा तथा नित्य तत्व की जिज्ञासा बढ़ती जाएगी । वेदान्त का अधिकार स्थापित होता जाएगा ।

"आप कुछ न कुछ जप तो अवश्य करते ही होंगे । साधना आरंभ करने के लिए कोई आयु सीमा नहीं है, जब होश आ जाए तभी शुरू की जा सकती है किन्तु एक बात स्पष्ट है कि चंचल-चित्त, ब्रह्म चिन्तन तथा ध्यान नहीं कर सकता । भगवान की कृपा हो तो कभी भी शक्ति की जाग्रति हो सकती है । कभी भी भगवान किसी सद्‌गुरू के माध्यम से प्रकट हो सकते हैं । इसी लक्ष्य को सामने रख कर ही आप जप करें ।

"आप मन में यह विचार करें कि कहीं साधु बनकर, आप में तथाकथित साधुता का अभिमान तो नहीं आ गया है ? यदि ऐसा हो तो यह बहुत बड़ा विघ्न है जिसे यथासंभव दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए । आप यदि एक अवगुण को ओढ़ सकते हैं, तो उसे उतार कर फेंक भी सकते हैं । यह कोई बड़ा कठिन कार्य नहीं है, केवल दृढ़ संकल्प की आवश्यकता है ।

"आप अध्यात्म पथ पर आरूढ़ हैं ही, केवल सही दिशा निर्देशन की ही आवश्यकता है ।सभी रास्ते ईश्वर की ही ओर जाते हैं, कोई सीधा, कोई घुमावदार, कोई समतल, तो कोई ऊबड़खाबड़ । अपने मन को उदार बनाकर, सभी मार्गों का आदर करो, सभी साधकों से प्रेम करो । केवल साधकों से ही क्यों ? प्राणीमात्र से क्यों नहीं ? यही साधुता है । साधु का मार्ग अत्यन्त कठिन होता है, संसारियों से कहीं अधिक कठिन । इसलिये बड़ा संभल कर चलने की आवश्यकता है ।"

एक स्वामीजी - आपकी बातों का सारांश, साधना की आवश्यकता है किन्तु शास्त्र कहता है,श्रवणात् मुक्ति, अर्थात् श्रवण से मुक्ति होती है, फिर साधना के लम्बे-चौड़े पचड़े में पड़ने की आवश्यकता क्या है ?

महाराजश्री - आप महानुभावों में अधिकांश यहाँ संन्यासी ही उपस्थित हैं । संन्यास दीक्षा के समय आप सबने महावाक्यों का श्रवण अवश्य किया होगा । आप में से कौन मुक्त हो गया है ? कोई भी नहीं । श्रवण से मुक्ति अवश्य मिलती है, किन्तु उस श्रवण का अधिकारी बनना पड़ता है तथा वह अधिकार साधना से ही प्राप्त होता है । तब सद्‌गुरू के

उपदेश श्रवण से मुक्ति लाभ हो सकता है, जैसे तोतापुरी के उपदेश श्रवण से रामकृष्ण परमहंस को हुआ था ।

(६४) संन्यास विषयक उपदेश

श्री स्वामी नारायण तीर्थजी महाराज ने कहा कि शिवोम् को प्रथम चातुर्मास्य हमारे सानिध्य में व्यतीत करना होगा, वह भी पूरे चार मास तक । आगे के चातुर्मास्य यह दो महीने का कर सकते हैं, अतः महाराजश्री की अनुमति से मैं श्री स्वामीजी महाराज के साथ वाराणसी को चल दिया । चलने से पूर्व महाराजश्री ने मुझे इस प्रकार कहा:-

"अब तुम स्वामी हो गए हो, किन्तु इस बात का ध्यान रखना कि तुम्हारा मन अभी भी वही है जो पहले था । तुम्हारे वस्त्रों का रंग गेरुआ हो गया है, किन्तु मन का रँगना अभी शेष है । तुमने ब्रह्म का प्रतीक दण्ड अवश्य धारण कर लिया है, किन्तु मन में ब्रह्म अभी तक उदय नहीं हुआ । तुम्हारे मन के काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या–द्वेष अभी शान्त नहीं हुए । यह बाहरी परिवर्तन तुम्हारे साधन को आगे भी बढ़ा सकता है तथा तुम्हें मिथ्या अभिमान के गर्त में भी गिरा सकता है । अर्थात् संन्यास लेकर, तुम दोराहे पर खड़े हो गए हो ।

"गेरु एक विशेष रंग की मिट्टी है, अपने वस्त्रों को इसमें डाल देने का अर्थ यह है कि एक यह शरीर रूपी कपड़ा भी मिट्टी में मिल जाने वाला है । गेरु का रंग अग्नि का प्रतीक है अर्थात् आज के बाद तुम्हें अपने आप को जलाना, तपाना है, राख कर देना है । अपने-आप को तपाने का नाम ही संन्यास है, शरीर को तपाना, मन को तपाना, वासनाओं-संस्कारों को जलाना । मनुष्य यदि गृहस्थ में रहकर यह कर सके तो उसे गृहस्थ संन्यासी कहा जा सकता है । किन्तु यह बहुत कठिन है क्योंकि इसमें परिवार के अन्य सदस्यों को भी साथ-साथ तपना पड़ता है, जिसके लिए वे तैयार नहीं होते । इसलिये संन्यास में गृह-त्याग को आवश्यक कर दिया गया है ।

"संन्यास दीक्षा के पश्चात् महात्मा होने के अभिमान के उदय हो जाने की संभावना है । जिस अभिमान को कुचलने के लिए संन्यास लिया जाता है, वही बढ़ने लगता है । ऐसी स्थिति में साधक की दशा दयनीय हो जाती है । गृहस्थ में लौट नहीं सकता, संन्यास में कुछ प्राप्त होता दिखाई नहीं देता । ध्यान रहे, संन्यास दीक्षा आश्रम परिवर्तन मात्र है । दीक्षा ले लेने से ही कोई महात्मा नहीं बन जाता । उसके लिए साधन, अभिमान को हटाने तथा ईश्वर कृपा की आवश्यकता है ।

"तुम्हारा अभी शरीर का ही संन्यास हुआ है मन का नहीं । मन उत्तेजित होकर शरीर के संन्यास को भी उथल-पुथल कर सकता है । शरीर के तप को भी शास्त्र मान्यता अवश्य देता है, पर वास्तविक तप मन से ही होता है । शारीरिक तप के साथ भी मन जुड़ा रहता है । वासना एवं संस्कार, मन को परिचालित करते हैं । मानसिक तप का अर्थ है, वासना को शुद्ध

करना तथा संस्कारों का क्षय करना । यह कोई सरल कार्य नहीं । देखा जाए तो जगत में कठिनतम कार्य है । वासना के वशीभूत मन बाहर की ओर भागता है, तो बुद्धि का विवेक मन को अन्दर की ओर खेंचता है । इसी आन्तरिक संघर्ष में विवेक का साथ देना तप है । इसमें अपार सहनशीलता एवं परिश्रम की आवश्यकता पड़ती है । तप सतत् चलने वाला एक क्रम है, जब तक कि मन शुद्ध न हो जाए । इसी संघर्ष में लगे रहने का संकल्प करना, संन्यास कहलाता है ।

"तुम वीतराग तथा आप्तकाम नहीं हो । अभी तुम्हारे मन में इच्छाएँ कामनाएँ हैं । मलीनता अभी भी तुम्हारे चित्त पटल पर जमी है तथा बुद्धि भ्रम एवं संशय ग्रसित है । तुमने इस संकल्प के साथ संन्यास का मार्ग चुना है कि अब के पश्चात् वीतराग तथा आप्तकाम होना ही तुम्हारे जीवन का लक्ष्य है । वासनाओं की चाहे कितनी भी आँधिया आ जाएँ, उनका डटकर सामना करना है । चाहे कैसे भी तथा कितने भी प्रलोभन समक्ष उपस्थित हो जाएँ, उनकी ओर आकर्षित नहीं होना है, तथा कैसा भी यश-अपयश क्यों न झेलना पड़े, अपना मार्ग नहीं छोड़ना है । यही तप है, किन्तु तप का उपरोक्त संकल्प प्रभु-कृपा से ही पूरा हो पाता है ।

"जगत मार्ग में रोड़े अटकाएगा ही, कभी लोभ में उलझाएगा, कभी भय दिखाएगा । कभी मीठा बनकर तुम्हें छलने का प्रयत्न करेगा, तो कभी हितैषी बनकर अपनापन दिखाएगा । यह सब जगत के छलावे हैं । मित्र-शत्रु, अपना--पराया सब मन की कल्पना है, जिसमें जीव जगदोन्मुख होकर भ्रमित हो जाता है । अपने मन को संभालकर रखना, सबसे प्रेमपूर्वक व्यवहार करना, किन्तु किसी के साथ भी राग के बंधन में नहीं आ जाना । जो मन में, अपने आपको तुम्हारा विरोधी मानते हैं, उनके प्रति भी मन में द्वेष-भाव नहीं लाना, अन्यथा तुम्हारा मन द्वेष भाव से दूषित हो जाएगा तथा तुम्हारे मार्ग से भटकने की संभावना उत्पन्न हो जाएगी । अपने प्रारब्ध भोग को, बिना कोई प्रतिकार किए सहन कर लेना ।

"अब चार महीने के लिए, शारीरिक रूप से तुम मुझ से दूर रहोगे । मेरी कोई चिन्ता न करना । मैं भी तो संन्यासी ही हूँ । जिस भी प्रकार की परिस्थितियाँ सामने आ जाए, भगवान निभा देते हैं । यदि कभी कोई असुविधा या प्रतिकूलता आ भी गई, तो उसे भी प्रारब्ध भोग या ईश्वर-प्रसाद समझ कर भोग लेना चाहिए । वैसे देवास में मेरे पास कई लोग होंगे, संभाल ही लेंगे । पत्र लिखते रहना । जो बातें तुम्हें कही हैं, उनका ध्यान रखना ।"

मैं श्री स्वामीजी महाराज के साथ, चातुर्मास्य के लिए वाराणसी प्रस्थान कर गया । चार महीने तक महाराजश्री के चरण-सानिध्य से वंचित रहा । इस काल की, किसी बात की स्मृति होने का कोई प्रश्न ही नहीं ।

(६५) उत्तराधिकार

श्री स्वामीजी महाराज तथा मैं चातुर्मास पूर्ण होने पर, देवास के लिए प्रस्थित हुए। यह दिसम्बर १९६५ की बात है। महाराजश्री बड़े प्रसन्न चित्त दिखाई दिए।

हमारे देवास पहुँचने पर उत्तराधिकार का प्रश्न एक बार फिर उठ खड़ा हुआ। अब की बार आक्रमण कुछ अधिक तीव्र था। देवास-इन्दौर के लोग तो थे ही, बाहर से भी कुछ लोग आए हुए थे। उनमें से कुछ प्रमुख लोगों ने विचार किया तथा महाराजश्री को, मुझे उत्तराधिकारी चुन लेने की राय देने का निश्चय किया। उन लोगों में वह सज्जन भी सम्मिलित थे, जिन्हें पहले उत्तराधिकारी बनाने की बात तय हो चुकी थी।

महाराजश्री के समक्ष उपस्थित होकर, सबने निवेदन किया तो महाराजश्री बोले कि मैं तो शिवोम् को उत्तराधिकारी बनाना चाहता हूं, कई बार बात भी हुई है पर वह मानने के लिए तैयार ही नहीं है। अन्त में मैंने उसे कह दिया है कि भविष्य में कभी भी इस विषय पर बात नहीं करूँगा। इसलिए मैं तो अब कुछ कह नहीं सकता, आप लोग चाहें तो बात कर सकते हैं।

मेरे पास आकर वे लोग मुझे समझाने लगे, "देखिए, आपका जीवन महाराजश्री की सेवा में समर्पित है। आपका जो कुछ भी है, महाराजश्री को ही अर्पण है। आप महाराजश्री की इच्छा को समझकर, उसके अनुसार चलते हैं। यदि महाराजश्री की इच्छा आपको अपना उत्तराधिकारी बनाने की है तो आप उसका अनादर क्यों कर रहे हैं ? आप कभी किसी को आगे कर देते हैं, कभी किसी को।"

उन लोगों के इस अप्रत्याशित कथन से मैं सन्न रह गया। कुछ देर विचार किया, फिर बोला, "जब उत्तराधिकार का एक बार निर्णय हो चुका है तो दोबारा इसे क्यों उठाया जा रहा है ?"

उत्तर मिला, "जब वही सज्जन आप के सामने बैठे, आग्रह कर रहे हैं, तो फिर उस निर्णय का क्या महत्व रह जाता है ? फिर यह निर्णय हुआ ही नहीं, यह तो एक प्रकार से, आप की ओर से, महाराजश्री पर थोपा गया है। आप भी यह जानते हैं तथा हम सबको भी यह पता है कि महाराजश्री की इच्छा क्या है, तथा हम यह भी जानते हैं कि महाराजश्री की इच्छा का पालन करना, आपके जीवन का लक्ष्य है।"

मैंने कहा, "किन्तु भार को वहन करने की योग्यता मैं अपने में नहीं पाता। महाराज़श्री जैसी विद्वत्ता, तपस्या, व्यक्तित्व, उदारता, सहनशीलता का कुछ अंश भी मुझमें नहीं है। उनके स्थान की गरिमा बनाए रखने के लिए जिन बातों की नितांत आवश्यकता है, उन सबका मुझमें पूरी तरह अभाव है। मैं क्या हूँ, यह आप लोग नहीं जान सकते, पर अपनी मानसिक अवस्था का मुझे तो पता है।"

उत्तर मिला, "हम इस विषय में कुछ नहीं जानते कि आप योग्य हैं कि अयोग्य ? केवल इतना जानते हैं कि आप महाराजश्री के सेवक हैं। सेवक का ध्यान अपनी योग्यता-अयोग्यता की ओर नहीं होता, अपने सेव्य की इच्छा की ओर होता है । सेव्य की इच्छा क्यों तथा कैसे हुई, किन परिस्थितियों में हुई, इसको सेव्य ही जानता है । सेवक का कर्त्तव्य है स्वामी के आदेश का पालन करना, उसकी इच्छा का आदर करना ।"

इस तर्क का मेरे पास कोई उत्तर नहीं था । सेवक धर्म की मेरी कल्पना ऐसी ही थी । संभवत: कभी मैंने इन लोगों को, सेवक धर्म का यह रूप समझाने का यत्न किया होगा आज उसी तर्क का उपयोग मेरे ऊपर किया जा रहा था, किन्तु मेरे अन्दर का अहम् बार-बार खड़ा होकर, मेरी अयोग्यता को मेरे समक्ष ला रहा था । संभवत: मेरे अहम् की मुझे सेवक धर्म से गिराने की यह चाल रही हो । मैं भी अपने आसपास लिपटे, अयोग्यता के आवरण से बाहर निकल नहीं पा रहा था । निस्संदेह मैं अयोग्य तो था ही, किन्तु अयोग्यता की सबसे बड़ी यही योग्यता सिद्ध हो रही थी कि वह मुझे महाराजश्री की इच्छा का आदर करने से रोके खड़ी थी । मैंने कह दिया कि मैं महाराजश्री से बात करूँगा ।

मैंने महाराजश्री से बात की तो बोले, "मैंने तुम्हें कहा था कि भविष्य में मैं, इस विषय पर बात नहीं करूँगा, अब तुमने ही बात छेड़ी है । मेरी इच्छा पहले भी तुम जानते थे, आज भी वही है । इच्छा को माथे चढ़ाना या ठुकरा देना, यह तुमको देखना है ।"

मैंने कहा, "किन्तु जिन्हें आप उत्तराधिकारी कह चुके हैं, उनका क्या ?"

महाराजश्री ने कहा, "वह जब स्वयं सबके साथ आकर, तुम्हारे नाम की वकालत कर गए हैं तथा तुम्हें समझाने के लिए तुम्हारे पास भी गए हैं, तो वह बात तो अपने आप समाप्त हो जाती है । हमें कुछ करना ही नहीं ।"

मैं थोड़ा सोचने का समय माँग कर, महाराजश्री के कमरे से बाहर निकल गया । बड़ी उलझन में था, कुछ समझ नहीं पा रहा था । मैं स्वामी नारायण तीर्थ महाराज के कमरे में जा पहुँचा । "कुछ आवश्यक बात करना है ।" वहाँ उपस्थित सभी लोगों को विदा किया । श्री स्वामीजी महाराज के सामने, मन की उलझन व्यक्त की ।

स्वामीजी महाराज ने कहा, "देखो, अब संन्यास तो ले ही चुके हो । महाराजश्री की सेवा में भी हो । यदि उनकी एक इच्छा है तो उसपर निर्णय लेने का अधिकार तुम्हारे पास है ही नहीं । महाराजश्री की इच्छा, महाराजश्री का निर्णय है । तुम्हारा कर्त्तव्य उस निर्णय को शिरोधार्य करना है । यह समर्पण की भावना है ।"

मैंने कहा, "किन्तु मेरी अयोग्यता ?"

स्वामीजी महाराज– "यह अयोग्यता का आवरण ओढ़े तुम्हारा अहंकार है ।"

मैंने कहा, "किन्तु लोग तो कह सकते हैं कि मैं आश्रम लेने के लिए ही सेवा करता था।"

स्वामीजी महाराज, "लोगों के कहने की छोड़ो। तुम कुछ भी करो या न करो, वह तो बातें करेंगे ही, क्योंकि उनका काम ही बातें करना है। कोई भला आदमी कभी किसी की बात नहीं करता। किसी के कुछ कह देने, से तुम वैसे नहीं बन जाते।"

अब मेरे पास बच निकलने के लिए कोई रास्ता नहीं रहा। मैं सीधा महाराजश्री के पास पहुँचा तथा अपनी स्वीकृति निवेदन कर दी। महाराजश्री ने भी तत्काल लोगों को बुलाकर, मेरे उत्तराधिकारी होने की घोषणा कर दी। अगला दिन उत्तराधिकार समारोह आयोजित करने का निश्चय किया गया।

अपने कमरे में जाकर मैं विचारों के अथाह सागर में डूब गया। यह मेरे जीवन का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण मोड़ था। सारा अतीत आँखों के सामने घूमने लगा। बार-बार नांगल तथा हिमाचल प्रदेश में बीते दिनों की याद आने लगी। कितनी शान्ति तथा कैसा आनन्द था। आज मैं एक ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करने जा रहा हूँ जहाँ सदैव के लिए भीड़-भाड़, समस्याएँ तथा अशान्ति है। अब तक तो यह विचार था कि महाराजश्री के जीवन काल तक सेवा में रहूँगा तथा उसके पश्चात् उसी शान्त वातावरण में लौट जाऊँगा, किन्तु अब कभी भी उस शान्त वातावरण में न लौट पाने की व्यवस्था हो रही है। जगत में मनुष्य के समक्ष कितनी विवशताएँ आती हैं, किन्तु उस विवशता का कारण तथा आधार जगत ही होता है। मेरी विवशता में संतोष की बात यही थी कि गुरु इच्छा का आदर ही इस का आधार था।

धीरे-धीरे मैंने अपने मन को संभाल लिया। यह कभी सोचा भी न था कि जीवन में मैं कभी किसी आश्रम का महाराज बनूँगा। महाराज का यह पद कितनी समस्याओं, अड़चनों, प्रलोभनों तथा फिसलनों से भरा है, यह मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा था। जनसंपर्क से दूर रहकर साधन-रत रहना आसान है, किन्तु जनसमूह में रहते हुए, मित्रों-विरोधियों को एक साथ लेकर चलना, सबसे समान रूप से प्रेम करना, सेवा करना, कितना कठिन है? फिर जीवन में, मैं जिन नियमों को अपनाने का प्रयत्न कर रहा था, उसमें यह और भी कठिन काम था। जब ऊखली में सिर दिया तो डरना क्या? अब जब हाँ कर ही दी है तो परिस्थितियों का सामना करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग भी नहीं है। गुरु महाराज के चरणों का ध्यान बना रहे, यही बहुत है।

दूसरे दिन, छोटे से उत्तराधिकार-समारोह का आयोजन था। मैं महाराजश्री के कमरे में प्रात: प्रणाम के लिए गया तो निवेदन किया, "आप तो सिद्ध-पुरुष हैं, आपकी गंभीरता, साधन तथा दृष्टि, अतुलनीय है, किन्तु मैं तो एक अज्ञानी तथा अनाड़ी बालक के समान हूँ, जिसे न कुछ अपना पता है, न जमाने की समझ है। आपकी शक्ति तथा आशीर्वाद से ही इस कठिन उत्तरदायित्व को सँभाल पाऊँगा।"

महाराजश्री ने कहा, "हम जानते हैं कि किसी आश्रम या मठ का महन्त या मुखिया बनना तुम्हारे जीवन का लक्ष्य नहीं है । न तुम इसे अपने द्वारा की गई सेवा के फलस्वरूप ही प्राप्त करने के इच्छुक हो, न ही मैं सेवा के बदले तुम्हें दे रहा हूँ । ऐसा सोचना तथा करना सेवा का अपमान होगा । सेवा का एक पवित्र भाव है जिसका मूल्यांकन करना भी उचित नहीं । यह गुरु—शिष्य संबंध की एक ऐसी कड़ी है, जिसका अवसर, गुरु शिष्य पर कृपा कर, प्रदान करते हैं तथा शिष्य भी अपना अहोभाग्य समझकर, उसे ग्रहण करता है । इस भाव तथा संबंध का लाभ जब भी प्राप्त हो, एक ही हो सकता है, अध्यात्म-लाभ ।

"तुम भी जानते हो तथा मेरा भी अनुभव है कि आश्रम एक बड़ा प्रपंच है, जगत-व्यवहार से भी कहीं अधिक । इसमें आसक्ति, अभिमान तथा राग-द्वेषादि की संभावनाएँ अत्यधिक हैं । मनुष्य, सम्मान की आशा तथा अधिकार के मनमाने प्रयोग में उलझ सकता है तथा इस प्रकार दिनोदिन अपने वास्तविक लक्ष्य अध्यात्म से दूर हटता जा सकता है । आश्रम एक तेल भरी गरम कढ़ाई के समान है जो साधक को तपाती है, जलाती है । मैं जानबूझ कर तुम्हें इस उबलती कढ़ाई में फेंक रहा हूँ । मैं जानता हूँ कि तुम जलोगे, पर मैं तुम्हें जलाना ही चाहता हूँ । प्रकाशित होने के लिए जलना आवश्यक है । प्रारब्ध क्षय के लिए जनसंपर्क तथा व्यवहार सहायक हैं । व्यवहार का फल तभी बंधनकारक है जब उसमें आसक्ति हो, अन्यथा व्यवहार प्रारब्ध को क्षीण कर देता है । प्रारब्ध क्षीण होते समय साधक को बहुत जलना पड़ता है, बहुत कुछ सहन करना पड़ता है । यह सहनशीलता, बिना मुँह से शिकायत का एक भी शब्द निकाले, बिना कोई प्रतिकार किए होती है, अन्यथा प्रारब्ध क्षीण नहीं हो पाता ।

"तुम्हारे अपने शिष्य भी होंगे तथा गुरु बंधु भी । परम्परा से प्राप्त आश्रम में यही होता है । नया आश्रम बनाना तथा चलाना कहीं अधिक आसान है, क्योंकि वहाँ सब शिष्य ही शिष्य होते हैं । गुरु उनके साथ कैसे भी बरताव करे, निभ जाता है, किन्तु यहाँ तुम्हें शिष्यों तथा गुरु बंधुओं को एक साथ लेकर चलना है, दोनों को निभाना है । तुम्हारे गुरु बंधुओं में यह भाव विकसित नहीं हो जाना चाहिए कि उनकी उपेक्षा हो रही है । तुम्हारे कई गुरुबंधु तुम से बहुत पुराने हैं तथा उन्होंने तुम्हें एक नौकर की तरह काम करते देखा है । उनमें से कइयों की सेवा भी तुम करते रहे हो । इसलिए उन्हें, महाराज के रूप में तुम्हें स्वीकार करते हुए संकोच हो सकता है । ऐसे लोगों को भी तुम्हें निभा कर चलना होगा । मैं जानता हूँ कि यह कोई सरल कार्य नहीं है । तुम्हारा काम मेरे से भी कठिन होगा । मेरे पास केवल मेरे शिष्य ही थे, किन्तु तुम्हारे साथ ऐसा नहीं होगा । तुम्हारे पास दूसरे गुरुओं के शिष्य भी आएँगे, उन्हें सम्मान तथा प्रेम देना, किन्तु कभी भी उन्हें अपने प्रभाव-क्षेत्र में लेने का प्रयत्न नहीं करना, इससे आश्रमों में परस्पर मनमुटाव हो जाने की संभावना है । मैं यह भी जानता हूँ कि तुम्हारी ऐसी आदत नहीं है, फिर भी किसी दूसरे आश्रम के मुखिया के बारे में, कभी भी

कोई निन्दाजनक शब्द नहीं कहना । यदि कोई दूसरा कुछ कहता भी है तो उसे सहन कर लेना किन्तु प्रत्युत्तर में कुछ नहीं कहना ।

"तुम्हें उत्तराधिकार दिया अवश्य जा रहा है, किन्तु तुम्हारा कोई अधिकार नहीं होगा । मेरा भी यहाँ कोई अधिकार नहीं रहा । अधिकार-अनधिकार की बातें संसारियों को ही शोभा देती हैं, साधुओं को नहीं । आश्रम शंकरजी का है, उनके पास ही सभी अधिकार हैं । हम सब तो सेवा के लिए हैं । आश्रम का मुखिया सबसे बड़ा सेवक होता है । यही उसका अधिकार है । चाहे दीक्षा देना या प्रवचन करना, सब शंकरजी की अभिमानरहित सेवा समझकर ही करना ।

"संसार में रहने के घर, केवल संसार की ओर ही खुलते हैं, किन्तु आश्रम ऐसे घर होते हैं जो संसार तथा अध्यात्म दोनों ओर खुलते हैं । यह व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह किधर जाना चाहता है । यदि आश्रम में आसक्ति तथा अभिमान हो जाये, तो संसार की ओर दरवाजा खुल जाता है, तथा मनुष्य संसार के घर की अपेक्षा कहीं अधिक जगत में फँसता चला जाता है । यदि सेवा-भाव, प्रेम-भाव हो, तो यही आश्रम अध्यात्म का प्रवेशद्वार हो जाता है ।

"जगत-व्यवहार करते हुए भी, आश्रम अध्यात्म का मार्ग है । जगत का अनुभव युक्त ज्ञान जगत में रहकर ही होता है, इसलिये आश्रम जीवन व्यर्थ नहीं है । जगत की स्वार्थपरता, राग-द्वेष, तथा दंभाहंकार का पता, एकान्त में रहकर कैसे लग सकता है तथा प्रारब्ध भी कैसे क्षीण हो सकता है ? इसलिए तुम्हें आश्रम से घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है । अपना कर्त्तव्य करते रहो, जगत की परवाह मत करो ।"

मैंने कहा कि मेरी अयोग्यता का क्या होगा, तब महाराज ने कहा कि जगत में कोई भी व्यक्ति अयोग्य नहीं है केवल अयोग्यता का चोला पहन लिया है, जो कि व्यक्ति का अस्वाभाविक स्वरूप है । योग्यता मनुष्य का अपना गुण है । अस्वाभाविकता का चोला उतार फेंका, तो स्वाभाविकता प्रकट । मनुष्य यदि चोला पहन सकता है तो उतार भी सकता है ।

मैंने निवेदन किया, "किन्तु महाराजश्री, मुझे तो भय प्रतीत हो रहा है, कैसे निभेगा इतना बड़ा उत्तरदायित्व !" इस पर महाराजश्री बोले, "यह उत्तरदायित्व तभी तक बहुत बड़ा है जब तक इसे निभाने का उत्तरदायित्व तुम अपने कंधों पर समझते हो, किन्तु तुम निभाने वाले कौन हो ? तुम तो अपना कर्त्तव्य करो, उत्तरदायित्व गुरुशक्ति निभाती रहेगी ।"

एक छोटे से उत्तराधिकार समारोह में, महाराजश्री ने चादर ओढ़ाकर उत्तराधिकार की रीति को पूरा किया तथा उत्तराधिकार घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर भी किए । इस अवसर पर बोलते हुए, महाराजश्री ने कहा:-

"मैं भी कुछ दिनों से सोच रहा था तथा दूसरे लोगों की भी यही राय थी कि अब मुझे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर देना चाहिए । अब मैं ७८ वर्ष का भी हो गया हूँ । वैसे तो किसी के जीवन का भी भरोसा नहीं, किन्तु आयु बढ़ने के साथ अन्तिम समय निश्चित ही समीप आता जाता है । उत्तराधिकार की घोषणा से, मैं अपने आपको बहुत हलका एवं सुविधाजनक स्थिति में अनुभव कर रहा हूँ । ऐसा परम्परा से ही होता चला आ रहा है । एक राजा जाने के पश्चात् उनका पुत्र तथा गुरु के पश्चात् उनका शिष्य, उनके उत्तरादायित्व को संभालते चले आ रहे हैं । यदि अपने जीवनकाल में ही उत्तराधिकारी की घोषणा कर दी जाए, तो कई प्रकार की संभावित समस्याओं से बचा जा सकता है ।

"शिवोम् का विधिवत् अधिकार तो मेरे जाने के बाद होगा, किन्तु क्रियात्मक रूप से मैं, कई बातों से आज से ही निवृत्त हो रहा हूँ । यथा संभव, अब दीक्षा कार्य शिवोम् करेगा । आश्रम की देखरेख का काम भी प्राय: वही करेगा । आप लोगों से मुझे यही कहना है कि आश्रम में अपनी रुचि पहले की तरह ही बनाए रखें तथा पूर्ववत् सहयोग देते रहें ।

"मैं जानता हूँ कि नए महाराज का काम काफी कठिन है । अपने व्यक्तित्व को सिद्ध करने में समय लगेगा । अभी कई बातों का उसे अनुभव नहीं है, पर कोई भी सब कुछ सीख कर जगत में नहीं आता, जगत में आकर ही सीखता है । इसलिए इसे सीखने के लिए थोड़ा समय देना पड़ेगा । मैं आशा करता हूँ कि आपका सहयोग सदा मिलता रहेगा ।"

समारोह के पश्चात् मैं अपने कमरे में आया तो फिर विचारों ने घेर लिया । अब तक मैं किसी से कोई भी भेंट स्वीकार नहीं करता था किन्तु अब आश्रम का प्रतिनिधि बनकर, आश्रम के लिए, आश्रम की ओर से भेंट स्वीकार करना ही होगी । महाराजश्री ने १९६० में मुझे दीक्षा देने के लिए कहा था, किन्तु अब तक भी मैंने कोई दीक्षा नहीं दी थी, क्योंकि गुरु तथा गुरु-सेवक, दोनों कार्य निभा पाना अपने लिए कठिन समझता था । वैसे भी गुरु बनने में मुझे कोई रुचि नहीं थी । इसे मैं अन्तर्वासना की एक करामात ही मानता था, किन्तु अब उत्तराधिकारी बन गया हूँ, तो यह काम भी करना पड़ेगा ।

मुझे अपना जीवन स्पष्ट ही बदलता सा दिखाई दे रहा था । क्रम के इस बदलाव में वृत्ति भी कहीं न बदल जाए, यह चिन्ता मुझे सताने लगी । चारों ओर वैभव तथा सुविधाओं का विस्तार हो, तो अपने आपको सँभाल रख पाना कितना कठिन होता है, यह मैं जानता था । फिर वही बात याद आ गई कि सिर यदि ओखली में दिया है तो कुटवाने से क्या डरना ? पिछले पाँच-छ: वर्ष में जगत का काफी अनुभव हो चुका था, न कोई मित्र न शत्रु, मन है जो किसी को मित्र मान लेता है, किसी को शत्रु । मन की इस उछलकूद से परे हटना है, किन्तु इस उछलकूद में रहते हुए ही । वैभव में रहते हुए ही, वैभव के बंधन से मुक्त होना है ।

फिर मन के विचार दीक्षा कार्य की ओर मुड़ गए । जिस कार्य के करने से मैं पिछले छ: वर्ष से बचता आ रहा हूँ, उसे अब करना ही होगा । एक निश्चय मन में अवश्य कर लिया,

कि अपनी इच्छा से कोई दीक्षा नहीं दूँगा । दीक्षा की स्वीकृति महाराजश्री प्रदान करेंगे । जिसे कहेंगे, उसे ही दीक्षा दूँगा । अत: जब तक श्री गुरु महाराज का शरीर वर्तमान रहा तब तक नए दीक्षार्थियों को मेरे तथा महाराजश्री के बीच दो–चार चक्कर लगाने पड़ते थे । महाराजश्री कहते "दीक्षा मैं नहीं देता", मैं कहता, "महाराजश्री की स्वीकृति चाहिए ।" महाराजश्री ने दीक्षा के बारे में समझाया था कि गुरु होने का अभिमान नहीं पाल लेना । तुम अपनी योग्यता, तपस्या एवं वैराग्य से गुरु नहीं बने हो वरन् गुरु संकल्प से तुम्हें गुरुपद प्राप्त हुआ है । अब तुम्हारे माध्यम से गुरु संकल्प कार्य करेगा । यदि तुममें गुरुपने का अभिमान आ गया तो तुम गुरु-संकल्प से कट जाओगे । दीक्षा कार्य भी गुरु-सेवा समझ कर ही करना ।

मैंने मन में यह भी विचार किया कि सब से प्रथम, मेरी स्थिति इस आश्रम में शिष्य की है । शिष्य होने के नाते ही मैं किसी का गुरुबंधु भी हूँ, उत्तराधिकारी भी तथा अब गुरु बनने भी जा रहा हूँ । इसलिए महाराजश्री के साथ मुझे सदैव ही एक शिष्य की ही भाँति रहना चाहिए । दूसरों के लिए चाहे मैं कुछ भी हो जाऊँ किन्तु महाराजश्री की सेवा में अन्तर नहीं आना चाहिए । अत: जब तक महाराजश्री का शरीर जगत में विद्यमान रहा, उनकी कुटिया की सफाई, कपड़े धोना, घूमने के लिए ले जाना आदि सभी सेवाकार्य पूर्ववत् चलते रहे ।

सायंकाल को बाहर चौक में महाराजश्री कुरसी पर विराजमान थे । आगे भक्तगण दरियों पर बैठे थे । बातचीत आध्यात्मिक ही चल रही थी । महाराजश्री कह रहे थे :-

"जीवन-यात्रा एक ऐसी यात्रा है जिसमें हर यात्री भटका हुआ है । फिर भी अपने ही मार्ग को ठीक बतलाकर, दूसरों को राह दिखाने का प्रयत्न करता है । जीवन-यात्रा एक ऐसी यात्रा है जिसमें कोई भी नहीं जानता कि उसे जाना कहाँ है ? फिर भी दूसरों को उनका गंतव्य समझा रहा है । यह यात्रा अनन्त काल से चल रही है, तथा कुछ पता नहीं कि कब तक चलती रहेगी । कभी यात्री बर्फीली कठिन ऊँचाइयों पर चढ़ने लगता है, तो कभी नीची ढलवानों पर लुढ़कने लगता है, कभी वादियों-घाटियों की हरियाली में खो जाता है, तो कभी मरुस्थल में, भीषण तपिश को सहन करता हुआ रेत फाँकने लगता है । कभी मन में उत्साह उमड़ पड़ता है, तो कभी निराशा छा जाती है । कभी यह समझकर कि यही उपाय ठीक है, बोझा सिर पर उठा लेता है तो अगले ही क्षण बोझे के बोझ से घबराकर, उसे सिर से उतार फेंकता है ।

"जीवन-यात्रा एक ऐसी यात्रा है जिसका प्रत्येक यात्री दुविधा में है, भ्रमित है अंधकार में है । प्रत्येक यात्री बिना किसी प्रकार की व्यवस्था किए, गहन अंधकार में, बिना रास्ता देखे, कदम आगे बढ़ाता है । जब ठोकर खाकर गिर पड़ता है तो अपनी भूल का एहसास होता है, पर भूल कहाँ हुई, यह फिर भी नहीं समझ पाता । सतत् अंधकार में ही चलते रहने से, प्रत्येक यात्री बार-बार गिरता, अपने घावों को सहलाता, खड़ा होता, आगे

बढ़ता रहता है । जीवन यात्रा एक भँवर की तरह है, जिसका घुमाव अति तीव्र है, किन्तु निरन्तर एक ही स्थान पर घूमता रहता है । जीवन यात्रा, नाव में सवार एक ऐसे यात्री के समान है, जिसमें नाव किनारे गड़े एक खूँटे से बँधी है किन्तु पतवार को जोर-जोर से चलाने का प्रयत्न हो रहा है ।

"जब यात्री दुविधा में होते हैं तो कोई एक उनका मार्गदर्शक बन जाता है । मार्गदर्शन को स्वयं भी यह पता नहीं होता कि उसे जाना कहाँ है तथा न ही रास्ते का कुछ ज्ञान होता है, फिर भी वह मार्ग-दर्शन का उत्तरदायित्व निभाने लगता है । अन्य सभी यात्री भी उसे रास्ते का जानकार तथा अनुभवी मान लेते हैं, उसकी जय-जयकार बोलते हैं, उसकी सेवा करते हैं, आदेश का पालन करते हैं । मार्गदर्शक भी उन्हें मार्ग की जानकारी देते हुए आगे बढ़ता जाता है, अन्ततः मार्गदर्शक के चेहरे पर भी असफलता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं । यात्रियों में फिर निराशा छा जाती है । कोई दूसरा यात्री मार्गदर्शक को पीछे धकेल कर, स्वयं मार्गदर्शक का उत्तरदायित्व संभाल लेता है । इस प्रकार मार्गदर्शक बदलते रहते हैं, यात्रा चलती रहती है, पर कभी भी गंतव्य तक नहीं पहुँच पाती ।

"इस यात्रा से कई बार यात्री ऊब जाता है । कोई पहाड़ की गुफा, कोई नदी किनारा, किसी वृक्ष की शीतल छाया, उसके मन को भा जाती है । वह यात्रा का विचार छोड़कर उसी जगह रम जाता है । उसी में सुख का अनुभव करता है, उसी को अपना गंतव्य मान लेता है, किन्तु मन है कि एक स्थान, या परिस्थिति में रहना ही नहीं चाहता । वहाँ से भी यात्री का मन उखड़ जाता है। वह फिर चल पड़ता है। फिर मार्गदर्शक ढूँढता है, फिर उसकी जय-जयकार करता है । आज्ञा पालता है ।

"यह यात्रा बड़ी विचित्र है । यात्री, प्रत्येक दूसरे यात्री से परिचय पूछता फिरता है जबकि अपने स्वयं से ही अपरिचित है । रास्ता खोजता फिरता है जबकि उसे गंतव्य का पता ही नहीं । यात्रा के साधन जुटाता है जबकि कोई भी साधन साथ नहीं निभा पाता । जिस पृथ्वी पर वह चलता है, एक दिन उसके पाँव के नीचे से खिसक जाती है । जिस वायु में वह साँस लेता रहा है, वह एक दिन अपनी गतिशीलता समेट कर, एक ओर हट जाती है । जिस सूर्य के प्रकाश में वह जीवनभर अंधकार से लड़ता रहा था, एक दिन उसके लिए अस्त हो जाता है । यहाँ तक कि उसका शरीर भी, जिसको उसने अपना अभिन्न अंग माना हुआ था, एक दिन उसका साथ छोड़ देता है ।

"यह यात्रा एक भटके राही की यात्रा है, जिसे अपने घर से निष्कासित कर दिया गया हो, न कोई ठौर-ठिकाना, न कोई आश्रय-दाता, अनन्त आकाश की छाया में एकअकेला, मन में सदैव आश्रय प्राप्त कर पाने की आशा से भटकता-बेसहारा यात्री । उसका प्रत्येक जन्म एक नई आशा के साथ प्रकट होता है तथा प्रत्येक मरण पर, निराशाओं का भारी बोझा सिर

पर लाद कर, जगत से विदा हो जाता है । इसी आशा-हताशा की भूल-भुलैया में वह चक्कर खाता रहता है, बेचारा यात्री, असहाय यात्री, भटका यात्री ।

"इस यात्रा में सफलता प्राप्त करने के लिए, यात्री को इन प्रश्नों का उत्तर अपना हृदय टटोल कर खोजना चाहिए । यदि वह बार-बार असफलता के द्वार पर ही जा पहुँचता है, तो ऐसा क्यों होता है । यदि वह बार-बार ऐसे मार्गदर्शक के चंगुल में जा फँसता है, जिसे स्वयं ही मार्ग तथा गंतव्य का ज्ञान नहीं, तो इसका कारण क्या है, क्यों वह अपने पाँव में पड़े बंधनों से मुक्त होकर उन्मुक्त भाव से यात्रा नहीं कर पा रहा ? आप लाख शास्त्र पढ़ो, सत्संग सुनो, किन्तु इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर, स्वतंत्र चिन्तन द्वारा, अपने अन्तर से ही प्राप्त होगा । शास्त्र अनेक तथा विविध प्रकार के हैं । सत्संग में भी वक्ता के दृष्टिकोण की छाप अवश्य होती है । यह किसी सीमा तक आप के स्वतंत्र चिन्तन में सहायक तो हैं, किन्तु प्रकाश तथा यथार्थ ज्ञान अन्दर से ही उदय होगा ।"

प्रश्न– जब शंकाओं का समाधान तथा ज्ञानोदय अन्तर से ही होगा, तो पढ़ने तथा सत्संग में जाने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर– इससे आपको अन्दर झाँकने की सामग्री मिल जाएगी । गुरु भी अन्दर जाने की ओर इशारा करता है, अन्दर जाने का उपाय सुझाता है, शक्ति को जाग्रत कर, चित्त निर्मलता का मार्ग प्रशस्त करता है, जिससे साधक अपने अन्तर में प्रकाश का अनुभव कर सके, किन्तु ऐसा वही कर सकता है, जो स्वयं भटका हुआ यात्री न हो । अध्यात्म पथ पर आरूढ़ यात्री हो ।

प्रश्न– तो आपका भाव यह है कि यात्रीं को ठीक मार्गदर्शन के लिए गुरु आवश्यक है ?

उत्तर– किसी अपवाद को यदि छोड़ दिया जाए, तो यही कहा जाएगा कि यात्री के अध्यात्म-पथ की ओर मुड़ने के लिए गुरु आवश्यक है । पहाड़ जब एक बार गिरना आरंभ हो जाता है तो गिरता ही जाता है । उसी प्रकार भटका हुआ राही, एक के पश्चात् एक भूल करता जाता है । अन्ततः वह अपने आपको पाप और वासना के ऐसे सघन वन में बेसहारा, अकेला तड़पता पाता है, जहाँ से निकलने के लिए उसे कोई मार्ग सुझाई नहीं देता । जैसे पापी, अपने एक पाप को छुपाने के लिए सौ दूसरे पाप करता है तथा पाप की गहरी खाई में गिरता ही जाता है, वैसी ही स्थिति भटके राही की होती है ।

भटका हुआ यात्री, आवारा पशु के समान होता है, न कोई घर, न ही मालिक, जिधर मुँह उठाया, चल दिया । मनुष्य भी जगत-आकर्षणों के प्रति खिंचता-भागता फिरता है । कभी हाथ में कुछ आता सा लगता है, कभी आया हुआ भी फिसलता सा प्रतीत होता है जैसे कोई आकाश कुसुमों की गठड़ी बाँधने का व्यर्थ प्रयत्न कर रहा हो । यही भ्रम यात्री के जीवन को कष्टमय तथा असंतुलित बना देता है ।

कितने खेद का विषय है कि मनुष्य, भगवान के तुल्य, बीज रूप में सभी शक्तियों के विकास की संभावना अपने अन्दर समेटे हुए भी, पशु के समान व्यवहार करता है तथा मारा-मारा फिरता, जीवन व्यर्थ नष्ट कर देता है । वह चाहे तो सही मार्ग अपनाकर अपने यथार्थ स्वरूप की ओर भी लौट सकता है, किन्तु वह भ्रम में ही भटक रहा है ।

महाराजश्री ने आज की बात यहीं समाप्त कर दी, किन्तु इससे प्रवचन श्रृंखला का एक क्रम आरंभ हो गया । मुझे ऐसा लग रहा था कि आज की बातें मेरे लिए ही कही गईं थीं । संन्यासी होने के उपरान्त मेरे लिए, आत्म-निरीक्षण और भी आवश्यक हो गया था । मैंने मन में गहरे उतरने का प्रयत्न किया तो मुझे अपने अन्दर अनेक विकार दिखाई दे रहे थे । प्रातः समय भ्रमण में, मैंने महाराजश्री से चर्चा की— "महाराजजी, मैं समझता हूँ कि मैं एक भटका हुआ यात्री हूँ, फिर दीक्षा देने का मुझे क्या अधिकार है ? अभी मुझे अपने अन्तर में अनेक दोष दिखाई देते हैं ।"

महाराजश्री ने कहा, "यदि तुम्हें अपने दोष दिखाई देते हैं, तो तुम भटके हुए कैसे हुए ? तुम मार्ग पर आरूढ़ हो । भटका यात्री अपने दोषों की ओर से उदासीन रहता है । रही बात दीक्षा की, तो तुम तो केवल माध्यम हो, जिसके द्वारा दीक्षा मैं दूँगा । तुम्हारा दीक्षा देने का अधिकार, मेरे संकल्प के अधीन है । इसीलिए मैंने तुम्हें कहा था कि गुरु होने का अभिमान नहीं करना, किन्तु तुम अभी तक भी यही समझे बैठे हो कि दीक्षा तुम दोगे ।"

मैंने कहा, "बात करना तो नहीं चाहिए पर जब विषय निकला है तो बात करना पड़ती है । इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक आपका शरीर है, तभी तक दीक्षा कार्य कर सकूँगा ?"

महाराजश्री – "मेरे देह-त्याग के पश्चात् भी मेरा संकल्प कार्य करता रहेगा । क्योंकि वह तुम में स्थापित हो चुका है ।"

इस पर मैंने कहा कि, इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब तक मेरा शरीर है, तभी तक यह परम्परा चलेगी !

महाराजश्री— "नहीं । उसके बाद मेरा संकल्प, तुम्हारे संकल्प के अधीन, तुम्हारे शिष्यों के माध्यम से कार्य करेगा, किन्तु तुम्हारा संकल्प, मेरे संकल्प के द्वारा नियंत्रित होगा । जहाँ गुरुपने का अभिमान मन में उदय हुआ कि यह संकल्प श्रृंखला टूट जाएगी, संकल्प निष्प्रभावी होकर विलीन हो जाएगा ।"

(६६) उपदेशों का सारांश ?

आज सायंकाल को, बहुत सारे लोग एकत्रित हो गए थे क्योंकि महाराजश्री की कल की बातों का मन पर बहुत प्रभाव पड़ा था । लोग आशा कर रहे थे आज भी महाराजश्री, कल

की बात को ही आगे बढ़ाएँगे तथा और भी अधिक प्रभावी चर्चा करेंगे । शाम को महाराजश्री ने कहना आरंभ किया :-

"मनुष्य जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि मानव, जन्म को अमूल्य कहकर भी, मूल्यहीनता में मग्न हो जाता है । आज युग कूटनीतिक चालों से भरा है । हर व्यक्ति का मस्तिष्क चालों, कुचालों तथा चालबाजियों में लिप्त है । हर व्यक्ति स्वार्थ-अभिमान में आकण्ठ डूबा है । यह जानते हुए भी कि जीव के उछल-कूद करने से कुछ नहीं होता, हर व्यक्ति उछल-कूद कर रहा है । सब जानते हैं कि साथ कुछ नहीं जाता, फिर भी संचय में लगे हैं । यह भी जानते हैं कि विषय-भोग का अन्त अतीव-दु:ख है, फिर भी विषय-भोगों के लिए ही भाग रहे हैं । जानते हैं कि कुमार्ग पर चल रहे हैं, फिर भी बढ़े जा रहे हैं ।

"भटके राही को एक ऐसे मार्ग की आवश्यकता है जो उसे गंतव्य स्थान तक पहुँचा सके । एक ऐसी सीढ़ी की आवश्यकता है, जो उसे ऊपर तक ले जा सके । उसे ऐसी नाव की आवश्यकता है जो उसे परले किनारे उतार सके । उसे ऐसा सुख चाहिए, जो उसके दु:खों का सदैव के लिए अन्त कर दे । उसे ऐसा साथी चाहिए, जो कभी भी उसका साथ न छोड़े । उसे ऐसी कृपा चाहिए, जो उसके सभी विघ्नों तथा क्लेशों को सदैव के लिए समाप्त कर दे । उसे ऐसी शक्ति चाहिए, जो जड़ता को भी चैतन्य में बदल देने की शक्ति रखती हो ।

"ऐसी नाव तथा मार्ग, ऐसी सीढ़ी तथा सुख, ऐसी कृपा तथा साथी या शक्ति, जगत में उपलब्ध हो पाना असंभव है । जगत दु:ख क्लेश संताप तो दे सकता है, धोखा-छल-कपट या अविश्वास दे सकता है, नाव को बीच मंझधार में डुबो सकता है, सीढ़ी पर से नीचे गिरा सकता है, या सही मार्ग पर जाते हुए को भटका सकता है । जब जगत स्वयं ही जड़त्व धारण किए बैठा हो, तो वह किसी को चेतन सत्ता कैसे प्रदान कर सकता है ? जबकि यात्री को इन बातों की ही आवश्यकता है । संसार के जड़त्व एवं परिवर्तनशीलता में जीव उलझा ही हुआ है, जगत के मायावी रूप से वह भरमाया हुआ है, उसने कठिनाइयों, पापों तथा दु:खों का बोझ सिर पर लाद रखा है । अब उसे, इन सबसे मुक्त होने की आकांक्षा है । बोझ को सिर से उतार कर किसी वृक्ष की शीतल छाया में, आराम पाने की आवश्यकता है । वह थका-माँदा तथा क्लांत है । उसके पाँव पथरीले—कँटीले रास्ते पर चलते हुए, छलनी हो चुके हैं । उसे ऐसे वैद्य की आवश्यकता है, जो उसके पाँव पर मरहम लगा सके ।

"जिस राही को ऐसा भान होने लगता है कि वह भटका हुआ है तथा उसकी यह भटकन ही उसकी समस्याओं तथा दु:खों की जड़ है, वह इस भटकन को दूर करने के लिए उपयुक्त मार्ग की खोज का कार्य आरंभ कर देता है । इस खोज में वह यात्राएँ करता है, पुस्तकों की छान-बीन करता है, सत्संग सुनता है तथा इस प्रकार विषय को समझने का प्रयत्न करता है । यदि किसी बुद्धिमान व्यक्ति के बारे में सुनता है, तो उसके सानिध्य लाभ के

लिए पहुँच जाता है । जैसे कोई गुम हुई गाय, मार्ग ढूँढने के लिए मुँह उठाए घूमती-तड़पती है, वैसी ही स्थिति ऐसे लोगों की भी होती है ।

"मार्गदर्शन ढूँढने में वही लोग ठगे जाते हैं जो ठगवाने के लिए ही घर से निकलते हैं । जिन्हें जगत की सुख-सुविधाओं की अपेक्षा होती है, जो अपनी जगत विषयक समस्याओं का निराकरण चाहते हैं, या जिन्हें जगत में आसक्ति होती है, उन्हें मार्गदर्शक भी ऐसे ही मिलते हैं जो अपने अनुयायियों की प्रत्येक कामना की पूर्ति कर देने की शक्ति रखने का दावा करते हैं । वह स्वयं तो भटके हुए होते ही हैं, दूसरों को और भी अधिक भटका देते हैं ।

"जिन भटके यात्रियों को सही मार्गदर्शक मिल जाता है तो यह उनका सौभाग्य ही है । किसी मार्गदर्शक की शरण ग्रहण करने में जल्दी नहीं करना चाहिए । प्राय: लोग मार्गदर्शकों के बाहरी आडम्बर, लटकों-झटकों तथा वाक्पटुता में उलझ जाते हैं । यात्री के लिए यह निर्णय लेना जीवन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना होती है, जिसका मानसिक स्थिति के साथ भी घनिष्ठ संबंध होता है । यदि भूल हो जाय, तो उसका परिणाम मानसिक ग्लानि के रूप में प्रकट होता है । इसलिए मनुष्य को इस विषय में बड़े सावधान होने की आवश्यकता है । उसे अपने मार्गदर्शक को भी सोचने—समझने का अवसर देना चाहिए । आंखें बन्द करके तथा भावातिरेक में आकर आग्रह करने लग जाना, उचित नहीं ।

"मनुष्य को अध्यात्म-पथ पर चलते समय, प्रत्येक कदम फूँक-फूँक कर रखना होता है । उसका सर्वप्रथम काम है, प्रारब्ध से पीछा छुड़ाना । प्रारब्ध से ही वह बँधा है, प्रारब्ध से ही प्रेरित है, प्रारब्ध ही उसे रुलाता-हँसाता है, प्रारब्ध ही उसके अभिमान को पुष्ट करता है तथा बढ़ाता है । प्रारब्ध ही जीव को आवागमन के दो पाटों में पीसता है । प्रारब्ध स्वयं अदृश्य है पर उसके परिणाम दृश्य हैं । प्रारब्ध एक ऐसा भूत है जो स्वयं भी नाचता रहता है तथा अपने साथ जीव को भी नचाता रहता है । प्रारब्ध जीव को सोचने, समझने का अवसर ही नहीं देता । वह अध्यात्म पथ का प्रथम तथा सशक्त विघ्न तथा प्रतिबंध बन कर खड़ा है ।

"जब तक कर्त्तापन का भाव जीवित है तब तक प्रारब्ध मर नहीं सकता । प्रारब्ध का एक सिर काटा जाए, तो कर्त्तापन दूसरा उत्पन्न कर देता है । किसी प्रकार एक संस्कार से निवृत्त हुआ जाए, तो कर्त्ताभाव दस नए संचित कर देता है । प्रारब्ध कर्त्ताभाव को बनाए रखता है, तो कर्त्ताभाव प्रारब्ध को । चित्त रूपी नगरी पर इन दोनों असुरों का राज्य स्थापित है, जो मन में मनमाने संकल्प उदय करवाकर, इन्द्रियों द्वारा होने वाले कर्मों को अपने काबू में रखते हैं । प्रारब्ध की ही भाँति कर्त्ताभाव भी अदृश्य रहकर मार करता है । कितना कठिन कार्य है ऐसे शत्रुओं से युद्ध करना, जो सामने दिखाई न देते हो छुपकर वार करते हों । जीव को ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई अदृश्य हाथ उसे धकेलता हुआ, किसी दिशा में लिए जा रहा है ।

"यदि जीव थोड़ा भी विवेक से काम ले, तो प्रारब्ध तथा कर्त्ताभाव रूपी दोनों असुरों की कुछ कल्पना कर सकता है, समझ सकता है । उनके क्रियाकलापों को जान सकता है । तीर चलाने वाला सामने न होते हुए भी, तीर आता दिखाई दे जाता है । मन में संकल्प किसने उदय किया, यह पता नहीं होने पर भी संकल्प को मन में उदय होता हुआ अनुभव किया ही जा सकता है । प्रारब्ध सामने नहीं होते हुए भी उसका फल, सुख-दुःख तो सामने होता ही हैं । यदि इतना भी हो जाय, तो भटके राही को दिशा निर्धारण का आधार मिल जाता है ।

"विवेक के उपरोक्त आधार को अनुभव का रूप देना मार्ग दर्शक (गुरु) का कार्य है । इस अनुभव को आरंभ करा देना ही शक्तिपात् कहलाता है । शक्तिपात् साधना को कर्त्तापन के स्तर से उठाकर, द्रष्टाभाव के स्तर पर स्थापित कर देता है, तब मानसिक स्तर पर कर्त्ताभाव के सभी संकल्प तथा प्रारब्ध का फल दुःख-सुख, अपने से पृथक दिखाई देने लगते हैं । इसमें जहाँ एक ओर क्रियाओं के माध्यम से संस्कार क्षीण होने लगते हैं, वहीं प्रारब्ध निर्माण के कार्य को भी रोक लग जाती है तथा कर्त्ताभाव के कमजोर होते जाने का मार्ग भी प्रशस्त हो जाता है । साधन वही है जो मिथ्या कर्त्तापन के अभिमान के आवरण को उतारकर, राही को प्रारब्ध क्षय के आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर आगे ले जाय । स्वाध्याय तथा भावनात्मक साधनाएँ, वृत्ति को मोड़ने का केवल प्रयत्न हैं, किन्तु वृत्ति का मुड़ना तभी आरंभ होता है, जब द्रष्टाभाव का अनुभव प्राप्त होता है ।

"एक कठिनाई फिर भी बाकी रह जाती है । साधन में प्राप्त द्रष्टाभाव का व्यवहार में कैसे उपयोग करना, तथा उससे अधिकाधिक आध्यात्मिक लाभ कैसे उठाना, साधकों को यह समझ नहीं आता । वह कर्त्तापन के अभाव को अनुभव करके भी, उसे जीवन में उतार पाने में असमर्थ रह जाते हैं । सही मार्ग पर आकर भी वह आगे नही बढ़ पाते । इसके पश्चात भी न तो संस्कार संचय रोक पाते हैं, न ही प्रारब्ध निर्माण के क्रम को । उपाय तो मिल जाता है पर लागू नहीं हो पाता । चाबी तो मिल जाती है, पर ताला नहीं खुलता, बादल तो घिर आते हैं पर बरसते नहीं ।वाहन उपलब्ध हो जाता है, पर वह चलता नहीं ।

"पहले यात्री के पास केवल कर्त्ताभाव एवं प्रारब्ध ही थे, अब उसमें द्रष्टाभाव भी सम्मिलित हो गया है । एक पाँव नाव में रख दिया है, दूसरा पृथ्वी से अभी उठाया नहीं । चैतन्य की ओर मन अभिमुख तो हो गया है किन्तु जड़त्व भाव का त्यागना अभी शेष है । प्रातः काल का समय है, प्रकाश होने को है, पर अंधेरा अभी दूर नहीं हुआ ।

"एक पाँव उठाकर नाव में रख तो दिया परन्तु दूसरा पाँव उठाकर रखना बड़ा कठिन है । हम सोचते हैं कि कोई ऐसा उपाय निकल आए, जिससे हमें नाव में सवारी का आनन्द भी मिले तथा पृथ्वी का त्याग भी न करना पड़े । जगत का आनन्द भी लूटते रहें तथा अध्यात्म में उन्नति भी होती रहे । जब तक आप नाव में सवार नहीं हो जाते, नाव चलेगी

कैसे ? किनारे से बँधी नाव जल-विहार कैसे कर सकती है ? पर जगत के प्रति आसक्ति इतनी प्रबल होती है कि छोड़ने का मन ही नहीं होता । विवेक के परिणाम का अनुभवात्मक ज्ञान हो जाने पर भी, आसक्ति के संस्कार कहीं चले नहीं जाते । उन्हें साधन, सेवा तथा सहनशीलता से समाप्त करना होता है, जो कि एक लम्बी प्रक्रिया है ।

प्राय: साधक, जीवन के इसी मोड़ पर सारा समय व्यतीत कर चल देते हैं । नाव धीरे-धीरे हिचकोले खाती रहती है, जिससे शरीर के हिलते रहने से साधक को जितना आनन्द आता है, उसी को परमानन्द मान लेता है । यह नहीं समझता कि यह तो आरंभ भी नहीं है । केवल आनन्द की छोटी सी झलक है । अभी तो नाव किनारे पर ही बँधी है । पहाड़ के दूसरी ओर के अनन्त प्रकाश की, वह भी दूर से ही केवल एक झलक ही मिली है । अभी तुम्हारे तथा आनन्द के बीच वासनाओं तथा भ्रम का विशाल पर्वत खड़ा है । अभी तो एक पाँव पृथ्वी पर ही है । जिस प्रकार कोई व्यक्ति, कोई सुन्दर तथा विशाल महल देखने जाये तथा उसके अन्दर प्रवेश करे ही नहीं, किन्तु महल के बाहरी दरवाजे की सुन्दरता देख कर ही मुग्ध हो जाए, वहीं अवस्था ऐसे साधक की है जो साधन के प्रारंभिक आनन्द को ही सर्वानन्द मान लेता है तथा आगे बढ़ने की कोई आवश्यकता ही नहीं समझता ।

"जिस प्रकार छलनी में से छनकर थोड़ा सा प्रकाश ही दिख पाता है, उसी प्रकार वासनाओं से भरे चित्त में से, प्रारंभिक अवस्था में, आत्मप्रकाश की एक झलक ही दिख पाती है । वास्तव में यह प्रतिबिम्ब भी नहीं, अपितु प्रतिबिम्ब का भी प्रतिबिम्ब होता है । जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश चन्द्रमा पर प्रतिबिम्बित होता है तथा चन्द्रमा से पुन: प्रतिबिम्बित होकर पृथ्वी तक पहुँचता है । आत्मा की चैतन्य शक्ति चित्त को चैतन्यवत् प्रकाशित एवं क्रियाशील करती है । वहाँ से पुन: प्रतिबिम्बित होकर संस्कारों को प्रकाशित तथा मन इन्द्रियों के आधार पर क्रियाशीलता प्रदान करती है । साधक को आरंभ में उसकी क्रियाशीलता के आनन्द की अनुभूति होती है । साधन के प्रारंभिक अनुभव, चैतन्य के प्रतिबिम्बित स्वरूप की क्रिया का अनुभव मात्र हैं । वह भी संस्कारों के आधार पर । यदि इतने से ही कोई संतुष्ट हो जाए तो उसे क्या कहा जा सकता है ?

"साधन की अन्तर्यात्रा बहुत लम्बी तथा कठिन है, जिसमें अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है, संभल-संभल कर पाँव रखना होगा । जरा भी भटके कि फिसले । बड़ी कठिन चढ़ाई है । मनुष्य अपने बल पर चढ़ ही नहीं सकता । कोई हाथ पकड़कर ले जाए, तभी यह संभव है। इसके लिए अन्तर चैतन्य सत्ता के प्रति पूर्ण समर्पण की आवश्यकता है ।"

मैं यह सब बातें बड़े ध्यान से सुन रहा था । यह सब सुनकर मैं भयभीत हो उठा । अब मेरे ऊपर दोहरा उत्तरदायित्व था, अपना साधन भी करना तथा दूसरों को मार्गदर्शन भी

देना । लड़ाई भी लड़ना तथा सेना को भी बचाना । इसके लिए आत्मनिरीक्षण करते रहना कितना आवश्यक है । अभिमान लट्ठ लेकर पीछे लगा है, बड़े-बड़े योद्धा धराशायी होते जा रहे हैं । अपने समान किसी को न समझने की वृत्ति ने सबको दबोच रखा है । रास्ता भटककर भी कोई यह नहीं समझ रहा है कि वह रास्ता भटका हुआ है । सभी स्वार्थ साधना में व्यस्त हैं ।

जब महाराजश्री अपने कमरे में अकेले बैठे थे तो मैंने पूछ ही लिया, "महाराजजी, अभी तक मुझे अपने आप पर विश्वास नहीं हो पा रहा । चित्त की कोई तैयारी नहीं, साधन-संयम का अभाव है । अपना मन ही नहीं मानता तो दूसरों को क्या मार्गदर्शन दे पाऊँगा ! उस पर भी आपने उत्तराधिकार का उत्तरदायित्व तथा दीक्षा देने का कठिन कार्य सौंप दिया है, मैं कैसे निभा पाऊँगा !"

महाराजश्री मुस्कराये, फिर कहने लगे, "तुम अभी तक भी अभिमान के घेरे से बाहर नहीं आ पा रहे हो । अभी तक भी तुम स्वयं गुरु बन जाने का अभिमान लिए बैठे हो, जबकि मैं तुम्हें समझा चुका हूँ कि तुम गुरु हो ही नहीं । केवल गुरु का कार्य करने का माध्यम हो । लोगों के सामने अवश्य ही तुम गुरु के रूप में रहोगे, किन्तु गुरु कार्य करने वाली शक्ति तुम से पृथक है । तुम एक ऐसे Transformer की तरह हो जो स्वयं बिजली का उत्पादन नहीं करता, केवल बिजली वितरित करता है । गुरुतत्व के प्रवाह को जगत के कल्याण की दिशा प्रदान करता है । यदि कोई भूल से ट्रांसफार्मर को ही उत्पादन केन्द्र समझ ले, तो दोष तुम्हारा नहीं । इसलिए तुम्हें डरने की कोई आवश्यकता नहीं ।हाँ ट्रांसफार्मर का उत्पादन केन्द्र से जुड़े रहना आवश्यक है, अन्यथा वह वितरित क्या करेगा ? यदि गुरु में, गुरुपने का अभिमान आ जाए, तो इसका अर्थ है उत्पादन केन्द्र से संबंध विच्छेद हो जाना । तभी ट्रांसफार्मर वितरण कार्य बन्द कर देता है । अभिमान ही गुरुतत्व के उत्पादन, वितरण तथा अनुभव में बाधक है। गुरुतत्व की इन्द्रियाँ तथा मन नहीं हैं इसलिए वह किसी मन-इन्द्रिययुक्त व्यक्ति के माध्यम से प्रकाशित होता है । गुरु केवल गुरु है, गुरु तत्व नहीं है । सद्गुरु का गुरुतत्व से संबंध तथा संपर्क अधिक होता है किन्तु वह भी गुरुतत्व के प्रकाश का माध्यम ही है, गुरुतत्व नहीं । संक्षेप में इस बात को इस प्रकार समझ लो कि जिस किसी के भी मन-इन्द्रियाँ हैं, वह गुरु तत्व से भिन्न है । अभिमान मन में होता है, जबकि गुरुतत्व का मन है ही नहीं । जब तक तुम्हारा संबंध मन से है तब तक तुम्हें भय, दुविधा तथा शंका है, गुरु तत्व से संपर्क रखोगे, तो यह सब अपने आप समाप्त हो जाएगा ।

"यह बात केवल गुरुओं पर ही लागू नहीं होती, वरन् प्रत्येक साधक की यही स्थिति है । यदि विचार किया जाए तो साधन है क्या ? अपना पृथकत्व भाव समाप्त कर गुरुतत्व के साथ जुड़ जाना ही तो साधन है । इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वासना-क्षय,

संस्कार-क्षय तथा वृत्तियों का शुद्धिकरण किया जाता है, ताकि मनुष्य राग-द्वेष, काम-क्रोध-लोभ, दुविधाओं तथा संशयों से दूर हो सके, क्योंकि शुद्ध मन ही गुरुतत्व के अभिमुख होने में समर्थ होता है ।"

प्रश्न– तो गुरु बनने की इच्छा नहीं रखनी चाहिए ?

उत्तर– गुरुपद, गुरु बन कर पुजवाने के लिए नहीं है । गुरु अपने शिष्य विशेष पर, गुरुपने का भार डालकर, उसे सेवा का अवसर प्रदान करते हैं । वह जिसे चाहें, यह अवसर देते हैं । इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि जिसे यह अधिकार, या सेवा कार्य सौंपा जाए, वह उनका सर्वोत्तम शिष्य ही हो । संभव है गुरु अपने सर्वोत्तम शिष्य से, यह सेवा लेना किसी कारण उपयुक्त न समझें । उत्तराधिकार के बारे में भी यही बात है । यदि गुरु चाहेंगे तो अपने आप किसी शिष्य विशेष को गुरु कार्य करने के लिए कह देंगे । साधक का अपनी ओर से गुरु बनने की इच्छा करना, साधन में विघ्न है ।

प्रश्न– किन्तु गुरु न बनने की इच्छा करना ?

उत्तर– यदि गुरु, शिष्य को गुरुकार्य सौंपना चाहें तो शिष्य का गुरु न बनने की इच्छा करना भी विघ्न है । शिष्य का अतीत तथा भविष्य, गुरु से कुछ भी छुपा नहीं होता, अतः गुरु इच्छा के अनुसार चलने में ही शिष्य का भला है ।

(६७) उपदेशों का सारांश-२

अगले दिन उसी विषय पर महाराजश्री ने कहना आरंभ किया:-

"भटका हुआ यात्री ऐसा बे सुध-बुध हो जाता है कि उसे यह भी ध्यान नहीं रहता कि वह कौन है तथा उसके पास क्या है ? बस वह काल्पनिक सुख-भोगों के पीछे भ्रमित रहता है । भव रोग एक ऐसा रोग है, जिसकी औषधि हर समय रोगी के पास होती है, पर वह अपनी जेब टटोल कर देखना भूला रहता है । वह यह समझ ही नहीं पाता कि जगत-सुख उस की अपनी अन्तर्शक्ति का ही प्रतिबिम्ब मात्र है तथा एक दिन उसे अन्तर की ओर ही लौटना है क्योंकि यही दुःखों से छुटकारे का उपाय है । अन्तर की ओर देखने में प्रारब्ध तथा कर्त्ताभाव यही दो बाधा बने खड़े हैं, अर्थात रोग भी अन्दर है तथा उसका उपचार भी अन्दर ही ।

गुरु का कार्य अन्तर्तम को दूर कर, मन को प्रकाशित करना है । जगत के अभावों तथा इच्छाओं की पूर्ति कर, अधिक आसक्त बनाना नहीं । जगत में जो कुछ प्राप्त होना होता है, वह तो प्रारब्धानुसार मिलता ही है, साधक के लिए अनासक्त भाव से काम ही कर्त्तव्य है । अन्तर्यात्रा के लिए मार्गदर्शन, सहारे एवं संशय निवृत्ति के लिए ही गुरु की आवश्यकता है ।"

"यदि साधक के मन में यह दुविधा हो कि वह सेवा भी करे तो किसकी ? जो साधन वह कर रहा है, वह उपयुक्त तथा सही मार्ग पर है भी कि नहीं ? तो इन संशयों की निवृत्ति के

लिए उसे सद्‌गुरु की शरण में जाना चाहिए, क्योंकि जीव की कठिनाइयों तथा विवशताओं, साधन की जटिलताओं एवं साधन में सहायक अंगों से, वह भली भाँति परिचित हैं । गुरु के समक्ष साधक को, मन की सभी बातें, भूलें, दुविधाएँ तथा संशय निवेदन कर देना चाहिए तथा मन को अभिमान रहित स्थिति में लाकर, हृदय के समस्त भावों को गुरुचरणों में समर्पित करते हुए, एकाग्र चित्त होकर, गुरु कथन श्रवण करना चाहिए । सच्चा गुरु कभी भी स्वार्थी तथा लोभी नहीं होता, वह सदैव शिष्य का हित-चिन्तन ही करता है, उदार, संयमी तथा दीर्घ दृष्टि संपन्न होता है, डूबते जीवों को पार लगाने की सामर्थ्य रखता है । श्री चरणों में समर्पण ही शिष्य का कर्त्तव्य है ।

प्रश्न– किन्तु ऐसे गुरु सर्वसुलभ नहीं है, फिर सामान्य मनुष्य क्या करें ? यदि गुरु के मन में कुछ और हो, तथा ऊपर से कुछ दूसरी बात करे, तो क्या किया जा सकता है !

उत्तर– हमने सच्चे गुरु शब्द का प्रयोग किया है, जिसमें ऐसे विकारों की कल्पना नहीं की जा सकती । हां यह हो सकता है कि शिष्य के हित में, गुरु कोई विशेष बात तत्काल बतलाना; उचित न समझते हों, उसे अभी मन में ही रखें । उसमें शिष्य के कल्याण का भाव ही रहता है ।

"रही बात सच्चे गुरु की सुलभता की, तो इसीलिए तो हम कहते हैं कि गुरु वरण करने में जल्दी नहीं करना चाहिए । यदि कोई सच्चे मन से, सच्चे गुरु की खोज करता है तो उसे अवश्य सच्चा गुरु भी मिल जाता है क्योंकि वह भी सच्चे शिष्य की तलाश में होता है । यह कठिनाई उन लोगों के लिए है जो वासनाओं से मन को दूषित करके जगत- सुखों की प्राप्ति के लिए, गुरु को खोजते हैं । सत्य को सत्य मिल जाता है तथा असत्य का बार-बार असत्य से ही सामना होता है ।

मैं संन्यास ग्रहण कर चुका था, लोग संभवतया अब मुझे एक महात्मा के रूप में देखने लगे थे, किन्तु अभी भी गुरु महाराज के प्रति मन में वैसा समर्पण विकसित नहीं हो पाया था । बात करते समय, कुछ बात मन में छुपा लेने के स्वभाव से उभर नहीं पाया था । अन्तर की सारी मलीनता व्यक्त कर देने का साहस मुझमें नहीं था । बात करता भी था तो कुछ घुमा-फिराकर ही । यह तो वही बात हुई जैसे कोई दर्पण के सामने जाकर, अपने मुँह पर लगी कालिख को छुपाने का प्रयत्न करे । छुपा लेने से कालिख मिट नहीं जाती । हाँ, देखने वाले को यह संतोष अवश्य हो जाता है कि मुझे अपनी कालिख दिखाई नहीं दे रही है । मैं हृदयविहीन होकर, बुद्धि कौशल का प्रयोग अधिक करता था । इन विचारों से मैं विचलित हो उठा तथा भाग कर सीधा महाराजश्री के कमरे में घुस गया। फिर भी मैं अपने बुद्धि-कौशल के स्वभाव को नहीं त्याग सका तथा बात को घुमा-फिरा कर ही बात आरंभ करना चाहता था, किन्तु पहले बैठे एक सज्जन ने प्रश्न कर दिया–

"शास्त्रों तथा संतों ने गुरु को भगवान कहा है, तो भगवान से कोई भी बात कैसे छुपाई जा सकती है ? फिर यह भी है कि भगवान कोई व्यक्ति नहीं है जबकि गुरु का व्यक्तित्व होता है, फिर उसे भगवान भी कैसे कहा जा सकता है ?"

महाराजश्री बोले, "गुरु तत्व तथा गुरु का अन्तर न समझ पाने के कारण ही यह सारी दुविधा है । अन्तर्गुरु के रूप में गुरु तत्त्व सब में विराजमान है, किन्तु उसे अन्तर में नहीं देख पाने के कारण गुरु शरीर में ईश्वर की कल्पना करना पड़ती है तथा उसके माध्यम से अन्तर में गुरु को अनुभव किया जाता है । गुरु तत्व सर्वव्यापक होते हुए भी, सभी वस्तुओं-पदार्थों में उसे अनुभव करना कठिन है, किन्तु गुरु शरीर के माध्यम से, पहले अन्तर में तथा फिर उसकी सर्वव्यापकता को अनुभव किया जा सकता है ।

"दूसरी बात, गुरु से बात छुपाने की, तो शिष्य गुरु के पास जाता है तो उसे एक व्यक्ति समझ कर जाता है या भगवान समझकर ? यदि वह गुरु को भगवान मान कर जाता है तो उसका लक्ष्य गुरु शरीर में व्याप्त ईश्वर पर होता है, न कि गुरु शरीर पर । वही ईश्वर गुरु-तत्त्व के रूप में, शिष्य के अन्दर पहले से ही विराजमान है, फिर उससे कोई बात छुपाई कैसे जा सकती है ? हाँ, बात छुपाने का अभिनय करके, संतोष अवश्य कर लिया जा सकता है ।"

प्रश्न– यदि गुरु-तत्व की कल्पना ही करना है तो अपने शरीर के अन्दर भी की जा सकती है ?

उत्तर– अवश्य की जा सकती है, यदि कोई कर सके तो, किन्तु मनुष्य का मन बहिर्मुख होने से वह अन्तर्मुख होने में कठिनाई अनुभव करता है तथा बाहर ही भागता है । इसलिए अपने से भिन्न व्यक्ति में ईश्वर की कल्पना कहीं अधिक सरल होती है ।

प्रश्न– यदि बाहर कल्पना करना सरल है तो माता या पिता में ही क्यों न कर ली जाए ?

उत्तर– अवश्य की जा सकती है, उस अवस्था में माता या पिता गुरु हुए, बात एक ही है, किन्तु माता-पिता को बच्चे से मोह हो सकता है । वह संतान का आध्यात्मिक हित नहीं भी देख सकते । उनकी संतान के मन में भी मनुष्यत्व का भाव परिपक्व हो गया होता है, इसलिए ईश्वर रूप में उनकी कल्पना करना कठिन है । फिर भी यदि कोई कर सके, तो कोई आपत्ति नहीं ।

किन्तु बात केवल शिष्य की कल्पना तक ही सीमित नहीं है । गुरु योग्य तथा सामर्थ्यवान होना भी आवश्यक है । उसे गुरु-तत्व की स्वयं अनुभूति होना तथा शिष्य को ऐसी अनुभूति करवा सकने में सक्षम भी होना चाहिए । गुरु-शिष्य संबंध का आधार पारमार्थिक होता है । किसी भी ओर मोह, आसक्ति या जगत की आशा नहीं होती । इसलिए

एक मान्यता ऐसी भी है कि माता-पिता यदि योग्य तथा सामर्थ्यवान भी हों, तो भी गुरु कोई दूसरा होना चाहिए ।

जब गुरु में भगवद्भावना दृढ़ हो जाती है, तो बात छुपाने का प्रश्न अपने आप समाप्त हो जाता है । यदि कोई छुपाता भी है तो भगवान को व्यर्थ ही धोखा देने का प्रयत्न करता है, क्योंकि गुरु तत्व पहले से ही मन के प्रत्येक भाव तथा विचार का साक्षी है । गुरु-तत्व , चित्त में छुपी उन वासनाओं तथा संस्कारों से भी परिचित है, जिन्हें मनुष्य स्वयं भी नहीं जानता, जब तक कि वह उदार होकर मन को तरंगित न कर दें ।

मेरे प्रश्न का उत्तर मुझे मिल गया था, किन्तु चित्त खिन्नता से भर गया कि मैं इतना अभागा हूँ कि नदी किनारे आकर भी प्यासा ही बैठा हूँ । संन्यास लेकर भी, गुरु महाराज के प्रति समर्पित न हो सका । कबीर, मीरा, सूर तथा तुलसी का कैसा अनूठा समर्पण था । कहने को तो यह संत मेरा आदर्श थे, किन्तु यह सब कहने के लिए ही था । स्वामी शंकर पुरुषोत्तम तीर्थ महाराज की कैसी अनुपम गुरु भक्ति थी । एक मैं हूँ जो हृदय की बात को भी, गुरु महाराज से छुपा-छुपा कर रखता हूँ । यह अभिमान नहीं तो क्या है ?

मैं कुछ बोला नहीं, चुपचाप आकर अपने कमरे में पड़ गया । सोचने लगा कि गुरु कृपा से ऐसा प्रत्यक्ष-साधन मिला, दिव्य अनुभूतियाँ हुईं, फिर भी मेरे अन्तर का अभिमान ज्यों का त्यों है । कब कैसे छुटकारा प्राप्त होगा, इस अभिमान से ? कहाँ त्रुटि है मेरे साधन में ? बड़ा सेवक बनता हूँ, यह है मेरी सेवा ? क्या इसी को अध्यात्म या परमार्थ कहते हैं ? क्या यही लक्षण हैं उन्नति के ? इन्हीं विचारों में न जाने कब तक गुम रहा ।

(६८) उपदेशों का सारांश-३

महाराजश्री को मेरी मनःस्थिति का न जाने कैसे आभास हो गया । दूसरे दिन वह वराण्डे में बैठे थे । बातचीत में कहने लगे, "कई लोग कुछ बातों को लेकर, बहुत परेशान हो जाते हैं । मैं कई बार इस बात को कह चुका हूँ कि आध्यात्मिक उत्थान की आन्तरिक यात्रा बहुत ही लम्बी है, जिसमें साधक के बार-बार गिरने की भी संभावना है । ऐसा कोई साधक नहीं हुआ, जो बार-बार न गिरा हो । आसक्ति एवं अभिमान के संस्कार इतने गहरे बैठे हैं कि मनुष्य को नीचे की ओर खेंचते ही रहते हैं ।

"मनुष्य को न अपने पर विश्वास है, न ईश्वर पर । न स्वयं के सहारे उठ पाने की हिम्मत रखता है, न ही मन में यह दृढ़ विश्वास है कि प्रभु कृपा करके मुझे अवश्य उठा लेंगे । ऐसे लोग ही गिरने पर चिन्तातुर हो जाते हैं । भक्त के मन में तो ऐसा दृढ़ भरोसा होना चाहिए कि जिस प्रभु की सर्वशक्तिमत्ता तथा कृपा के सहारे मैं कभी भवसागर में कूद गया था, वह प्रभु-कृपा आज भी है । मैं जानता था कि सागर असीम गहरा है, किन्तु समय पड़ने पर

भगवान अवश्य बचा लेंगे, ऐसा विश्वास था । जब माया के गर्त में गिरने पर नहीं घबराए तो अब छोटी-मोटी गिरावटों से क्या डर ? गिरने से नहीं डरो, दोबारा नहीं उठ पाने से डरो ।

"यदि कभी गिर भी पड़ो, तो गिरे हुए ही मत पड़े रहो । गिरे पड़े रहना संसारियों का काम है, उन्हें गिरे रहने में ही आनन्द आता है । साधक वही है जो गिरते ही, उठने के प्रयत्न में फिर जुट जाता है । मनुष्य गिरता तभी है जब मन में गिरावट आती है । उसके लिए मन में तम-रज के संस्कारों का होना आवश्यक है । तब वैसी ही बाहर अनुकूलताएँ उपस्थित हो जाती हैं तथा वैसे ही मन में संकल्प उठने लगते हैं । वैसी ही बुद्धि हो जाती है तथा वैसे ही दृश्य दिखाई देने लगते हैं । भगवान तो ऐसे संस्कारों का उदय कर, उन्हें क्षीण करने का अवसर प्रदान कर, मनुष्य पर कृपा करते हैं, यदि मनुष्य ही अवसर का लाभ न उठा कर लुढ़क जाए, तो भगवान क्या करें ? कभी-कभी मनुष्य लुढ़कता हुआ, गर्त की कगार तक चला जाता है, कभी गर्त में फिसल जाने की स्थिति आ जाती है तो कभी गिर ही पड़ता है । यह सब मनुष्य की मानसिक अवस्था, कठिनताओं का सामना करने की क्षमता तथा संस्कारों के वेग पर आधारित है कि मनुष्य ऐसे समय में क्या करता है ?

"अध्यात्म का विषय अत्यन्त सूक्ष्म है जबकि मनुष्य का चित्त मलीन तथा संशयग्रस्त है ; भ्रमित एवं जगदाभिमुखी है । अध्यात्म अन्दर की ओर संकेत करता है, तो मनुष्य बाहर की ओर भागता है । ऐसे में प्रारब्ध के स्वरूप तथा कर्म के मर्म को समझ पाने में कठिनाई होती है । तर्क-कुतर्क करके, अपने आपको और भी उलझा लेता है । जब गिरता है तो गिरता ही चला जाता है, या अपने मन को गिराकर बैठ जाता है ।

"अपनी चैतन्य-शक्ति से युक्त ईश्वर प्रत्येक जीव में विद्यमान है, वह जीवन ही नहीं, जीवन संचालन के लिए शक्ति भी प्रदान करता है । बुद्धि कोई विचार ही नहीं कर सकती थी, यदि वह ईश्वरीय चेतना से युक्त नहीं होती, न ही हृदय में कोई भाव ही उत्पन्न हो पाता तथा न ही मन कोई संकल्प-विकल्प करता । यहाँ तक कि संस्कार संचय करने तथा प्रारब्ध का फल भोगने के लिए भी, ईश्वरीय शक्ति की आवश्यकता होती है । क्या मृत-व्यक्ति का संस्कार संचय होता है, या वह कर्म-फल भोगता है ? भूख लगना, खाना तथा पचाना, श्वास-प्रश्वास की क्रिया होना, नस-नाड़ियों में रुधिर प्रवाहित होना, कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों का क्रियाशील होना, काम-क्रोध-लोभ आदि विकारों का मन को तरंगित कर देना, सब संचित संस्कारों के आधार पर, ईश्वरीय शक्ति की ही क्रियाएँ हैं । मनुष्य का चित्त, इन्द्रियाँ तथा देह, केवल आधार है । इसलिए शास्त्र तथा संत यही कहते हैं कि जो कुछ करता है, ईश्वर करता है, क्योंकि शक्ति के अभाव में कोई क्रिया नहीं हो पाती तथा शक्ति ईश्वर के ही पास है ।

"किन्तु ईश्वर कर्त्ता होकर भी, अकर्त्ता ही रहता है । ईश्वर का कोई प्रारब्ध नहीं, मन, इन्द्रियां या शरीर नहीं, यह सब जीव के हैं । इसलिए ईश्वर को न कोई फल भोगना पड़ता है,

न कोई कर्म करता है । वह कृपा करके केवल जीवन संचालन के लिए शक्ति प्रदान करता है । जैसा जीव का भाव, प्रारब्ध तथा वासना होती है उसी के अनुरूप मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों को चलाता है, किन्तु जीव ईश्वरीय शक्ति की क्रियाशीलता को भूलता जाता है, फिर कर्त्ताभाव के मिथ्या आवरण को ओढ़कर स्वयं कर्त्ता होने का दिखावा करने लगता है । अभिमान के पीछे सभी अन्य विकार भी अपने आप चले आते हैं । प्रारब्ध बनता जाता है । कर्त्ता ईश्वरीय शक्ति है, पर क्रिया का अभिमान जीव करता है, जबकि शक्ति को कोई अभिमान नहीं हैं । इसीलिए शक्ति का कोई संस्कार संचय नहीं होता, मिथ्या अभिमान होने से जीव का संस्कार संचय हो जाता है ।

ईश्वरीय शक्ति की क्रियाशीलता को अनुभव करना, अध्यात्म की प्रथम सीढ़ी है । मैं पहले भी प्रारब्ध तथा कर्त्ताभाव पर बहुत कुछ कह चुका हूँ । इन दोनों के क्षय का आरंभ इसी अनुभव से होता है । जब हमारा मन अभिमान के स्तर तक नीचे उतरता है, तभी हम गिरते हैं । तभी हम को चिंताएं घेर लेती हैं । तभी हम इच्छाओं के बंधन में आ जाते हैं ।

"किसी बात पर चिंतित हो जाने का अर्थ ही यही है कि साधक का ध्यान, सभी घटनाओं में शक्ति की क्रियाशीलता से हट गया है । उसका द्रष्टाभाव विलुप्त होकर, कर्त्ताभाव उभर आया है । यदि साधक फिर से अपने-आप को द्रष्टाभाव में स्थिर कर ले, तो तत्काल उसकी सभी चिन्ताएँ तथा मानसिक गिरावटें विलुप्त हो सकती हैं ।

"चित्त पर कार्यशील ईश्वरीय शक्ति के भिन्नत्व का अनुभव नहीं होने से तथा अभिन्नत्व के भ्रम के कारण ही, जीव की सभी समस्याएँ सिर उठाती हैं । यह भिन्नत्व का अनुभव ही शक्ति जाग्रति कहा जाता है, जिसके लिए गुरु-कृपा की आवश्यकता है । चित्त से शक्ति के भिन्न होने के अनुभव के साथ ही चित्त के आधार पर शक्ति का कार्य, उसके द्वारा संस्कार संचय, प्रारब्ध निर्माण, उदय होने वाली वासनाएँ तथा वृत्तियाँ, भाव तथा संकल्प सभी कुछ चित्त से भिन्न दिखाई देने लगते हैं । इस प्रकार चित्त, शक्ति तथा चित्त पर होने वाले परिणाम, सब का द्रष्टा साधक अर्थात् जीव बन जाता है । कल्पना करो कि यह स्थिति संसारी जीवों की अपेक्षा कितनी भिन्न है ! जब कोई समस्याओं, चिन्ताओं को अपने से भिन्न देखता है, तो द्रष्टा की वैसी स्थिति होती है जैसे कोई चल-चित्र देख रहा हो । वह चिन्तामुक्त हो जाता है ।

"इसमें कठिनाई यह है कि साधक इस भाव को स्थिर नहीं रख पाता । केवल साधन के समय ही यह भाव उभरता है । कई बार तो साधन के समय भी, जब चिन्ताओं के संस्कार उदार होकर क्रिया रूप धारण करते हैं, तो साधक अपने द्रष्टा भाव का त्याग कर, कर्त्ताभाव को धारण कर लेता है तथा अपने आप को चिन्ताओं में रँग लेता है । साधन से उठने के पश्चात् तो साधक द्रष्टाभाव को तिलांजलि दे ही देते हैं तथा शुद्ध संसारी के रूप में, आसक्त

होकर आचरण करते हैं । कुछ भी हो, शक्ति, जाग्रति के साथ आशा की, प्रकाश की तथा यथार्थ ज्ञान की एक झलक तो दे ही जाती है । जीवन करवट बदलना आरंभ कर देता है । तम का, तम के रूप में आभास होने लगता है । प्रारब्ध रूपी दीवार की ईंटें खिसकना आरंभ हो जाती हैं । यही गुरु-शक्ति की महिमा तथा कृपा है ।"

मैं मन लगाकर महाराजश्री की सारी बातें भी सुनता जा रहा था तथा साथ ही अपनी चित्त-स्थिति का आकलन भी करता जा रहा था । मैंने पूछा—

"जब कभी मन में गिरावट आने लगती है, तो शक्ति के अपने से भिन्नत्व की अनुभूति की स्मृति न जाने कहाँ जाकर छुप जाती है । तब तो मनुष्य गिरावट के साथ एकाकार होकर, स्वयं को भी गर्त में गिरा हुआ पाता है ।"

महाराजश्री बोले, "यही बात तो मैं समझा रहा हूँ । किसी को अपनी योग्यता का अभिमान है, तो किसी को अपनी अयोग्यता का । दोनों का स्वरूप भिन्न है, किन्तु है यह अभिमान ही । अभिमान के इन दोनों भावों में द्रष्टाभाव नहीं है, कर्त्तापन का भाव ही चित्त में प्रभावी है । जितना द्रष्टाभाव लुप्त होता है, उतना ही प्रारब्ध अधिक बल ग्रहण करता है, उतना ही कर्त्ताभाव अधिक पुष्ट होता है, उतना ही जीव सुख-दुःख को अधिक अनुभव करता है ।"

प्रश्न– द्रष्टाभाव को स्थिर रखने का उपाय क्या है ?

उत्तर– यह स्पष्ट है कि मनुष्य के सारे दुःखों का कारण द्रष्टाभाव का अभाव है । इसी अभाव को योग दर्शन में अविद्या कहा गया है । कर्त्ताभाव में अविद्या है तो द्रष्टाभाव में विद्या का बीज । जब तक कर्त्ताभाव है जीव का दुःखों से छुटकारा असंभव है । अब प्रश्न यह है कि द्रष्टाभाव को धारण कैसे किया जाए ? इसके लिए प्रथम तो शक्ति जाग्रति आवश्यक है, क्योंकि उसके पश्चात् ही चित्त में स्वयमेव घटित होने वाली क्रियाओं का आरंभ होता है । यह कर्त्ताभाव पर प्रथम आघात है, तब शक्ति के साथ भिन्नता का अनुभव होता है । समर्पण ही द्रष्टाभाव को स्थिरता प्रदान करता है ।

प्रश्न– समर्पण भाव तथा द्रष्टाभाव का भला परस्पर क्या संबंध है ?

उत्तर– यह बात समझने की है । समर्पण एवं द्रष्टाभाव का घनिष्ठ संबंध है । जब समर्पण भाव अपना कर, कोई साधन में बैठता है, तो जैसी भी क्रिया होती है उसे द्रष्टाभाव से देखता है । उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करता । उसे अपने से भिन्न देखता है, प्रभावित नहीं होता । समर्पण भाव उदय होने पर ही साधन में भक्ति भाव का समावेश होता है । अर्थात् समर्पण ही भक्ति है । जितना समर्पण बढ़ता जाएगा, द्रष्टाभाव भी पुष्ट होता जाएगा । जाग्रति के बिना अन्य किसी भी साधना से द्रष्टाभाव तथा समर्पण उदय नहीं हो सकते ।

प्रश्न– समर्पण भाव क्या साधन समय ही पर्याप्त है । अन्य समयं क्या इसकी कोई आवश्यकता नहीं ?

उत्तर– समर्पण की आवश्यकता तो हर समय है, किन्तु पहले उसका अभ्यास साधन समय से आरंभ किया जाता है । शक्ति की जाग्रति सर्वप्रथम अन्तर में होती है, इसलिए समर्पण भी साधन समय, अन्तर में ही हो पाता है । जैसे-जैसे शक्ति की सर्वव्यापकता एवं क्रियाशीलता अनुभव में आती जायेगी, व्यवहार में भी समर्पण का भाव उतरता जाएगा । बाह्य समर्पण के बिना जीव, अनुभव में आने वाले दुःख-सुख से छुटकारा ही प्राप्त नहीं कर सकता । इस प्रकार अन्तर तथा बाह्य दोनों प्रकार का ही समर्पण आवश्यक है ।

प्रश्न– तो समर्पण में क्या कर्म एकदम गौण हो जाता है ?

उत्तर– समर्पण में कर्म कर्त्तव्य का रूप ले लेता है । कर्म संसारियों के लिए है । साधक केवल कर्त्तव्य करता है । अपने कर्त्तव्य का निर्णय करके, अनुकूलता, प्रतिकूलता का भाव त्याग कर, कर्म ही कर्तव्य है । कर्तव्यपालन का संस्कार-संचय नहीं होता, क्योंकि उसमें लक्ष्य कर्त्तव्य-पालन पर होता है, कर्म के फल पर नहीं होता । यही कर्मयोग का स्वरूप है । यह अवस्था तब तक चलती है जब तक शक्ति की सर्वव्यापकता एवं सर्वक्रियाशीलता का अनुभव नहीं हो जाता । तब इन्द्रियाँ शक्ति से परिचालित अनुभव होती है । जिस प्रकार साधन समय, साधक शरीर तथा चित्त में क्रियाओं को, अपने से पृथक घटित अनुभव करता है, उसी प्रकार इन्द्रियों को भी पृथक कार्य करता हुआ देखता है । उसकी प्रारंभिक अवस्था समाप्त होकर घटावस्था उदय हो जाती है । जैसे मटका पानी से भर जाता है उसी प्रकार शरीर भी शक्ति से भरा हुआ अनुभव होता है ।

यह बातें सुनकर मैं मौन रह गया । इसके आगे बोलने के लिए मेरे पास कुछ न था ।

(६९) महाराजश्री का व्यक्तित्व

महाराजश्री, ज्ञान-विज्ञान का निरन्तर बहने वाला एक ऐसा झरना थे, जिसका जल प्रवाह कभी सूखने में नहीं आता था । जब तक वह नश्वर शरीर में विद्यमान रहे, ज्ञान-गंगा बहती ही रही । सुनने वाला कहाँ तक उसे समझ पाता था तथा कहाँ तक ग्रहण कर पाता था, यह सुनने वाले की चित्त-स्थिति पर आधारित था । उन्होंने कभी किसी प्रश्न को टालने का प्रयत्न नहीं किया । यदि किसी को उस प्रश्न का अनधिकारी भी समझा, तो भी जितना उचित समझा, उसका समाधान कर दिया । महाराजश्री के हृदय की गहराई कितनी थी, उनके साधन का विस्तार कहाँ तक था तथा उनके ज्ञान की सूक्ष्मता कहाँ तक थी, इसको मेरे जैसे तुच्छ-बुद्धि व्यक्ति के लिए समझ पाना अत्यन्त कठिन था । देखने में एक सीधा-सादा, भोला-भाला व्यक्तित्वं, कोई छल नहीं, कोई आडम्बर नहीं । सामान्य व्यक्तियों की तरह सामान्य बातें करने वाला, किन्तु जब ज्ञान तथा साधन की चर्चा आरंभ हो जाती थी तो न जाने

अन्तर में कौनसी खिड़की खुल जाती थी, जिसमें में से एक-एक कर ज्ञान-रत्न निकलते ही चले आते थे ।

मेरी अनुपस्थिति में महाराजश्री ने जो ज्ञान-रत्न लुटाए, उनका मुझे ज्ञान होने का कोई प्रश्न ही नहीं । जिनको मैं अपनी अल्पबुद्धि के कारण समेट नहीं पाया, उन्हें भी आपके समक्ष प्रकाशित नहीं कर पाया । जो ज्ञानरत्न कालक्रम से विस्मृत हो गए, वह भी अछूते ही रह गए । जो कुछ याद रह गया है, यहाँ प्रस्तुत कर दिया है । वास्तव में स्मृति का यह व्यायाम अपने स्वतः के लिए, हृदय-मंथन के निमित्त था, जो कि पुस्तक लेखन को माध्यम बना कर चलता रहा । मेरा पाठकों से भी अनुरोध है कि वे इसे एक पुस्तक मात्र मानकर, आलमारी की शोभा बढ़ाने के लिए न रख देवें । अपितु महाराजश्री के उपदेशों के प्रकाश में अपना हृदय टटोलने का प्रयत्न करें ।

महाराजश्री ने एक दिन कहा था कि स्वामी गंगाधर तीर्थ महाराज ने कलयुगी मानवों पर अपार कृपा करके, शक्तिपात् विद्या को गुप्तावस्था से निकालकर जनसाधारण को सुविधापूर्वक उपलब्ध करवाने की व्यवस्था की । श्री स्वामीजी महाराज की तपस्या एवं त्याग का ही यह फल है कि आज इस विद्या का इतना प्रचार-प्रसार देखने को मिलता है । आज लाखों साधक शक्तिपात् से लाभान्वित हैं । बड़े-बड़े आश्रम बन चुके हैं, साहित्य का भण्डार उपलब्ध है, अनेक-गुरु इस कार्य को सम्पादित कर रहे हैं, किन्तु जितना किसी विद्या का अधिक फैलाव हो जाता है, उतना ही उसका स्तर नीचे गिर जाता है । आज न ही दीक्षा का वह परिणाम देखने को मिलता है तथा न ही वैसे साधक ।

महाराजश्री का उपरोक्त संकेत सभी साधकों के लिए विचारणीय है । महाराजश्री द्वारा यह बात कम से कम पैंतीस वर्ष पूर्व कही गई थी । आज भी उस स्थिति में बदलाव के कोई लक्षण प्रतीत नहीं होते ।

साधकों का अपने प्रति भी कुछ कर्त्तव्य है तथा अपनी-अपनी परम्परा के प्रति भी । इसलिए साधकों, पाठकों से आग्रह है कि अपने उत्तरदायित्व को गम्भीरता से लें । जीवन क्षण-क्षण करते व्यतीत हो रहा है । सोचते-सोचते ही सारा जीवन निकल न जाए । हम जैसे साधारण साधकों के सामने कठिनाइयाँ बहुत हैं । सीधे मार्ग पर चलने वालों को जगत आकर्षित, भयभीत तथा राह भटकाने का पूरा प्रयत्न करता है । सबसे बड़ी बाधा मन के विकार हैं । अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है, किन्तु यदि साधक में समर्पण भाव हो तो गुरु-शक्ति पार लगा देती है ।

* * *

समाप्त

गुरुदेव स्वामी विष्णु तीर्थ महाराज का कल्याणकारी उपदेश मौन हो या प्रकट–वाणी का आधार लिए हो, सीधा हृदय को गहराई तक छू जाता था। शक्तिपात् में उनकी केवल संकल्प शक्ति ही अन्तर को बींध देती थी। मौखिक उपदेश कानों के माध्यम से, मन तक उतर जाता था, क्योंकी वह हृदय से निकला हुआ, अनुभव- सिद्ध तथा शक्ति संपुटित होता था। उसमें विचार- मंथन तथा हृदय–मंथन की पृष्ठ - भूमि तथा जगत्–कल्याण की भावना निहित होती थी। उसमें शास्त्रों तथा संतवाणियों की मिठास भरी थी।

आपके उपदेशों का एक–एक शब्द, आपके विचारगांभीर्य, शास्त्रीय चिन्तन तथा साधन की सूक्ष्मताओं का प्रकटीकरण था। आपकी अपनी मंथन–शक्ति श्रोता भी हृदय–मंथन के पथ पर आरूढ़ कर देती थी। जो साधक, गंभीरतापूर्वक आत्म-मंथन नहीं करता, वह साधन–पथ पर आगे नहीं बढ़ पाता। यह पुस्तक साधक के लिए प्रकाश–स्तंभ के समान है।